MASA-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय दर्शन

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष

प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच

कुलपति

वर्धमान कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समन्वयक/सदस्य

संयोजक:

डॉ. बसंत जैतली

सहआचार्य (सेवानिवृत्त), संस्कृत विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

1. **प्रो. लक्ष्मी शर्मा**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
2. **प्रो. एस.पी. शर्मा**
   प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
   अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)
3. **प्रो. आर.एस. मिश्रा**
   प्रोफेसर, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग
   लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)
4. **डॉ. विश्वनाथ शर्मा**
   व्याख्याता (सेवानिवृत्त)
   राजकीय महाविद्यालय, चिमनपुरा (राज.)
5. **डॉ. सुषमा सिंघवी**
   भूतपूर्व सहआचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
   निदेशक
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र-जयपुर
6. **बीना अग्रवाल**
   सह आचार्य, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
7. **डॉ. सरिता भार्गव**
   व्याख्याता
   राजकीय महाविद्यालय, कोटा
8. **डॉ. रेणु तायल**
   व्याख्याता
   वैदिक कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर

सम्पादन एवं पाठ लेखन (प्रथम संस्करण मई 2009)

सम्पादक

प्रो. सुषमा सिंघवी

निदेशक

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

क्षेत्रीय केन्द्र – जयपुर

लेखक

1. **डॉ. बीना अग्रवाल (इकाई 1, 2, 19)**
   सह-आचार्य, संस्कृत विभाग,
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
2. **डॉ. सुदेश आहूजा (इकाई 3, 4, 5)**
   व्याख्याता,
   राजकीय महाविद्यालय, कोटा
3. **डॉ. साधना कंसल (इकाई 6, 7, 8, 16)**
   संस्कृत विभाग,
   राजकीय महाविद्यालय, कोटा
4. **डॉ. शालिनी सक्सेना (इकाई 9, 10, 11, 15, 17, 18)**
   प्रोफेसर, भाषा विज्ञान,
   राजकीय महाराजा आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर
5. **(प्रो.) डॉ. नरेन्द्र अवस्थी (इकाई 12, 13, 14)**
   अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
6. **डॉ० कपिल गौतम (इकाई 20, 21)** (पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
   सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
7. **डॉ. राकेश शास्त्री (इकाई 22)**
   व्याख्याता,
   श्री गोविन्द गुरु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा
8. **डॉ. शिवलोचन शाण्डिल्य, (इकाई 23)** (पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
   सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय,
   काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाठयक्रम संशोधन समिति

अध्यक्ष :

प्रो. एल.आर. गुर्जर

निदेशक (अकादमिक)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक :

डॉ० कपिल गौतम

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य :

1. **प्रो० राम नाथ झा,**
   आचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र,
   जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **प्रो० ओम नाथ बिमली,**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3. **प्रो० रामसिंह चौहान,**
   विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **प्रो० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य**
   विभागाध्यक्ष, वेद विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर
5. **डॉ० महेश शर्मा,**
   सहायक आचार्य, दर्शन विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर

संशोधन एवं सम्पादन (संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, जुलाई 2018)

डॉ० कपिल गौतम

सहायक आचार्य, संस्कृत, विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) अशोक शर्मा	**प्रो. एल.आर. गुर्जर**	**डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी**
कुलपति	निदेशक (शैक्षणिक)	निदेशक
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	**संकाय विभाग**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी

निदेशक,

पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

उत्पादन: जुलाई 2018 ISBN No. : 13/978-81-8496-066-2

सर्वाधिकार सुरक्षित: इस सामग्री के किसी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियाग्राफी' (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व०म०खु०वि० कोटा के लिए कुलसचिव वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

MASA-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

इकाइ सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	सांख्यदर्शन का सामान्य परिचय : प्रमुख ग्रन्थ एवं आचार्य	1–13
इकाई–2	सत्कार्यवाद (सांख्यकारिका)	14–23
इकाई–3	पुरुष एवं प्रकृति : स्वरूप सिद्धि (सांख्यकारिका)	24–37
इकाई–4	बन्धन एवं मोक्ष (सांख्यकारिका)	38–51
इकाई–5	प्रत्ययसर्ग (सांख्यकारिका)	52–65
इकाई–6	वेदान्त – सामान्य परिचय एवं प्रमुख ग्रन्थ	66–80
इकाई–7	अनुबन्ध चतुष्टय (वेदान्तसार)	81–92
इकाई–8	अज्ञान, अध्यारोप, अपवाद (वेदान्तसार)	93–111
इकाई–9	सृष्टि प्रक्रिया एवं पंचीकरण (वेदान्तसार)	112–126
इकाई–10	महावाक्य (वेदान्तसार)	127–145
इकाई–11	जीवन्मुक्त (वेदान्तसार)	146–154
इकाई–12	न्याय–वैशेषिक का सामान्य परिचय	155–165
इकाई–13	त्रिविध कारण (तर्कभाषा)	166–173
इकाई–14	प्रमाणचतुष्टय (तर्कभाषा)	174–185
इकाई–15	हेत्वाभास (तर्कभाषा)	186–196
इकाई–16	प्रामाण्यवाद (तर्कभाषा)	197–213
इकाई–17	नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय (सर्वदर्शनसंग्रह)	214–229
इकाई–18	चार्वाक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त (सर्वदर्शनसंग्रह)	230–239
इकाई–19	काश्मीर शैवदर्शन : सामान्य परिचय, प्रमुख विचारक एवं ग्रन्थ	240–250
इकाई–20	अर्थसंग्रह (धर्म, भावना, विधि, निषेध, अर्थवाद)	251–260
इकाई–21	भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद	261–274
इकाई–22	जीवन्मुक्त का स्वरूप एवं आचरण (परमार्थसार)	275–283
इकाई–23	भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद	284–295

इकाई–1

सांख्यदर्शन का सामान्य परिचय : प्रमुख ग्रन्थ एवं आचार्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 दर्शन सामान्य अर्थ

- 1.2.1 दार्शनिक विचारों का उद्‌भव
- 1.2.2 वैदिक दार्शनिक सूक्त
- 1.2.3 उपनिषदों में दर्शन

1.3 भारतीय दर्शन का परिचय

- 1.3.1 आस्तिक दर्शन
- 1.3.2 नास्तिक दर्शन
- 1.3.3 आधारभ्त् ग्रन्थ

1.4 सांख्य दर्शन–परिचय

- 1.4.1 सांख्य शब्द–अर्थ
- 1.4.2 निर्वचन
- 1.4.3 आधारभ्त् ग्रन्थ

1.5 सांख्य दर्शन के प्रवर्तक

- 1.5.1 महर्षि कपिल
- 1.5.2 सांख्य सूत्र

1.6 सांख्य दर्शन के अन्य प्रमुख आचार्य

- 1.6.1 आसुरि
- 1.6.2 पंचशिख
- 1.6.3 विन्ध्यवास
- 1.6.4 वार्षगण्य
- 1.6.5 जैगीषव्य

1.7 ईश्वरकृष्ण

- 1.7.1 काल निर्णय
- 1.7.2 रचनाएँ

1.8 सांख्यकारिका

- 1.8.1 आधारभ्त् ग्रन्थ
- 1.8.2 वर्णनीय विषय

1.9. सांख्यकारिका की टीकाएँ

- 1.9.1 गौडपाद–भाष्य
- 1.9.2 तत्त्व–कौमुदी
- 1.9.3 अन्य टीकाएँ

1.10 पारिभाषिक शब्दावली

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.12 सारांश

1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.0 उद्देश्य

संस्कृत के प्रश्नपत्र की इस प्रथम इकाई में दर्शन का सामान्य परिचय, सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ तथा सांख्यकारिका का परिचय प्रस्तुत किया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- दर्शन क्या है यह समझ सकेंगे।
- भारतीय दर्शन का स्वरूप समझ सकेंगे।
- सांख्य दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ एवं आचार्यों के बारे में जान सकेंगे।
- सांख्यकारिका के रचयिता और ग्रन्थ के सामान्य स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

संस्कृत के प्रश्नपत्र ।।। के अंतर्गत आप दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से दार्शनिक सिद्धांतों का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। इसके अंतर्गत मानव जीवन में दार्शनिक विचारों का उद्भव कब और कैसे हुआ? उनका विकास किन परिस्थितियों में हुआ? दर्शन के विविध सिद्धांत कसे स्थापित हुए? अलग–अलग सिद्धांतों के आधार पर अनेक दर्शन कैसे बने? गुरु शिष्य परम्परा और ग्रन्थ के आधार पर विभिन्न सम्प्रदाय किस प्रकार विकसित हुए? दर्शन सम्बन्धी इन प्रश्नों के उत्तर जानने के पश्चात् सांख्य दर्शन के ग्रन्थों व आचार्यों का परिचय दिया जाएगा। इसके साथ ही सांख्य दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ सांख्यकारिका का सामान्य परिचय इस इकाई के आध्ययन से आपको प्राप्त हो सकेगा।

1.2 दर्शन– सामान्य अर्थ

दर्शन शब्द दृश् धातु से भाव और करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है देखने का भाव अथवा साधन। यहाँ पर देखने के साधन तो इन्द्रियाँ हैं ही, किन्तु उन इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर उनके पीछे छिपे सत्य अथवा मूल कारण की खोज करना ही दर्शन का प्रयोजन है। इस प्रकार दर्शन का सामान्य अर्थ इन्द्रियों के माध्यम से संसार के भोतिक स्वरूप को जानकर उनके भोतर स्थित वास्तविकता, सत्यता, एकसूत्रता, अथवा मौलिकता का ज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान घटनाओं के तार्किक परीक्षण, सूक्ष्म निरीक्षण और अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन सत्य के अन्वेषण की जिज्ञासा से प्रारंभ होता है और इसका अन्तिम लक्ष्य आत्मा का अपरोक्ष का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करना है।

1.2.1 दार्शनिक विचारों का उद्भव

दार्शनिक विचारों का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है। मानव की स्वयं के अस्तित्व, परिवेश, क्रिया–कलाप, स्वरूप आदि से संबंधित जिज्ञासाएँ और उनके उत्तर प्राप्त करने के लिए किए गए विमर्श ही दार्शनिक सिद्धांतों को जन्म देते हैं। वैदिक काल का ऋषि प्रकृति के व्यापारों में एकसूत्रता देखता है, वह यह देखता है कि दिन के बाद रात आती है, फिर सूर्य उदित होता है, समय पर वर्षा होती है, पृथ्वी में अन्न उत्पन्न होता है, नदियाँ बहती है, तब वह इन प्राकृतिक व्यापारों के पीछे किसी शक्ति के होने का अनुमान करता है। उसे डर लगता है कि वह शक्ति नाराज होकर अपना व्यापार न रोक दे। वह इनमें सविता, अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, मरुत्, उषस् रात्रि, वरूण, इन्द्र, रुद्र आदि देवताओं का आरोप करता है तथा इनकी प्रशंसा में सूक्त कहता है।

अपने सरल स्वभाव और कवित्व शक्ति से वैदिक ऋषियों ने इन प्राकृतिक शक्तियों के प्रति जो भावप्रवण उद्गार प्रस्तुत किए हैं वे दार्शनिक सिद्धांतों के उद्गम की पृष्ठभ्मि तो हैं ही, साथ ही विश्व की प्राचीनतम सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित 'वेद' है।

1.2.2 वैदिक दार्शनिक सूक्त

प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोप और उन्हें प्रसन्न करने के लिए स्तुति गान के साथ ही वैदिक ऋषि ने अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा करना प्रारम्भ कर दिया था। मैं कौन हूं, कहाँ से आया हूं, इस सृष्टि से पूर्व क्या था? ये प्रश्न उसके मन में उठने लगे थे। सृष्टि

सम्बन्धी प्रश्नों का प्रारंभ हम नासदीय सूक्त (दशम–129) में देख सकते हैं।

नासदासीत् नो सदासत् तदानीम् नासीद्रजो नो व्योम परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद् गहनं गभीरम्।।

सृष्टि से पहले न असत् था न सत् था न कोई लोक था न आकाश था, किसने किसको आवृत्त कर रखा था, क्या सर्वत्र व्याप्त अपार जल था? यह जिज्ञासा और इसके समाधान के लिए सर्वप्रथम 'काम' जो मन की अभिलाषा ''एकोऽहं बहुस्याम' के रूप में परम तत्त्व के भोतर विद्यमान थी। फिर वह परम तत्त्व भो किस प्रकार का था उसके सम्बन्ध में कहा कि वह हिरण्यगभ (सोने को गभ में रखने वाला गोला/पृथ्वी) था–

''हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत
स दाधार पृथिवीं द्यामुत इमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम।''

पृथ्वी, अन्तरिक्ष को धारण करने वाला एवं समस्त प्राणियों का स्वामी वह हिरण्यगभ सृष्टि के प्रारंभ में था। उसके अतिरिक्त और किस देवता का हम हवि प्रदान कर पूजन करें? (दशम–121)

इसी प्रकार चेतन तत्त्व पुरुष जो सम्पूर्ण संसार में व्याप्त और इससे परे भो है, जो अमरता का स्वामी है और अन्न से वृद्धि को प्राप्त करता है (पुरुष सूक्त दशम–90)। इसी प्रकार के सूक्तों में हमें वैदिक ऋषि की दार्शनिक जिज्ञासा और उसे शान्त करने के प्रयास दिखाई देते हैं।

1.2.3 उपनिषदों में दर्शन

वैदिक ऋषि के द्वारा प्राकृतिक देवताओं की सन्तुष्टि के लिए की जाने वाली क्रियाओं का विकास यागादि के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ। इसी प्रकार उनके दार्शनिक विमर्श का विवेचन और विकास उपनिषद् ग्रन्थों में मिलता है। सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त एक चेतन तत्त्व को पुरुष सूक्त में वैदिक ऋषि ने स्वीकार कर लिया था। वैदिक काल में वस्तुनिष्ठ ज्ञान के माध्यम से सत्य की खोज का प्रयास हुआ और उपनिषदों में आत्मनिष्ठ ज्ञान के द्वारा सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न मिलता है। भोतिक दृष्टि को निमीलित करने पर ही अपने भोतर छिपे हुए सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है–

''कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्'' (कठोपनिषद् 4.1)

बाह्य भोतिक पदार्थों की नश्वरता से भिन्न आन्तरिक शाश्वत तत्त्व की खोज में उपनिषत् का ऋषि यह पाता है कि कोई आध्यात्मिक नित्य सत्ता अवश्य है, जो देश काल से परे है और सभो को व्याप्त किए हुए है। इसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होकर इसमें ही लीन हो जाते हैं–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

यह परम तत्त्व ब्रह्म ही परमात्मा है एवं लौकिक प्राणियों में इसी का अंश अथवा प्रतिबिम्ब आत्मा के रूप में विद्यमान है।

1.3 भारतीय दर्शन का परिचय

उपनिषदों में आत्मा–परमात्मा, जीवन और जगत् से सम्बन्धित जो विचार उपलब्ध होते हैं कालान्तर में व्यवस्थित दार्शनिक सिद्धांत के रूप में उनका विकास हुआ और उनसे ही भारतीय दर्शन सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। आस्तिक दर्शन जो वेद और उपनिषदों का

प्रमाण अपने सिद्धांतों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करते हैं, प्रायः समान वाक्यों का परस्पर भिन्न सिद्धांतों की पुष्टि के लिए प्रयोग करते हैं।

''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजातेः और **अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः'** आदि ऐसे उपनिषद्वाक्य हैं जिनसे प्रायः सभो दर्शन अपने विशिष्ट सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में उपलब्ध दार्शनिक बीजों से भविष्य में विविध दर्शन सम्प्रदायों का विकास हुआ।

1.3.1 आस्तिक दर्शन

वेदों और उपनिषदों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, पूर्व मीमांसा और वेदान्त ये षड् भारतीय दर्शन प्रमुख आस्तिक दर्शन है। इन्हें युग्म रूप से प्रस्तुत करने का कारण ये समानतन्त्र दर्शन हैं। अर्थात् ये प्रतितन्त्र दर्शन की भांति एक दूसरे के सिद्धांतों का विरोध नहीं करते। आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे के सिद्धांतों को उसी रूप में स्वीकार भो कर लेते हैं। उदाहरण के लिए सिद्धांतों के व्यवस्थित विवेचन के लिए जो तत्त्व मीमांसा, प्रमाण मीमांसा और नीति मीमांसा आवश्यक है; इनमें से न्याय दर्शन प्रमाण मीमांसा और मोक्ष विवेचन तो प्रस्तुत करता है किन्तु वैशेषिक दर्शन की तत्त्व मीमांसा को स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन योग द्वारा प्रस्तुत नीति मीमांसा को स्वीकार कर लेता है।

1.3.2 नास्तिक दर्शन

ये वे दर्शन हैं जो वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। चार्वाक, जैन और बौद्ध ये नास्तिक दर्शन माने गए हैं। इन में से चार्वाक तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मानता। दृश्य पदार्थों के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता। जबकि जैन एवं बौद्ध दर्शन यद्यपि वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते, किन्तु अपने अपने आचार्य महावीर एवं गौतम बुद्ध के वचनों को प्रमाण मानते हैं और उनके उपदेशों के अनुसार आचरण करना व उनके सिद्धांतों का व्यापक प्रचार प्रसार करना, परम कतव्य समझते हैं। इसीलिए इन दर्शनों का व्यवस्थित रूप में अनेक शाखा प्रशाखाओं में विकास भो देखने को मिलता है; जबकि चार्वाक दर्शन के पास अपने कोई सिद्धांत नहीं होने और केवल परमत खण्डन ही उद्देश्य होने से, वह केवल भोतिकवाद के रूप में रह गया।

1.3.3 आधारभूत ग्रन्थ

उपनिषदों में उपलब्ध दार्शनिक विचारों को परवर्ती महर्षियों ने व्यवस्थाबद्ध दार्शनिक प्रणाली क रूप में प्रस्तुत किया। स्मरण के लिए सुकर व अधिक कथ्य को सार रूप में एक साथ प्रस्तुत करने के कारण सूत्र–ग्रन्थ पहले लिखे गए– **'अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधजनकत्वम् सूत्रत्वम्'।** कम शब्दों में अधिक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करवाना ही सूत्र का स्वरूप है। गुरु–शिष्य परम्परा से सूत्रों का अर्थ पूर्ण तथा स्पष्ट न हो पाने तथा दर्शनों की परस्पर खण्डन–मण्डन की प्रवृत्ति के कारण सूत्रों की व्याख्या के लिए भाष्य अथवा टीका ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। इन भाष्य व टीकाओं पर पुनः टीकाएँ उपटीकाएँ रची गई, जिससे प्रत्येक दर्शन का साहित्य और समृद्ध होता चला गया। आग चल कर स्थिति यह हुई कि सामान्य बुद्धि वाले विद्यार्थी को दर्शन के मूलभ्त सिद्धांतों का ज्ञान कराने की दृष्टि से प्रकरण ग्रन्थों की रचना की गई। इन ग्रन्थों में दर्शन के मौलिक सिद्धांतों की सामान्य भाषा में जानकारी दी गई थी।

षड्भारतीय दर्शनों के प्रतिपादक आचार्य व सूत्रग्रन्थ –

दशन	आचार्य	ग्रन्थ	प्रमुख भाष्य	प्रकरण ग्रन्थ
	न्याय	गौतम	न्यायसूत्र	वात्स्यायन
	तर्कभाषा			
	वैशेषिक	कणाद	वैशेषिक सूत्र	प्रशस्तपाद भाष्य
	तर्कसंग्रह			

सांख्य	कपिल	सांख्य सूत्र	सांख्य प्रवचन भाष्य	सांख्यकारिका
योग	पतञ्जलि	योगसूत्र	व्यास भाष्य	–
मीमांसा	जैमिनी	मीमांसा सूत्र	शाबर भाष्य	अर्थसंग्रह
वेदान्त	बादरायण	ब्रह्म सूत्र	शांकर भाष्य	वेदान्तसार

1.4 सांख्य दर्शन परिचय

सांख्य दर्शन का प्रारम्भ उपनिषद् से माना जाता है। उपनिषदों में उपलब्ध उद्धरण– **''अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वी प्रजाः सृजमाना सरूपा''** को सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आधार माना जाता है। वह प्रकृति एक और अनादि होते हुए अपने समान अनेक रूप संसार की सृष्टि करती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष को द्रष्टा बताया है और उसकी क्रियाशून्यता के कारण उसे असंग भो कहा है। इसी प्रकार **''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्''** उद्धरण सत्कार्यवाद की पुष्टि करता है। उपनिषदों एवं परवर्ती महाकाव्य आदि ग्रन्थों में वर्णित इन सिद्धांतों को व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि कपिल को दिया जाता है।

1.4.1 सांख्य शब्द–अर्थ

सांख्य शब्द कुछ विचारकों के अनुसार संख्या से निष्पन्न है; क्योंकि इस दर्शन में पच्चीस तत्त्वों की व्याख्या की गई है।

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः।। (सांख्यप्रवचन भाष्य)

संख्या पद से सांख्य का निर्वचन वैसा ही है जैसे कि 'महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते' जब कि महाभारत नाम वस्तुतः भरतवंशी राजाओं की कथा होने के कारण है। अतः सांख्य का निर्वचन किया जा रहा है।

1.4.2 निर्वचन

सम् उपसर्गपूर्वक चक्षिङ् ख्याने धातु से निष्पन्न इस पद का अर्थ है सम्यक् ख्यानम् या सम्यक् विचार। अमरकोश के अनुसार भो 'संख्या' पद विचारणा के अर्थ में प्रयुक्त होता है– 'चर्चा संख्या विचारणा'। इस दर्शन के लिए पंचशिखाचार्य का कहना है– ''एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेवदर्शनम्''। इस दर्शन के अनुसार 'ख्याति' (परम ज्ञान), 'प्रकृति पुरुष विवेक' अथवा 'सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति' है। तात्पर्य यह है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति, जिसका परिणाम यह सम्पूर्ण संसार है, से चेतन पुरुष सर्वथा भिन्न है, यह ज्ञान हो जाना ही प्रकृति पुरुष विवेक या विवेक ख्याति है। यही इस दर्शन का परम लक्ष्य है, जिससे पुरुष को कैवल्य प्राप्त होता है।

1.4.3 आधारभूत ग्रन्थ

सांख्य दर्शन के प्रमुख आधारभ्त ग्रन्थ हैंः–

महर्षि कपिल रचित सांख्य सूत्र, षष्ठि तंत्र, ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका एवं विज्ञानभिक्षु के सांख्य प्रवचन भाष्य में सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों का विवेचन मिलता है। इसलिए इन्हें आधारभ्त ग्रन्थ कहा गया है।

1.5 सांख्य दर्शन के प्रवर्तक

उपनिषदों एवं परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध दार्शनिक विचारों को व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में जिन आचार्यों ने प्रस्तुत किया, वे आचार्य सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

1.5.1 महर्षि कपिल

सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिल आदि विद्वान कहे गए हैं। इनके काल के विषय में विद्वानों में मतभद हैं। अन्य ग्रन्थों में महर्षि कपिल अथवा सांख्य दर्शन के संदभ में जो उल्लेख मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. श्वेताश्वतर उपनिषद (5.2) में कपिल ऋषि के नाम का उल्लेख है। इसी उपनिषद् (1.10.4.10) में सांख्य के अनेक सिद्धांतों का भो उल्लेख मिलता है।
2. अन्य छान्दोग्य, कठ, प्रश्न आदि उपनिषदों में भो सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का उल्लेख उसी शब्दावली में मिलता है, जिन शब्दों के माध्यम से सांख्य दर्शन में उनका वर्णन है।
3. पांच–रात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता में भो कपिल नामक साधक का उल्लेख मिलताहै। इसमें लिखा है कि त्रेता युग के आरम्भ में जब सम्पूर्ण संसार मोहग्रस्त हो गया तो उसे सुव्यवस्थित करने की चिन्ता जिन लोगों को हुई उनमें से ऋषि कपिल एक हैं।
4. विष्णुपुराण के अनुसार भो समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए सत्ययुग में कपिलादि ऋषियों ने परमज्ञान प्रदान किया–

   'कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वयंधृक्।
   ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः।।

   महाभारत में कई स्थानों पर महर्षि कपिल का उल्लेख मिलता है। राजा सगर के द्वारा किए जाने वाले अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में महर्षि कपिल का उल्लेख प्रसिद्ध है। अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा ऋषि कपिल के आश्रम में बंधा हुआ देखकर, उसकी रक्षा के लिए नियुक्त, राजा सगर के साठ हजार पुत्रों की उद्दण्डता से क्रोधित होकर ऋषि ने उन्हें तत्काल भस्म कर दिया था जिनके उद्धार के लिए कालान्तर में भगीरथ द्वारा भमि पर गंगा को अवतरित किया गया था (महाभारत वन पर्व, 106–7 अध्याय)। ये सांख्याचार्य कपिल थे या नहीं इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है।

   कपिल के विषय में मिलने वाले परस्पर विरोधी कथनों का परिहार करते हुए डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र ने कहा है कि सांख्य के उपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगभ के पुत्र, दूसरे में अग्नि के अवतार तथा किसी अन्य कल्प में कदम ऋषि और देवहूति के पुत्र रहे हो सकते हैं। संक्षेप में महाभारत, भागवत, गरूड पुराण मत्स्य पुराण, स्कन्द पुराण, विष्णुपुराण आदि के साक्ष्य के आधार पर सांख्य दर्शन के उपदेष्टा कपिल एक ऐतिहासिक विभ्ति माने जाते हैं।

1.5.2 सांख्य सूत्र

कुछ विद्वान सांख्य दर्शन के प्राचीन ग्रन्थ 'तत्त्वसमास सूत्र' को कपिलकृत एवं कुछ विद्वान् 'सांख्य प्रवचन सूत्र' को महर्षि कपिल द्वारा रचित मानते हैं।

भारतीय परम्परा सांख्यप्रवचनसूत्रों का निर्माता ऋषि कपिल को ही स्वीकार करती है जिसकी पुष्टि रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों से हो जाती है। यही नहीं जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में भो कपिल को ही सांख्य दर्शन का प्रणेता माना गया है। जैन ग्रन्थ (कल्पसूत्र, प्रथम प्रकरण) में एक प्रसंग में 'सट्ठितन्तविसारए' (षष्टितन्त्रविशारदः) विशेषण नाम दिया गया है। इसकी व्याख्या में यशोविजय ने कहा है'–''षष्टितन्त्रं कापिल–शास्त्रम्, तत्र विशारदः पण्डितः।'' अनुयोग द्वारसूत्र में ग्रन्थों की सूची बनाते समय भो 'काविलं सट्ठियन्तम्' का उल्लेख है यह ग्रन्थ कपिलकृत षष्टि तन्त्र ही है। पांचरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्यसंहिता के बारहवें अध्याय में कपिल द्वारा सांख्य शास्त्र को प्रकाशित करने का उल्लेख है। इस कापिल सांख्य में साठ पदार्थों का उपदेश होने के कारण इसे 'षष्टितन्त्र' कहा गया। शंकराचार्य एवं भास्कराचार्य (ब्रह्मसूत्र 2.1.1 पर भाष्य) तथा ईश्वरकृष्ण (सांख्यकारिका 72) ने कपिल के षष्टितन्त्र ग्रन्थ को सांख्य का प्रारंभिक ग्रन्थ माना है।

सांख्यप्रवचन सूत्र जिसे कपिल मुनि द्वारा रचित माना जाता है, में छः अध्याय हैं। इनमें से पहले तीन अध्यायों में सांख्य सिद्धांतों की व्याख्या है, चौथे में दृष्टान्तरूप में कहानियाँ हैं। पांचवे अध्याय में प्रतिपक्षियों के विचारों का खण्डन है और छठा अध्याय उपसंहार रूप में है। इस ग्रन्थ पर विज्ञानभिक्षु ने 16 वीं शती में सांख्यप्रवचन भाष्य लिखा है।

1.6 सांख्य दर्शन के अन्य प्रमुख आचार्य

सांख्य दर्शन के विकास में महर्षि कपिल के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों का भो योगदान रहा है। यद्यपि इन आचार्यों के ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होते किन्तु तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में उनके उद्धरणों से हमें इन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दार्शनिक सिद्धांतों की जानकारी मिलती है। इस आधार पर सांख्य दर्शन के विकास के इतिहास में इनकी भ्मिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

1.6.1 आसुरि

महर्षि कपिल के प्रथम शिष्य आसुरि हैं। जिनका उल्लेख पंचशिखाचार्य ने अपने एक सूत्र में किया था; जिसके अनुसार महर्षि कपिल ने जिज्ञासु आसुरि को सांख्य सिद्धांतों का उपदेश दिया था। सांख्यकारिका की जयमंगला टीका व माठरवृत्ति से भो यही निश्चित होता है।

तत्र पंचशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः।
आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।

उपर्युक्त कारिका के आधार पर आसुरि पंचशिख आचार्य के गुरु व कपिल के शिष्य माने जाते है। महाभारत क शान्ति पर्व (218, 6–10) में कपिल और आसुरि के संवाद का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में बारह स्थलों पर आसुरि का उल्लेख है, जिनमें से नौ स्थलों पर उनके विचारों का व तीन में उनकी वंशावली का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में आसुरि के उल्लेख के कारण कुछ भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि ये दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। जबकि पंडित उदयवीर शास्त्री का मानना है कि वे दीर्घजीवी थे इसलिए शतपथ ब्राह्मण के आचार्य आसुरि और सांख्याचार्य आसुरि को एक ही व्यक्ति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आचार्य आसुरि की कोई कृति अभो तक उपलब्ध नहीं हुई है किन्तु हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन समुच्चय की टीका तर्करहस्यदीपिका में उनका यह श्लोक उद्धृत है –

तथा चासुरिः

विविक्ते दृक्परिणते बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि।।

यह श्लोक स्याद्वादमञ्जरी, वादमहार्णव आदि अन्य ग्रन्थों में भो उपलब्ध है। इसके आधार पर आसुरि सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि के शिष्य व पंचशिखाचार्य के गुरु के रूप में प्रसिद्ध है।

1.6.2. पंचशिख

पंचशिखाचार्य आसुरि के शिष्य थे। योगसूत्र के भाष्य– 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' (1. 4); सांख्य सूत्र के भाष्य– (सांख्यसूत्रों में) आधेयशक्तियोगः पंचशिखः' (5.32), 'अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः (6.68); भामती– 'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः'; सांख्यकारिका की विभिन्न टीकाओं गौडपादभाष्य– (कारि. 1) माठरवृत्ति (कारि. 22) में तत्त्वकौमुदी आदि में पंचशिखाचार्य के उद्धरण मिलते हैं। प्रायः सभो उद्धरण गद्यमय होने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि इन्होंने कोई गद्य अथवा सूत्रग्रन्थ लिखा होगा, जो अब उपलब्ध नहीं है। यह उद्धरण है–

'पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।'

महाभारत के शान्तिपर्व में किये हुए उल्लेख से ज्ञात हो रहा है कि पंचशिखाचार्य आसुरि के प्रधान शिष्यों में से थे। योगसूत्र के भाष्य, सांख्यसूत्र तथा उसके भाष्य, भामती, सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य माठरवृत्ति, सांख्यतत्त्वकौमुदी की बालरामोदासीन की टिप्पणी आदि के आधार पर पंचशिखाचार्य को आसुरि का शिष्य माना जाता है। पंचशिखाचार्य पराशर गोत्र के थे। इनके सम्बन्ध में उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कोई इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है।

1.6.3 विन्ध्यवास

विद्वानों ने विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक बताया है, किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है यह म0 म0 डॉ.गोपीनाथ कविराज का मानना हैं। भोज की राजमार्तण्ड वृत्ति में विन्ध्यवास का एक वाक्य दृष्टिगोचर होता है– अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्– सत्त्वतप्यत्वमेव– 'पुरुषतप्यत्वम्', यो0सू0 4/22। मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि ने भो विन्ध्यवास के मत का उल्लेख किया है। ''सांख्या हि केचिन्नान्तरमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभतयः–''1/55। षड्दर्शनसमुच्चय में भो विन्ध्यवास का वाक्य उपलब्ध होता है– पुरुषोऽविकृतात्मेव स्वतिर्भासमचेतनम्। मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिको यथा। षड्0स0 पृ0 36।

1.6.4 वार्षगण्य

वार्षगण्य का परिचय विभिन्न टीकाओं में प्राप्त उद्धरणों से मिलता है। व्यासभाष्य में वार्षगण्य के नाम पर दो वाक्य उपलब्ध होते हैं। ''मूर्तिव्यवधिजातिभदाऽभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः'' यो0सूत्र 3/53। ''गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथम्प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।।' यो0 सू0 4/13। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इनमें से दूसरा वाक्य षष्टितन्त्र से लिया गया है; जबकि श्री बलराम उदासीन कहते हैं कि यह वाक्य वार्षगण्याचार्य प्रणीत षष्टिपदार्थप्रतिपादक सांख्यशास्त्र का है। श्रीवाचस्पतिमिश्र ने इस श्लोक को प्रतीकपूर्वक उद्धृत किया है– ''अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान वार्षगण्यः'' ब्र0सू0 2/1/3। तत्त्वकौमुदी में भो वार्षगण्य के नाम से श्रीवाचस्पतिमिश्र ने एक वाक्य दिया है। ''पंचपर्वा अविद्या इत्याह स्म भगवान् वार्षगण्यः'' का0 47।

1.6.5 जैगीषव्य

कीथ के अनुसार जैगीषव्य पंचशिख के सतीर्थ्य हैं। योगशास्त्र में इस जैगीषव्य का उपन्यास प्रमाण के रूप में उपलब्ध होता है– ''चित्तैकाग्रयादप्रतिपत्तिरेवेति'' जैगीषव्यः'' व्या0भा0यो0सू 2/55। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में जैगीषव्य को परमऋर्षि लिखा है। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में वाचस्पति ने भो जैगीषव्य को योगशास्त्र का कर्ता कहा है। ''धारणाशास्त्रं ''जैगीषव्यादिप्रोक्तम्'' न्या0 सू0 3/2/42।

1.7 ईश्वरकृष्ण

सांख्यकारिका के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। जिन्होंने सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों का निरूपण सांख्यकारिका में व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है।

1.7.1 काल निर्णय

ईश्वरकृष्ण के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभद हैं। प्रसिद्ध जापानी विद्वान मि0 तकाकुसु ने ईश्वरकृष्ण का समय 450 ई0 माना है। उनके अनुसार सन् 546 से 469 के बीच अनेक आर्यग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने वाले परमार्थ नाम के किसी विद्वान ने बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का जीवन चरित्र लिखा था। वसुबन्धु का समय 420 से 450 के मध्य में होना चाहिए। परमार्थ ने यह भो लिखा था कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को विन्ध्यवास नाम के किसी सांख्य दार्शनिक ने शास्त्रार्थ में हरा दिया था। यह भो कहा गया है कि उसने हिरण्यसप्तति नामक ग्रन्थ की रचना की थी। चीनी भाषा में अनूदित सांख्य सप्तति की उपान्त्यकारिका में 'शिष्यपरम्परयागतम्' का विवरण इस प्रकार किया गया है कि 'सांख्य सप्तति' के रचयिता ईश्वरकृष्ण है। इस प्रकार डॉ.तकाकुसु ने ईश्वरकृष्ण का समय

450 ई0 निश्चित किया है। इस संदभ में डॉ.श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर का कथन है कि ईश्वरकृष्ण का काल निर्धारण वसुबन्धु के प्रतिद्वन्द्वी विन्ध्यवास और ईश्वर की एकता पर निभर करता है जबकि भारतीय परम्परा में उनकी एकता को स्थापित करने वाले प्रमाण नहीं मिलते। माठर वृत्ति के अनुसार ईश्वरकृष्ण के गुरु वृष या वृषगण नहीं। पं. उदयवीर शास्त्री भो इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि विभिन्न ग्रन्थों में विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण के भिन्न भिन्न मत उपलब्ध होते हैं और इन्हें एक मानने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए इन्हें एक कहना कदापि उचित नहीं है। अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य माठरवृत्ति के आधार पर भारतीय विद्वान् ईश्वरकृष्ण का काल ईसा की पहली शताब्दी के पूर्व मानते हैं।

1.7.2 रचनाएँ

ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका के अन्य नाम 'सांख्यसप्तति' 'कनक– सप्तति' आदि भो प्रचलित हैं। इन नामों के आधार पर यह निश्चित होता है कि इस ग्रन्थ में सत्तर कारिकाएँ हैं। इस ग्रन्थ के अन्त मे सांख्य दर्शन की आचार्य परम्परा को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है–

"पुरुषार्थमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्।।" (सां0का0 69)

अर्थात् सांख्यदर्शन का यह दुर्बोध ज्ञान महर्षि कपिल के द्वारा दिया गया है, यह पुरुष के भाग व अपवर्ग को सिद्धि करता है और इसके अंतर्गत भ्त (पंचमहाभ्तों एवं प्राणियों) की उत्पत्ति, स्थिति और लय का चिन्तन किया गया है।

एतत् पवित्रमग्न्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपिपंचशिखाय, तेन च बहुधा कृततन्त्रम्।। (सां0का0 70)

अर्थात् सांख्यशास्त्र का यह पवित्र ज्ञान मुनि कपिल ने कृपापूर्वक आसुरि को दिया और आसुरि ने पंचशिख को यह ज्ञान दिया। पंचशिख ने फिर सांख्यज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाया।

1.8 सांख्यकारिका

सांख्यदर्शन के सिद्धांतों को सरल और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ सांख्यकारिका है। इसके 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' नाम इसकी 70 कारिकाओं की सूचना देते हैं। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं अपने ग्रन्थ में कहा है कि अति विस्तृत सांख्यशास्त्र को सरलता से प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने इस संक्षिप्त ग्रन्थ का निर्माण किया है।

1.8.1 आधारभूत ग्रन्थ

शिष्य परम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम्।। (सां0का0 71)

गुरु–शिष्य परम्परा से प्राप्त सांख्य ज्ञान को ईश्वरकृष्ण ने भलीभांति समझ कर आर्याछन्द के माध्यम से संक्षिप्त और व्यवस्थित कर दिया। पंचशिख आचार्य द्वारा बहुधाकृत तन्त्र अथवा षष्टि तन्त्र को ईश्वरकृष्ण ने संक्षिप्त क्यों किया? इस संदभ में युक्तिदीपिकाकार का मानना है कि वर्तमान युग में मनुष्य की आयु के औसत को देख कर एवं सामान्य बुद्धिद्वजन भो कम प्रयत्न से सांख्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे। इस दृष्टि से ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इसे व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। माठरवृत्ति के अनुसार संक्षेप में ग्रंथित होने पर भो सांख्यकारिका सांख्य दर्शन को उसी प्रकार प्रस्तुत कर देती है जैसे बड़े पदार्थ की छवि छोटे दर्पण के माध्यम से भो ज्ञात हो जाती है–

तस्मात् समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसंक्रान्तमिव बिम्बम्।।

1.8.2 वर्णनीय विषय

सांख्यकारिका मे सरल भाषा में सांख्य सिद्धांतों का उपदेश दिया गया है। सर्वप्रथम जीवन में त्रिविध दुःखों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रकृतिपुरुष विवेक के माध्यम से उन दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त हो सकती है यह स्थापना की गई है। सांख्यदर्शन पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है। सम्पूर्ण संसार इन्हीं से विकसित है। इनमें भो मूल कारण के रूप में जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष माने गए हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ होते हुए भो क्रियाशील है और चेतन पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि करती है। प्रकृति और पुरुष का स्वरूप, इनके विषय में प्रमाण, इनके संयोग से सृष्टि, स्थूल, सूक्ष्म शरीर, विविध तुष्टियाँ एवं सिद्धियाँ, प्रत्यय एवं भ्तसर्ग, विवेक–ख्याति, प्रधान (प्रकृति) की निवृत्ति और पुरुष का मोक्ष आदि विषय सांख्यकारिका में विवेचित है। प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान अथवा पुरुष का कैवल्य ही मोक्ष है, यही परम प्रयोजन है; जिसके द्वारा दुःख की ऐकान्तिक आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

सांख्यकारिका को दुःख त्रय से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति दिलाने वाले उपाय व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ बताया गया है।

दुःखत्रय— आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभोतिक दुःखों से मुक्ति दिलाने वाले साधन में प्राणिमात्र की जिज्ञासा रहती है और वह जिज्ञासा तभो सार्थक होगी; जब कि दुःख से सर्वथा एवं सर्वदा मुक्ति प्राप्त हो सके। ऐकान्तिक अर्थात् सभो प्रकार के दुःखों से और आत्यन्तिक अर्थात् हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त हो सके। सांख्यकारिकाकार का कहना ह कि अन्य वैदिक और लौकिक उपाय अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त होते हैं जबकि सांख्योक्त उपाय प्रकृतिपुरुष का विवेक ज्ञान इन सीमाओं से रहित होने के कारण पूर्ण श्रेय ;ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्तिद्ध प्रदान करता है।

दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपाथा चेन्नैकातात्यन्ततोऽभावात्।।1।।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।2।।

अनुवाद— आध्यात्मिक (शारीरिक व मानसिक दुःख), आधिदैविक (राक्षस, ग्रहादि के दुष्प्रभाव से उत्पन्न) और आधिभोतिक (मनुष्य, पशु–पक्षी, सरीसृप आदि क कारण होने वाला)— इन तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार के कारण जीवन में उसे दूर करने वाले उपाय के प्रति जिज्ञासा होती हे। वह जिज्ञासा व्यर्थ होगी यदि दुःख से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त न हो सके। दुःख से मुक्ति दिलाने वाले वैदिक उपाय (यज्ञादि) भो लौकिक उपायो की भांति अशुद्धि क्षय और अतिशय से जुड़े होते हैं जबकि सांख्योक्त विवेक ज्ञान व्यक्त (जगत्) अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) का विशेष ज्ञान करवाने के कारण सभो प्रकार से कल्याणकारी है।

यहां प्रश्न उठता है कि लौकिक (दृष्ट) तथा वैदिक (आनुश्रविक) उपाय उपलब्ध होने से दुःखत्रय का नाश इन सरल उपायों से संभव है, तो सांख्यशास्त्र के ज्ञान की जिज्ञासा क्या निष्फल नहीं है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि रसायन आदि दवाओं से तथा यंत्र–मंत्र–तंत्र आदि उपायों से शारीरिक व मानसिक तथा अन्य दुःखत्रय का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश संभव नहीं है। वैदिक उपाय भो हिंसा आदि के कारण अशुद्धि; स्वर्गादि फल की समाप्ति होने से क्षय; ज्योतिष्टोम से वाजपेय यज्ञ का फलाधिक्य होने से अतिशय आदि दोषों से युक्त होने से, दुःखत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते। अतः शास्त्र ज्ञान में जिज्ञासा उचित है क्योंकि सांख्य शास्त्र म वर्णित महदादि–व्यक्त, मूल प्रकृति–अव्यक्त तथा चेतन पुरुष–ज्ञ के भद विज्ञान से दुःखत्रय की निवृत्ति संभव है।

1.9 सांख्य कारिका की टीकाएँ

सांख्यकारिका पर अनेक टीकाएँ व भाष्य आदि उपलब्ध है, जो इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में वर्णित सिद्धांतों का विवेचन, विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। इनमें कुछ प्रमुख टीकाएँ ये हैं–

1.9.1 गौडपाद भाष्य

यह प्राचीनतम भाष्य मालूम होता है। इसमें उनहत्तर कारिकाओं पर भाष्य है। ये गौडपाद शंकराचार्य के प्रगुरु अद्वैत वेदान्ती माण्डूक्य कारिका के रचयिता गौडपाद हैं या उनसे भिन्न सांख्याचार्य, इस विषय में कोई निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

1.9.2 तत्त्व कौमुदी

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका पर यह विस्तृत व्याख्या लिखी है। विषय विवेचन की दृष्टि से सरल एवं तार्किक विवेचन प्रस्तुत करने के कारण सांख्य कारिका के अध्ययन के लिए यह टीका अधिक महत्त्वपूर्ण है।

1.9.3 अन्य टीकाएँ

सांख्यकारिका पर युक्तिदीपिका, माठरवृत्ति, जयमंगला आदि अन्य टीकाएँ भो उपलब्ध होती हैं किन्तु इनके रचयिता के सम्बन्ध अन्यान्य शोध कार्यों का अवलोकन अपेक्षणीय है।

1.10 पारिभाषिक शब्दावली

1. अन्तः साक्ष्य– काल निर्धारण के लिए रचयिता के स्वयं के ग्रन्थ में से सूत्र ढूंढना।
2. बाह्य साक्ष्य– अन्य समकालीन ग्रन्थों में उस विशिष्ट ग्रन्थ अथवा उसके कर्ता के विषय में सूचना मिलने या न मिलने की स्थिति में उस ग्रन्थकर्ता के पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती होने का निर्णय करना।
3. द्वैतवादी– सृष्टि के मूल में दो तत्त्वों को स्वीकार करना, जैसे सांख्यदर्शन में प्रकृति और परुष।
4. अद्वैतवादी– सृष्टि के प्रारंभ में एक ही तत्त्व को स्वीकार करना जैसे वेदान्त।
5. आस्तिक दर्शन–वेदों के प्रमाण को स्वीकार करने वाले दर्शन।
6. नास्तिक दर्शन– जो वेदों के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं।
7. सूत्रग्रन्थ– कम से कम शब्दों में अधिक अर्थ को निरूपित करने वाले प्रारंभिक ग्रन्थ।
8. प्रकरणग्रन्थ– सरल शब्दों में दार्शनिक सिद्धांतों की जानकारी देने वाले ग्रन्थ।

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सांख्य शब्द का अर्थ बताइये?
2. सांख्यदर्शन के प्रवर्तक ऋषि कौन हैं?
3. सांख्यकारिका की रचना किसने व क्यों की?
4. दुःखत्रय पर टिप्पणी लिखिये?
5. सांख्यकारिका की प्रमुख टीकाओं का नाम बताइए?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 1.4 के अंतर्गत 1.4.1 तथा 1.4.2 को देखिये।
2. इकाई 1.5 से उत्तर दीजिये।
3. इकाई 1.7 से स्वयं उत्तर लिखिये।
4. इकाई 1.8.2 से उत्तर लिखिये।

5. इकाई 1.9 का अवलोकन करें।

1.12 सारांश

जीवन और जगत् से संबंधित उत्सुकता पूर्ण प्रश्नों के उत्तर की खोज में दर्शन का प्रारंभ हुआ। चिन्तन मनन, विश्लेषण विवेचन के माध्यम से दार्शनिक सिद्धांतों का निर्माण और उनके साथ ही दर्शन सम्प्रदायों की परम्परा का विकास हुआ। संसार के मूल कारण की जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रत्येक दर्शन अपने अपने तर्कों एवं विचार प्रणाली के माध्यम से कोई अन्तिम तत्त्व खोजता है और इसी के आधार पर द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी कहलाता है। सृष्टि के मूल में दो तत्त्व पुरुष एवं प्रकृति को स्वीकार करने के कारण सांख्य द्वैतवादी दर्शन है । इन दोनों तत्त्वों के अस्तित्व को मान्य प्रमाणों से प्रमाणित करने के साथ ही इनका स्वरूप, परस्पर सम्बन्ध और इनका संसार के साथ सम्बन्ध तर्कसंगतरूप में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दर्शनों का मुख्य लक्ष्य दु:ख निवृत्ति या मोक्ष ही सांख्यदर्शन का भी लक्ष्य है। जिसकी प्राप्ति का साधन प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को जान लेना अथवा पुरुष का कैवल्य है। सांख्य दर्शन में इन सभी सिद्धांतों का व्यवस्थित प्रतिपादन मिलता है।

1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन– डॉ.नन्द किशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992.
2. भारतीय दर्शन– उमेशमिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण–1990.
3. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी,1992.
4. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डा0 ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1996.
5. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,1990.
6. सांख्यदर्शन का इतिहास– पं. उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविंद राम हासानन्द 4408, नई सड़क, दिल्ली 2013.

इकाई–2

सत्कार्यवाद (सांख्यकारिका)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कार्यकारणवाद
 2.2.1 असत्कारणवाद
 2.2.2 असत्कार्यवाद
 2.2.3 सत्कार्यवाद
 2.2.4 विवर्तवाद
2.3 सांख्य के सत्कार्यवाद की सिद्धि में प्रमाण
 2.3.1 असदकरणात्
 2.3.2 उपादानग्रहणात्
 2.3.3 सर्वसम्भवाभावात्
 2.3.4 शक्तस्य शक्यकरणात्
 2.3.5 कारणभावात्
2.4 सत्कार्यवाद के द्वारा प्रकृति की अनुमानपूर्वक सिद्धि
 2.4.1 कार्यकारण की एकरूपता
 2.4.2 प्रकृति की अनुपलब्धि का अर्थ अभाव नहीं
 2.4.3 वस्तु की अनुपलब्धि के आठ कारण
2.5 पारिभाषिक शब्दावली
2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
2.7 सारांश
2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.0 उद्देश्य

एम0ए0 पूर्वार्द्ध संस्कृत के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन की इस द्वितीय इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकेंगे–

- कार्यकारणवाद् सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों जैसे असत्कारणवाद, असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद और विवर्तवाद का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- सांख्य दर्शन सम्मत सत्कार्यवाद की सिद्धि में प्रमाण जान सकेंगे।
- सत्कार्यवाद के द्वारा प्रकृति की अनुमानपूर्वक सिद्धि कर सकेंगे।
- वस्तु का अस्तित्व होने पर भो उसकी अनुपलब्धि के सांख्य सम्मत कारण जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

यह जगत् परमार्थ–दृष्टि से सत्य हो या मिथ्या, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसका सबको अनुभव होता है। परिवर्तन, अर्थात् प्रतिक्षण किसी वस्तु की उत्पत्ति और किसी का विनाश, इस जगत् का अनुभव–सिद्ध स्वभाव है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि इस जगत् में होने वाला उक्त परिवर्तन कैसे होता है। दूसरे शब्दों में, यह परिवर्तन आकस्मिक है, बिना किसी कारण के हो जाता है, या इसका कुछ न कुछ कारण है? चिरकाल से इस प्रश्न के विषय में विचार–विमर्श होते आ रहे हैं। विभिन्न विचारक अपने अपने दृष्टिकोण से समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। श्वेताश्वतर, उपनिषद् में

(1.2) में इस प्रश्न के समाधान के रूप में 'कालवाद', 'स्वभाववाद', 'नियतिवाद', 'यदृच्छावाद', 'भ्तवाद', 'पुरुषवाद' का उल्लेख मिलता है। संसार में कार्य की उत्पत्ति में नियमितता दिखाई देती है। मिट्टी से घड़ा, धागे से वस्त्र, दूध से दही बनता है; इस प्रकार संसार में निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इस आधार पर कारण–कार्य के निश्चित सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने पर भो प्रत्येक दर्शन उनकी व्याख्या भिन्न–भिन्न प्रकार से करता है। कार्य–कारण का सम्बन्ध क्या है? क्या कार्य कारण से पूर्ण रूप में अभिन्न है या दोनों परस्पर भिन्न है? कार्य और कारण का सम्बन्ध भावात्मक है या अभावात्मक। कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में मतभद के आधार पर दार्शनिकों के कार्य–कारण–सिद्धान्त में भिन्नरूपता मिलती है। दार्शनिकों में सांख्य, वेदान्त, बौद्ध ;माध्यमिकद्ध और न्याय–वैशेषिक मुख्य है जिन्होंने इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। दशन जगत् में सांख्य का सिद्धान्त 'परिणामवाद', वेदान्त का 'विवर्तवाद', बौद्ध का 'शून्यवाद' और न्याय–वैशेषिक का 'आरम्भवाद' नाम से प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध दर्शन प्रतिक्षण परिवर्तनशील तत्त्व को मानता है और कारण के नाश से कार्य की उत्पत्ति की बात करता है, इसलिए इनका सिद्धान्त असत्कारणवाद कहलाता है। वेदान्त सत् का विवर्त कार्य मानते हैं अतः उनका सिद्धान्त विवर्तवाद कहलाता है। न्यायदर्शन कार्य को एक सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानता है। वह कार्य का कारण में अभाव मानता है। न्याय का कारणवादी मत असत्कार्यवाद कहलाता है। जबकि सांख्य दर्शन कार्य को कारण में पूर्वतः विद्यमान मानकर सत्कार्यवाद की स्थापना करता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में दिखाई देने वाले सभो कार्यों व उनके कारणों में निश्चित रूप से पाया जाने वाला गुण है– सुख, दुःख और मोह/उदासीनता। इस लिए उन सभो के मूलभ्त कारण में भो इन गुणों का होना आवश्यक है और ये सुख, दुःख, मोह त्रिगुण सत्त्व, रज व तम के धर्म हैं और इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है जो सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण है। इसका विस्तृत विवेचन प्रकृति के स्वरूप के अंतर्गत किया जाएगा। यहाँ कारणवाद के सिद्धांत को समझाने के लिए यह उदाहरण दिया गया है।

2.2. कार्यकारणवाद

कार्यकारणवाद के विषय में चार सिद्धांत प्रमुख हैः–

इह कार्यकारण भावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति।
असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते।
नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति।
वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति।
सांख्या पुनः सतः सज्जायत इति। (सर्वदर्शन संग्रह)

यहां कार्यकारण के सम्बन्ध में चार मत प्रसिद्ध हैं। अविद्यमान (असत्) कारण से विद्यमान (सत्) कार्य उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध दार्शनिक कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार विद्यमान (सत्) कारण से (पूर्णतः) अविद्यमान (असत्) कार्य उत्पन्न होता है। वेदान्तियों के अनुसार सत् कारण की मिथ्या प्रतीति ही कार्य है, इस कार्य की वस्तुतः (पारमार्थिक) सत्ता नहीं होती। सांख्य दर्शन के अनुसार विद्यमान (सत्) कारण से विद्यमान (सत्) कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कारणवाद के क्षेत्र में ये चार सिद्धान्त मान्य हैं–

1. बौद्धों का असत्कारणवाद
2. वेदान्तियों का विवर्तवाद
3. नैयायिकों का असत्कार्यवाद
4. सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद

'सतः सज्जायते' सत् से सत् की उत्पत्ति ;आविर्भावद्ध होती है यह सांख्य का सिद्धांत है। 'असतः सज्जायते' असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, वह बौद्धों का सिद्धांत है। 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्' यह समस्त कार्य एक सत् वस्तु का विवर्त है; वास्तविक

नहीं, यह वेदान्तियों का सिद्धांत है। 'सतोऽसज्जायते' सत् से असत् की उत्पत्ति होती है, यह नैयायिक और वैशेषिकों का सिद्धांत है।

2.2.1 असत्कारणवाद

बौद्ध दर्शन के अनुसार ''अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्'' (न्या0सूत्र 4/1/14) बौद्ध लोग असत् को ही कार्यमात्र का कारण मानते हैं, क्योंकि बीज से जो अंकुरोत्पत्ति होती है वह बीज फूटने पर ही (नष्ट होने पर ही) होती है। उसी प्रकार दूध के नष्ट होने पर ही दधि होता है, यह देखकर बौद्धों ने यह– 'असतः सज्जायते' का सिद्धांत बना लिया।

समालोचना : इस असत्कारणवाद की समालोचना में नैयायिकों का कहना है कि अंकुरोपत्ति में बीजनाश (बीज का नष्ट होना) को कारण नहीं कहा जा सकता। किन्तु बीजावयवों के सन्निवेश परिणाम को अंकुरोत्पत्ति में कारण मानना चाहिए। अर्थात् बीज के अवयव जिस प्रकार बीज में सन्निविष्ट थे, उसी प्रकार से वे अंकुर में सन्निविष्ट नहीं है, बल्कि प्रकारान्तर से सन्निविष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि बीज में स्थित रहने वाले अवयव ही रूप बदल जाने पर अंकुर कहलाते हैं, इस प्रक्रिया से यह नहीं समझना होगा कि बीज का नाश होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, इस रहस्य को न्यायसूत्रकार ने एक ही सूत्र के द्वारा कह दिया–''न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः'' (न्या0सू0 4/1/17)। नाशरूप अभाव से भाव की उत्पत्ति मान लेना उचित नहीं है; यह भगवान् शंकराचार्य ने ''नाऽसतोऽदृष्टत्वात्'' (ब्र0सू0 2/2/26) सूत्र के भाष्य में अच्छी तरह व्यक्त किया है।

2.2.2 असत्कार्यवाद

नैयायिक अपने असत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार– 'सतः असज्जायते। सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कारण के व्यापार से पूर्व कार्य असत् है। जैसे– सद्रूप मृत्तिका से असत् (उसमें न रहने वाला) घट उत्पन्न होता है।

इनके अनुसार कार्य और कारण स्वभावतः भिन्न होते हैं। कार्य से नियत रूप से पूर्व में पाया जाने वाला कारण होता है– कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्– तर्कसंग्रह। कारण में रहने वाले अपने अभाव का प्रतियोगी कार्य होता है। अभाव के प्रतियोगी से तात्पर्य है जिसका अभाव बताया जा रहा है। जैसे घट, घटाभाव का प्रतियोगी है। इस मान्यता से ही स्पष्ट हो जाता है कि कार्य कारण में पहले से नहीं रहता है, उसका कारण में अभाव होता है। निमित्त कारण के प्रयत्न अथवा कारण व्यापार के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य किसी भो रूप में कारण में नहीं रहता। मिट्टी से अधिक बड़े आकार वाला घड़ा मिट्टी में कैसे रह सकता है और यदि दोनों में कोई एकरूपता है, तो फिर दो अलग–अलग वस्तुएँ मानने की क्या आवश्यकता है। कार्य का कारण में प्रागभाव (उत्पत्ति से पूर्व अभाव) और नष्ट होने पर ध्वंसाभाव (नाश) होता है न कि वह पुनः कारण में विलीन होता है। दधि नष्ट हो कर दूध नहीं बनता। यह अवश्य है कि घट मिट्टी से और दधि दूध से ही बनता है किन्तु यह कार्य और कारण ;अवयव और अवयवीद्ध के बीच में होने वाले समवाय सम्बन्ध की वजह से होता है। समवाय सम्बन्ध उन दो वस्तुओं में होता है जिन्हें एक दूसरे से अलग करना संभव नहीं होता। वे अयुतसिद्ध कहलाती हैं और अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय होता है।

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः।
ययोर्द्वयोर्मध्येएकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ।

नैयायिकों के अनुसार कार्य और कारण में रहने वाला सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। यह नित्य पदार्थ माना गया है। यह नित्य सम्बन्ध जिन दो द्रव्यों में रहता है उन्हें अयुतसिद्ध कहा जाता है। अयुतसिद्ध वे दो द्रव्य हैं जिनमें से एक अपने नष्ट होने पर्यन्त दूसरे पर आश्रित रहता है। न्याय दर्शन में समवाय सम्बन्ध से जुड़े हुए अयुतसिद्ध पाँच माने गए हैं–

1. अवयव–अवयवी
2. गुण–गुणी
3. क्रिया–क्रियावान्
4. जाति–व्यक्ति

5. नित्यद्रव्य–विशेष

नैयायिकों के अनुसार कार्य का स्वरूप ही कारण में अपने पूर्व स्थित अभाव का प्रतियोगी होना है– 'कार्यं प्रागभावप्रतियोगी'। इसलिए पूर्वतः अविद्यमान (वस्तु) ही कार्य रूप में उत्पन्न होती है। यह कार्य एक सर्वथा नवीन उत्पत्ति होती है (पूर्व स्थित की अभिव्यक्ति नहीं)। इसलिए इसे असत्कार्यवाद कहते हैं।

2.2.3 सत्कार्यवाद

कार्यरूप ग्रहण करने से पूर्व उस कार्य की कारण में सत्ता विद्यमान रहती है। मिट्टी, स्वर्ण आदि जब कारण के रूप में होने हें तो उनसे अनेक कार्यों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है, किन्तु कारण व्यापार होने पर वे सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती है। जैसे मिट्टी से घड़ा बन जाने पर उसकी गमला, सुराही आदि की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इसी बात को शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (1.2.1) के भाष्य में कहा है' –सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरमुत्पादयति, एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्।'' एक कारण में एक साथ अनेक कार्य सम्भव नहीं हैं। साथ ही कार्य की उत्पत्ति का अर्थ उसका अभिव्यक्त होना ही है। असत् की कभो उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रकाश के न रहने पर घट का दिखाई नहीं देना उसके अनस्तित्व को निश्चित नहीं करता, इसी प्रकार सूर्य के उदित होने पर अविद्यमान घट प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि असत् की कभो प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य अपने कारण में पूर्वतः विद्यमान रहता है। निमित्त कारणादि की सहायता से निश्चित देश और काल में वह जो स्वरूप और आकार ग्रहण करता है उसे हम कार्यरूप में विशेष नाम दे देते हैं जैसे घट–पट आदि।

सत्कार्यवाद के दो प्रकार हैं– एक है परिणामवाद जो कारण का वास्तविक परिवर्तन मानता है जैसे दूध का दही बन जाना। पारिभाषिक शब्दावली में ''सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः'' वेदान्तसार। इस तत्त्वतः परिवर्तन को विकार भो कहते है।

सत्कार्यवाद का दूसरा प्रकार विवर्तवाद है जिसमें कारण वास्तविक रूप में कार्य में परिवर्तित नहीं होता; जैसे रस्सी से सांप की प्रतीति में वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः, (वेदान्तसार)। कारण का अतात्विक रूप से (परिवर्तित हुए बिना) कार्यरूप में प्रतीत होना विवर्त कहलाता है।

2.2.4 विवर्तवाद

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। यह संसार वास्तविक न होकर सत् वस्तु ;ब्रह्मद्ध का ही विवर्त है, मिथ्या है, ऐसा वेदान्तियों का मानना है। वेदान्ती अपने विवर्तवाद का उपपादन इस प्रकार करते हैं– शुक्ति में जो रजत का ज्ञान होता है वह मिथ्या है, क्योंकि शुक्ति का यथार्थ ज्ञान होने पर पूर्व हुए रजतज्ञान का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही केवल एकमात्र सत् वस्तु है, उस पर आरोप किया जाने वाला संपूर्ण जड़ जगत् मिथ्या है, यह वेदान्तियों का सिद्धांत है।

समालोचना– प्रश्न उठता है कि शुक्ति में होने वाले रजत ज्ञान का, जैसे ही शुक्ति का प्रत्यक्ष होता है बाध हो जाता है, वैसे इस जगत् का बाध नहीं होता। शुक्ति– रजत के उदाहरण में शुक्ति ज्ञान से जिस प्रकार पूर्व में हुआ चाँदी का ज्ञान दूर हो जाता है, वैसा ब्रह्म के सत्यत्व का ज्ञान होने पर भो जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं हो पाता, या कहना चाहिए कि जिस प्रकार सीपी का ज्ञान हो जाने पर चांदी लुप्त हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान होने पर संसार का लोप हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः जड़ जगतप्रपंच को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भो है कि शुक्ति और रजत में शुक्लता चाकचिक्य का सादृश्य है। उस सादृश्य के कारण शुक्ति में रजत का भम होता है और उस भम से शुक्ति पर रजत का आरोप किया जाता है। किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो जगत् और ब्रह्म में परस्पर अत्यन्त विलक्षणता है, एक जड़ है तो दूसरा चेतन है। अतः दोनों में कुछ भो साधर्म्य नहीं है। एक दूसरे पर जो आरोप किया जाता है, वह तो थोड़े बहुत साधर्म्य से ही किया जाता

है, ऐसी परिस्थिति में जड़ जगत् का चेतन ब्रह्म में आरोप कैसे हो सकता है? इस प्रकार वेदान्तियों का विवर्तवाद समालोचना का विषय बनता है।

2.3 सांख्य के सत्कार्यवाद की सिद्धि में प्रमाण

सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य और कारण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होते। कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अनभिव्यक्त रूप में रहता है– कार्यं सत् (कारणे)। इसीलिए इस मत को सत्कार्यवाद कहा जाता है। घट यदि मिट्टी में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान नहीं होता (यदि मिट्टी में घटरूप धारण करने की सामर्थ्य नहीं होती) तो उससे घट की उत्पत्ति किसी भो प्रकार सम्भव नहीं थी। यही बात संसार में उपलब्ध समस्त कार्यों एवं उनके कारणों के विषय में कही जा सकती है। कार्य और कारण में काल भद और अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। कार्य कारण की अभिव्यक्त अवस्था है और कारण के रूप में कार्य बिना प्रकट हुए रहता है।

सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए ईश्वरकृष्ण ने पाँच हेतु दिए है–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। (सांख्य काटिका, 9)

अनुवाद–कार्य अपने कारण में कारण व्यापार से पूर्व भो विद्यमान रहता है– कार्यं कारणे सत्। इसे सिद्ध करने के लिए सांख्यकारिका में पाँच हेतु दिए गए हैं– असत् (अविद्यमान्) होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। निश्चित कार्य की उत्पत्ति के लिए तत्सम्बन्धी निश्चित कारण (उपादान सामग्री) का ही ग्रहण करना होता ह जैसे घट के लिए मिट्टी, तैल के लिए तिल का ग्रहण किया जाता है। सभो कार्य सभो उपादान कारणों से उत्पन्न नहीं किए जा सकते। शक्तिमान कारण से ही शक्य (सम्भाव्य) कार्य उत्पन्न हो सकता है और कारण कार्य से अभिन्न होता है अथवा विनाशावस्था में उसी में लीन होता है।

2.3.1 असदकरणात्

असदकरणात् कार्यं सत्– असतः अकरणात् कार्यं सत् अर्थात् असतः– अविद्यमान कार्य की, अकरणात्– उत्पत्ति असंभव है, अतः अपने–अपने कारण में कार्य सत् है, पहले से ही विद्यमान है। यदि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान न होता, तब तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी। अतः यह स्थिर सत्य है कि कारण–व्यापार से पहले भो कार्य अपने कारण में सत् है– विद्यमान है, असत् नहीं। वह कारण व्यापार से अभिव्यक्त हो उठता है। उदाहरणार्थ– तिलों में तेल पहले से ही विद्यमान है अतएव पेरे जाने पर वह अभिव्यक्त हो जाता है। यहाँ तेल है 'कार्य' और तिल है 'कारण'। कारण में कार्य पहले से ही अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान है, तभो तो अभिव्यक्त हुआ है। ऐसे ही धान में चावल अनभिव्यक्त रूप में पहले से ही विद्यमान है इसीलिए पिछोड़े जाने पर अभिव्यक्त हो जाता है या गौओं में दूध अनभिव्यक्त रूप में पहले से ही विद्यमान है। दुहने से वह अभिव्यक्त हो जाता है। यद्यपि बीज के नष्ट होने पर अंकुर की उत्पत्ति लक्षित होती है, किन्तु अंकुर की उत्पत्ति में बीज का नाश (अभाव) कारण नहीं है अपितु अंकुर उत्पन्न करने की भावात्मक योग्यता ही उसमें कारण है। यदि अभाव से कार्य की उत्पत्ति मानी जाए, तो उसके सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभो कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए, जो संसार में देखी नहीं जाती है। कारण व्यापार से पूर्व कार्य सत् होता है क्योंकि असत् को (उत्पन्न) करना सम्भव ही नहीं है। नीले रंग को हजारों शिल्पी मिलकर भो पीला नहीं कर सकते।

यदि नैयायिकों के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए यह कहा जाए कि कारण व्यापार से पूर्व असत् घट व्यापार के पश्चात् सत् (विद्यमान) हो जाता है, तो हमें यह मानना होगा कि असत्ता और सत्ता दोनों घट के धर्म हैं; ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म अन्धकार और प्रकाश की भांति एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए कारण में पूर्वतः अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान की अभिव्यक्ति को ही कार्य की उत्पत्ति कहा जाता है। असत् वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस हेतु से बौद्ध दर्शन के असत्कारणवाद एवं न्याय के असत्कार्यवाद का निषेध किया गया है और सत्कार्यवाद की स्थापना की गई है।

2.3.2 उपादानग्रहणात्

उपादानग्रहणात् कार्यं सत्– उपादान का अर्थ है कारण सामग्री और ग्रहण का अर्थ है– उस कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध। उपादानग्रहणात्– इस हेतु से भो कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध होने का पता चलता है कि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान है। घट बनाने के लिए उसके उपादान कारण मिट्टी का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उसमें घट ;कार्यद्ध पहले से ही विद्यमान है। ऐसे ही तेल के लिए उसके उपादान तिलों का ही ग्रहण किया जाता है और पट के लिए तन्तु का। इस प्रकार यह निश्चित है कि नियत सम्बन्धयुक्त उपादान ही सम्बन्धित कार्य को उत्पन्न करता है और कार्य की दृष्टि से व्यक्ति तत्सम्बन्धी उपादान का ही ग्रहण करता है, अन्य किसी का नहीं, अतः सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है।

2.3.3 सर्वसम्भवाभावात्

सर्वसम्भवाभावात् कार्यं सत्– सभो कारणों से सभो कार्य उत्पन्न नहीं होते। निश्चित कारणों से ही निश्चित कार्यों की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा मानते हैं कि किसी भो कारण से किसी भो कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, तब तो कोई नियम ही नहीं रहेगा। नियमतः घट (कार्य) दो कपालों (कारण) से ही उत्पन्न होता है, पट (कार्य) तन्तु (कारण) से ही उत्पन्न होता है। कहीं भो दूध स पट या तन्तु से घट या दो कपालों से दही उत्पन्न नहीं होता। अतः यह अवश्य मानना होगा कि सभो कारणों से सभो कार्य उत्पन्न नहीं होते। कारण कार्य का नियत सम्बन्ध नहीं होने पर किसी भो कारण से कोई भो कार्य उत्पन्न हो जाएगा। असत् से उत्पत्ति मानने पर तो कारण कार्य सम्बन्धी व्यवस्था ही निश्चित नहीं रहेगी। अभाव के सर्वत्र सुलभ रहने से उससे सभो कार्य उत्पन्न होने लगेंगे। यह लौकिक जगत् में देखा भो नहीं जाता है। इसलिए कार्य कारण में अनभिव्यक्त रूप में रहता है, यही सत्कार्यवाद है।

2.3.4 शक्तस्य शक्यकरणात्

शक्तस्य शक्यकरणात् कार्यं सत्– क्योंकि शक्त– समर्थ कारण शक्य– कार्य को उत्पन्न करता है, अशक्य को नहीं, इससे भो यही सिद्ध है कि कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान है। उदाहरण के लिए समर्थ कुम्हार समर्थ मिट्टी के लौंदे से दण्ड, चक्र, आदि सामग्री की सहायता से ही शक्य घट, शकोरे आदि को उत्पन्न करता है, अशक्य कुण्डल आदि को नहीं। कारण में कार्य के निर्माण की शक्ति विद्यमान होती है उसी से कार्य सम्भव होता है। संसार के सभो पदार्थों में यह विशेष शक्ति जिससे उस विशिष्ट कार्य का निर्माण होता है, देखी जाती है अर्थात् जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है उस शक्त कारण से ही उस शक्य (सम्भव) कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य और कारण के परस्पर असम्बद्ध होने की स्थिति में कार्योत्पत्ति कोई व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। अतः सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है।

2.3.5 कारणभावात्

कारणभावात् च सत्कार्यम्– क्योंकि कार्यकारणभाव– कारणात्मक है– कारण से अभिन्न है। अतः सिद्ध है कि वह ;कार्यद्ध कारण में पहले से ही विद्यमान है। कारण सत् है अत एव कार्य भो सत् ही है, असत् नहीं।

कारण और कार्य में अभद–साधक प्रमाण निम्नलिखित हैं–

(क) पट कार्य है और तन्तु उसका कारण। पट अपने कारण तन्तु से भिन्न नहीं, क्योंकि वह तन्तुओं का ही धर्म है। जो पदार्थ जिससे भिन्न होता है, वह उसका धर्म नहीं होता। जैसे गौ और अश्व दोनों भिन्न–भिन्न है अतः गौ अश्व का धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि पट तन्तुओं का धर्म है अतः तन्तुओं से भिन्न नहीं हो सकता।

(ख) जो दो पदार्थ भिन्न होते हैं उनमें उपादानोपादेयभाव अर्थात् कारण कार्य भाव नहीं होता। पट कार्य ;उपादेयद्ध है और तन्तु कारण ;उपादानद्ध है, अतः दोनों भिन्न नहीं हैं। घट और पट दोनों ही भिन्न हैं, क्योंकि इनमें कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है।

(ग) दो भिन्न पदार्थों में संयोग और वियोग देखा जाता है। कापी और कलम में संयोग है, अतः ये दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं। हिमालय और विन्ध्य पर्वत में वियोग है, अतः ये दोनों भिन्न–भिन्न है। हिमालय विन्ध्य से और विन्ध्य हिमालय से वियुक्त है। कारण और कार्य दोनों में संयोग और वियोग दोनों का ही अभाव पाया जाता है, अतः इनमें भद नहीं होता। पट और तन्तु में इसीलिए भद नहीं क्योंकि इन दोनों में कार्य–कारण सम्बन्ध है।

(घ) उपादान का जो भार होता है उपादेय का भो वही भार होता है। दस ग्राम सुवर्ण की बनी अंगूठी का भार दस ग्राम ही होता है। भार की एकता के कारण भो कारण और कार्य में अन्तर नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार कारण और कार्य में कोई भद नहीं है। सांख्य के अनुसार, तन्तु ही अवयव सन्निवेश से पट कहलाते हैं वस्तुतः तन्तु से भिन्न पट कोई वस्तु नहीं। अतः कारणभावात् हेतु से भो सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है।

2.4 सत्कार्यवाद के द्वारा प्रकृति की अनुमानपूर्वक सिद्धि

सांख्य दर्शन का कारणवाद का सिद्धान्त उनके द्वारा मान्य मूल तत्त्व प्रकृति की सिद्धि करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार संसार के प्रत्येक पदार्थ में जो सुख, दुःख मोहरूपता पाई जाती है, यही त्रिगुणात्मकता इनके कारण में भो होना अनिवार्य है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य में गुणों अथवा आधारभ्त स्वरूप की एकता होती है।

सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और कारण में समानरूपता होती है; इसलिए कार्य के स्वरूप के आधार पर कारण के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। इसी आधार पर सांख्य दर्शन द्वारा दृश्य जगत् के मूल कारण और उसके स्वरूप की व्याख्या की गई है। इस संसार के समस्त पदार्थों में पाए जाने वाले न्यूनतम सामान्य धर्मों को देखें, तो हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ या तो किसी को सुख प्रदान करता है अथवा दुःख प्रदान करता है, या फिर व्यक्ति उससे उदासीन रहता है। इस प्रकार प्रत्येक सांसारिक वस्तु में सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने की क्षमता पाई जाती है। इन वस्तुओं की यह क्षमता उनके त्रिगुणात्मक होने के कारण होती है। तात्पर्य यह है कि इस दृश्य जगत् की सम्पूर्ण वस्तुएं सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से मिलकर बनती हैं। इन गुणों का स्वभाव सुख (प्रीति) दुःख (अप्रीति) और मोह (विषाद) उत्पन्न करता है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।। (सांख्यकारिका,12)

अनुवाद– सत्त्व, रज और तम गुण प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप वाले हैं और प्रकाशन, प्रवृत्ति और नियमन करने वाले हैं। इन गुणों का स्वरूप ही ऐसा है कि ये परस्पर साथ रहते हुए भो एक दूसरे को दबाते (अभिव), आश्रित रहते (आश्रय), कार्यरूप को उत्पन्न करते (जनन) और साथ रहते (मिथुनवृत्ति) हैं। गुणों का यह स्वरूप उनकी करणरूपता और विषयरूपता में अभिव्यक्त होता है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों में गुण एक दूसरे को दबाने व आश्रित होने की चेष्टा से युक्त होते हैं और उनमें जो गुण अन्य गुणों को अभिभ्त (दबा) कर प्रधान हो जाता है; उसी के अनुरूप वे प्रसन्नता, अप्रसन्नता अथवा उदासीनता को उत्पन्न करते हैं। ये सत्त्वादि गुण उस अर्थ में गुण नहीं हैं जैसे शौर्य, दया, सहनशीलता आदि व्यक्ति के गुण होते हैं अथवा मार्दव, काठिन्य आदि वस्तुओं में पाए जाते हैं; अपितु ये सांसारिक पदार्थों में पाए जाने वाले वे मौलिक तत्त्व हैं जो जगत् की कारण मूल प्रकृति के घटक बनते हैं। इनका स्वरूप बतलाते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है–

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः।। (सांख्यकारिका 13)

अनुवाद– सत्त्व गुण हल्का, प्रकाशन स्वभाव वाला और सुखदायी होता है। रजोगुण चंचल स्वभाव वाला और उपष्टम्भक होता है। तमोगुण भारी और आवरण के स्वभाव वाला होता है। ये तीनों गुण परस्पर विपरीत स्वभाव वाले होने पर भो सांसारिक विषयों का प्रवर्तन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार तेल और बत्ती दीपक (लौ) के विरोधी हैं फिर भो दीपक

तेल और बाती से मिलकर प्रकाशन का कार्य करते हैं। इसलिए इन गुणों की वृत्ति (व्यवहार) को दीपक के समान बताया गया है।

सांसारिक पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने और उसके कारण एक ही साथ सुख, दुःख और मोह की उत्पत्ति की क्षमता को एक उदाहरण के द्वारा समझाया जाता है। जिस प्रकार सद्गुणों से सम्पन्न एक स्त्री अपने पति के लिए सुख का, सपत्नियों के लिए दुःख का व अन्य व्यक्तियों के लिए मोह का कारण बनती है; उसी प्रकार संसार के सभो पदार्थ एक ही साथ अलग–अलग व्यक्तियों में सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं।

2.4.1 कार्यकारण की एकरूता

सांसारिक पदार्थ कार्य हैं और कार्य और कारण में समानरूपता पाई जाती है। इस सत्कार्यवादी दृष्टिकोण के आधार पर सांख्यदर्शन में संसार के मूल कारण प्रकृति की सिद्धि करने के पश्चात् उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

कारण और कार्य एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। व्यवहार की दृष्टि से इनमें जो क्रियाभद, विरोधभद, बुद्धिद्धभद, व्यपदेश (नाम) भद और अर्थक्रिया (प्रयोग) भद प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं होता। जिस प्रकार कछुए के अंग उसके शरीर से निःसृत होने पर कोई यह नहीं कहता कि वे उत्पन्न हुए हैं और पुनः भोतर कर लिए जाने पर नष्ट होने की बात नहीं की जाती, उसी प्रकार कार्य और कारण में उपयोग स्वरूप और मूल तत्व की दृष्टि से अभद होता है। सोने से बने हुए हार, कंगन आदि आभ्षणों में जो नाम का भद अथवा बुद्धिद्ध भद होता है वह भो वास्तविक नहीं है। कारण और कार्य म अर्थक्रिया ;प्रयोजनद्ध सम्बन्धी जो भद दिखाई देता है वह भो अनिवार्यतः भद को सिद्ध नहीं करता। एक ही अग्नि जलाने, पकाने, प्रकाश आदि भिन्न भिन्न कार्य करती है अतः प्रयोजन का भद भो कार्यकारण की अभिन्नता में बाधक नहीं बनता।

इस प्रकार संसार में कारण और कार्य में बाह्य स्वरूप, नाम प्रयोग आदि का भद दिखाई देता है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से कारण और कार्य को सांख्य दर्शन अभिन्न मानता है। दोनों में स्वरूप व गुणों की दृष्टि से समानता होती है जबकि व्यवहार की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। सत्कार्यवाद का अर्थ है कि यदि कार्य कारण में पूर्वतः अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान नहीं होता तो उसकी उत्पत्ति कथमपि सम्भव नहीं थी; क्योंकि असत् की सत्ता नहीं हो सकती। गीता में भो यही कहा गया है– ''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'' असत् का कभो भाव (सत्ता) नहीं होता और सत् का कभो अभाव नहीं होता।

2.4.2 प्रकृति की अनुपलब्धि का अर्थ अभाव नहीं

कार्य का अपने कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहना और स्वभावतः समान होना ही जगत् के कारण के रूप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सिद्धि करता है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति को देखा जाना सम्भव नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं। अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण इन चर्म चक्षुओं से उसकी उपलब्धि नहीं होती; किन्तु उसका कार्यरूप यह संसार ही उसके विषय में प्रमाण है–

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूद्धपं च।। (सांख्यकारिका, 8)

प्रकृति के अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए नहीं कि वह है ही नहीं (नाभावात्); क्योंकि उसके कार्य (परिणाम) संसार की उपलब्धि (प्रतीति) हमें होती है और यह संसार महत् तत्त्व से प्रारम्भ होकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों से बना है जो प्रकृति के समान रूप भो हैं और प्रकृति से कुछ भिन्नता भो रखते हैं।

2.4.3 वस्तु की अनुपलब्धि के आठ कारण

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रकृति (प्रधान) आदि तत्त्वों का प्रत्यक्ष न होने से उनके अभाव की आशंका नहीं करनी चाहिए। सांख्यकारिका में स्पष्ट किया है कि अतिदूरत्व आदि आठ कारणों वे वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता हैः–

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च।। (सांख्य काटिका, 7)

अर्थात् अत्यन्त दूर होने से (आकाश में बहुत ऊँचाई पर अतिदूर उड़ता पक्षी); अत्यन्त समीप होने से (आंख का काजल); इन्द्रियघात से (अन्धे को वर्ण, बहरे को शब्द आदि); मन के अनवस्थित होने से (सामने पड़ी वस्तु का भो); सूक्ष्मता के कारण से (परमाणु या प्रधान); दीवार या पर्दे आदि के व्यवधान से (व्यक्ति या वस्तु); अभिभव से (सूर्य की प्रभा से अभिभ्त्) ग्रह–नक्षत्र, समानाभिहार से (मेघ से गिरे बिन्दु जलाशय में) प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। इस प्रकार प्रकृति की अनुपलब्धि का अर्थ अभाव नहीं है उसकी सूक्ष्मता ही उसकी अनुपलब्धि में कारण है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. **सत्कार्यवाद**– कार्य सत् अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान है या सत् है। यही सत्कार्यवाद है।
2. **परिणामवाद (वास्तविक परिवर्तन)**– परिणामवाद के अनुसार कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तरण है। सत्कार्यवाद का यह अपनाम है। जैसे दूध का दही बनना।
3. **विवर्तवाद (आभास परिवर्तन)**– कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तरण नहीं अपितु कार्य कारण का विवर्त है अर्थात् कारण का कार्य में परिवर्तित होना एक आभासमात्र है यथा– रज्जु को सर्प समझना।
4. **प्रकृति परिणामवाद**– समस्त विश्व प्रकृति का परिणाम है।
5. **सत्**– विद्यमान तत्त्व।
6. **असत्**–अविद्यमान वस्तु जैसे आकाशपुष्प।
7. **असदकरणाद्**– जो विद्यमान नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं की जा सकती है। इस हेतु से (सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है)।
8. **उपादानग्रहणात्**– विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति उससे सम्बद्ध विशिष्ट कारण से ही होती है। इस हेतु से (सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है)।
9. **सर्वसम्भवाभावात्**– सभी कारणभूत पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। इस हेतु से (सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है)।
10. **शक्तस्य शक्यकरणात्**– कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, वह उसी को उत्पन्न करता है। इस हेतु से (सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है)।
11. **कारणभावात्**– कार्य कारण से अभिन्न है क्योंकि नाश के समय कार्य कारण में लीन हो जाता है। इस हेतु से (सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है)।

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद के द्वारा प्रकृति की सिद्धि की गई है, समझाइये?
2. असत्कारणवाद किस दर्शन का सिद्धान्त है?
3. नैयायिकों का सिद्धान्त असत्कार्यवाद क्यों कहलाता है?
4. वेदान्तदर्शन द्वारा मान्य कारणवाद को दो पंक्तियों में समझाइये?
5. सांख्य द्वारा सत्कार्यवाद के समर्थन में दिये गये हेतु स्पष्ट कीजिये?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 2.4 देखें।
2. इकाई 2.2.1 देखें।
3. इकाई 2.2.2 देखें।
4. इकाई 2.2.4 देखें।
5. इकाई 2.3 सम्पूर्ण देखिये।

2.7 सारांश

इस प्रकार सांख्यदर्शन अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध करता है कि कारण और कार्य अभिन्न हैं। कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है तथा कारण

व्यापार के द्वारा उसमें छिपे हुए कार्य की अभिव्यक्ति होती है। यदि कारण और कार्य में निश्चित सम्बन्ध को न माना जाए तो संसार में किसी प्रकार की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। किसी भो कारण से कोई भो कार्य उत्पन्न नहीं होने लगेगा। इसीलिए सांख्याचार्यों का कहना है–

असत्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसंगिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः।।

यही नहीं सांख्य का यह सिद्धान्त है कि निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण से असम्बद्ध कार्य कभो उत्पन्न नहीं हो सकता; अन्यथा संसार में अनवस्था हो जाएगी। 'कारणसम्बद्धमेव कार्यं, कार्यसम्बद्धेन कारणेन जन्यते, न तु असम्बद्धमसम्बद्धेन, अन्यथा अनवस्था।'' इस प्रकार सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद सिद्ध होता है।

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन– डॉ.नन्द किशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992.
2. भारतीय दर्शन– उमेशमिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण–1990.
3. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी,1992.
4. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डा0 ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1996.
5. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,1990.
6. सांख्यदर्शन का इतिहास– पं. उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविंद राम हासानन्द 4408, नई सड़क, दिल्ली 2013.

इकाई–3

पुरुष एवं प्रकृति : स्वरूप सिद्धि (सांख्यकारिका)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सांख्यदर्शन सम्मत 25 तत्व : व्यक्त–अव्यक्त–ज्ञ
3.3 प्रकृति का स्वरूप
  3.3.1 प्रकृति के अस्तित्व में प्रमाण
  3.3.1.1 भदानां परिमाणात्
  3.3.1.2 भदानां समन्वयात्
  3.3.1.3 शक्तितः प्रवृत्तेः
  3.3.1.4 कारण कार्य विभागात्
  3.3.1.5 अविभागात् वैश्वरूपस्य
  3.3.2 व्यक्त एवं अव्यक्त में वैधर्म्य
  3.3.3 व्यक्त एवं अव्यक्त में साधर्म्य
  3.3.4 सांख्य में ज्ञ–पुरुष
3.4 पुरुष की सत्ता में प्रमाण
  3.4.1 संघातपरार्थत्वात्
  3.4.2 त्रिगुणादिविपर्ययात्
  3.4.3 अधिष्ठानात्
  3.4.4 भोक्तृभावात्
  3.4.5 कैवल्यार्थप्रवृत्तेः
3.5 पुरुष अनेकता की सिद्धि
  3.5.1 जननप्रतिनियमात्
  3.5.2 मरणप्रतिनियमात्
  3.5.3 करणानां प्रतिनियमात्
  3.5.4 अयुगपत्प्रवृत्तेः
  3.5.5 त्रैगुण्यविपर्ययात्
3.6 सांख्य सम्मत पुरुष के विविध धर्म
  3.6.1 साक्षित्व
  3.6.2 कैवल्य
  3.6.3 माध्यस्थ
  3.6.4 अकतव्य
  3.6.5 भोक्तृभाव
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.9 सारांश
3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

एम.ए.पूर्वार्द्ध संस्कृत के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन की पूर्व इकाई 1 व 2 में सांख्यदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ एवं आचार्यों तथा सत्कार्यवाद का परिचय प्राप्त कर चुके हैं अब इस इकाई–3 के अध्ययन से आप निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे –

- सांख्य दर्शन द्वारा मान्य 25 तत्त्वों के त्रिविध विभाजन 'व्यक्त–अव्यक्त–ज्ञ' का परिचय तथा परस्पर साधर्म्य–वैधर्म्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रकृति की सिद्धि में प्रमाण के रूप में पाँच हेतुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सांख्य सम्मत पुरुष की सत्ता में प्रमाण तथा पुरुष बहुत्व की सिद्धि में प्रस्तुत हेतुओं को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सांख्यदर्शन द्वारा माने गये दुःखत्रय–आध्यात्मिक अधिदैविक, अधिभोतिक सभो प्रतिकूल वेदनीय हैं। लौकिक उपायों तथा वैदिक उपायों से दुःखत्रय की एकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्ति नहीं होती अतः सांख्य शास्त्र में प्ररुपित व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान ही दुःख निवृत्तिका का श्रेष्ठ साधन है। व्यक्त–अव्यक्त–ज्ञ तत्त्वों के ज्ञान से श्रेयस्कर साक्षात्कार उदित होता है जो केवल–ज्ञान कहलाता है, वही मोक्ष है, वही सांख्य शास्त्र का प्रतिपाद्य भो है। इस भ्मिका को समझने के हेतु महत् तत्त्व आदि 23 व्यक्त पदार्थ, अव्यक्त प्रकृति तथा ज्ञ पुरुष का विवेचन आवश्यक है इसीलिये इन 25 तत्त्वों का निरुपण करते हुए इस इकाई में प्रकृति तथा पुरुष : स्वरूप सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है।

3.2 सांख्यदर्शन सम्मत 25 तत्त्वः व्यक्त–अव्यक्त–ज्ञ

सांख्य दर्शन में 25 तत्त्वों को माना गया है :

अव्यक्त=प्रकृति, व्यक्त=महत्, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ये 23 तत्त्व तथा ज्ञ=परुष ये 25 तत्त्व हैं। इनमें से मूल प्रकृति किसी का कार्य नहीं है अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं हुई है अतः अविकृति है। महत्, अहंकार तथा 5 तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये सात तत्त्व प्रकृति–विकृति कार्य भो है तथा ये किसी को उत्पन्न भो करते है अतः प्रकृति है जैसे महत् अहंकार को, अहंकार 16 तत्त्वों को। ये 16 तत्त्व मन, 5 ज्ञानेन्दियाँ, 5 कर्मेन्द्रिया, 5 महाभ्त है केवल उत्पन्न होते हैं अतः विकृति हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति।

प्रकृति=अव्यक्त=अविकृति (सभो का कारण है, किसी का कार्य नहीं)।

महत् अहंकार पाँच तन्मात्र ये सात = व्यक्त = प्रकृति–विकृति (कारण भो हैं, कार्य भो हैं)।

मन, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रिया, 5 भ्त ये सोलह = व्यक्त = विकृति (केवल कार्य ही हैं)।

पुरुष = ज्ञ = न विकृति न प्रकृति (न कार्य है, न कारण है)।

3.3 प्रकृति का स्वरूप

सांख्य दार्शनिक जगत का मूल कारण प्रकृति को (अव्यक्त को) मानते हैं और सत्कार्यवाद को इस मान्यता का आधार मानते हैं। जगत् के मूल कारण का कोई कारण नहीं है, वह अनादि है, सृष्टि से पूर्व है, उस पर समस्त कार्य आधारित हैं। वह जगत् का प्रथम तत्त्व है अतः वह प्रकृति कहलाती है। इसे ही 'अजा' कहते हैं।

समस्त विकारों का उत्पादन करने के कारण वह प्रकृति है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है इसीलिये अदृश्य है– ''सौक्ष्म्याद् तदनुपलब्धिः'' (सांख्य कारिका, 8)।

उसकी उत्पत्तियों को देखकर ही उसका अनुमान लगाया जाता है। अचेतन तत्त्व के रूप में वह 'जड़' है, सभो कार्यों की अव्यक्त अवस्था होने से 'अव्यक्त' है। सत्त्वरज–तमोगुणात्मक है।

3.3.1 प्रकृति के अस्तित्व में प्रमाण

सांख्य के अनुसार यह समस्त जगत् ऐसी वस्तुओं से बना है जो कि कार्य द्रव्य हैं, इसका कोई मूल कारण होना आवश्यक है क्योंकि कारण के बिना कार्य संभव नहीं। जगत का मूल कारण आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा न कार्य है और न कारण, उसका स्वभाव भो जगत् की वस्तुओं से विपरीत है।

चार्वाक, बौद्ध, जैन, न्याय तथा वैशेषिक मतों के अनुसार जगत् पृथ्वी–जल–तेज–वायु के परमाणुओं से बना है। सांख्य दर्शन का मानना है कि इन भोतिक परमाणुओं से मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् का मूल कारण

सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अनादि, अनन्त होना चाहिये जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न हो सकें, ऐसा कारण अव्यक्त–प्रकृति को ही माना जा सकता है। अतः प्रकृति के अस्तित्व में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए ईश्वर कृष्ण निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत करते हैं।

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारण कार्य विभागादविभागात् वैश्वरूपस्थ।। (सां.का.15)

(सां. का. 16)

जगत् की समस्त वस्तुएँ सीमित होने से, इनमें समन्वय होने से, जगत् के करण में शक्ति निहित होने से, कारण और कार्य अभिन्न होने से, कार्य कारण में लीन होने से अव्यक्त प्रकृति जगत् का कारण है यह सिद्धि होती है। इन पाँचों हेतुओं को अब विस्तार से जानेंगे।

3.3.1.1 भेदानां परिमाणात्

जगत् के समस्त भद अर्थात् समस्त वस्तुएँ परिमाण वाली अर्थात् सीमित, परतन्त्र, सापेक्ष और सान्त हैं अतः उनको उत्पन्न करने वाला कारण असीम, स्वतन्त्र, निरपेक्ष और अनन्त तत्त्व होना चाहिये और ऐसा तत्त्व अव्यक्त प्रकृति है। इस प्रकार भदानां परिणात् हेतु से व्यक्त जगत् का कारण अव्यक्त प्रकृति है ऐसा अनुमान होता है।

3.3.1.2 भेदानां समन्वयात्

महत् तत्त्व आदि व्यक्त कार्यों का कोई अव्यक्त कारण है, इसमें समन्वय भो एक हेतु है, क्योंकि जगत् की वस्तुएं भिन्न–भिन्न होने पर भो कुछ सामान्य गुण रखती हैं जिनके कारण सुख–दुःख मोह उत्पन्न करती हैं। अतः उनको एक सूत्र में बांधने वाला एक ऐसा कारण होना चाहिए जिसमें तीनों गुण हों, जिससे संसार उत्पन्न हो सके और जो सबकी एक रूपता रूपी समन्वय कर सके। ऐसा मूल कारण प्रकृति तत्त्व ही है। इस प्रकार समन्वयात् हेतु से अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि होती है।

3.3.1.3 शक्तितः प्रवृत्तेश्च

सभो कार्य ऐसे कारणों से उत्पन्न होते हैं जिनमें वे अव्यक्त या बीजरूप में या शक्ति रूप में स्थित हों। विकास या उत्पत्ति का अर्थ अव्यक्त से व्यक्त होना है। व्यक्त जगत् का विकास करने वाली शक्ति जगत् के कारण में निहित होनी चाहिये इस हेतु से व्यक्त जगत् का वह कारण अव्यक्त प्रकृति है ऐसा अनुमान होता है।

3.3.1.4 कारणकार्य विभागात्

कारण से कार्य का विभाग होता है, कारण से कार्य प्रकट होता है जैसे महत् तत्त्व से अहंकार प्रकट या उत्पन्न होता है। महत् कारण है और अहंकार कार्य व्यक्त है। प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। अतः जगत् का भो एक कारण होगा, जिसमें समस्त जगत् अव्यक्त रूप से अवस्थित है, वही प्रकृति है।

3.3.1.5 अविभागात् वैश्वरूपस्य

त्रिगुण का जब सरूप या सदृश परिणाम होता है तक प्रत्येक कार्य अपने–अपने कारण में लीन होकर एक ;कारण और कार्य तादात्मयरूपद्ध हो जाता है। इस प्रकार समस्त जगत् में अविभाग (तादात्म्य) प्रतीत होने के लिये पंचभत् आदि तन्मात्र में, तन्मात्र अहंकार में, अहंकार महत् तत्त्व में और अन्त में महत् तत्त्व प्रकृति में लीन होकर जगत् एक अविभाग मालूम होता है, वही अव्यक्त है।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच हेतुओं से तर्क के आधार पर अव्यक्त 'प्रकृति' की सिद्धि होती है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि इसमें दो स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किये गये है। एक जड़ प्रकृति है तथा दूसरा चेतन पुरुष। यह प्रकृति ही इस सम्पूर्ण जड़ जगत् को उत्पन्न करने वाली है। यह दृश्यमान् जड़ जगत् जो दिखायी दे रहा है, उसका कोई न कोई मूल कारण अवश्य है, जो हमें दिखायी नहीं देता अतः वह स्वयं अव्यक्त तथा अजन्मा है, यदि हम कार्य के मूल कारण की कल्पना करते जायेगे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। यह विश्व का प्रधान प्रथम कारणभत् तत्त्व है अतः इसे प्रधान, मूलप्रकृति तथा अव्यक्त विविध नामों से जानते है। इस प्रकार मूल कारण रूप में दिखायी न देने वाले अव्यक्त को प्रकृति कहते हैं तथा

दृश्यमान जड़ जगत् के रूप में दिखायी देने वाले महत् आदि 23 तत्त्व व्यक्त कहलाते है और चेतन पुरुष 'ज्ञ' कहलाता है।

प्रकृति जड़ व अचेतन है। वह विवेक शून्य एवं स्वतंत्र है, नित्य है, एक है तथा व्यापक है। प्रकृति विषय है वह अनेक पुरुषों द्वारा ज्ञेय होने से सामान्य है। तीन गुणों सत्व, रज व तम से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मिका है तथा सुखदुःखमोहस्वरूपा है परन्तु अचेतन होने से स्वयं सुख दुःख मोह का अनुभव नहीं कर सकती। प्रकृति प्रसवधर्मिणी है। प्रसवधर्मिता से अभिप्राय उत्पत्ति तथा परिणाम दोनों से है। प्रकृति इस जड़ जगत् के विविध पदार्थो को उत्पन्न करने वाली है तथा विरूद्धप व सरूप दोनों प्रकार के कार्यो को अभिव्यक्त भो करती है। सम्पूर्ण कार्य अपने कारण में विद्यमान होता है अतः तथा प्रलय काल में अपने कारण अर्थात् प्रकृति में ही लीन हो जाता है। अतः उत्पत्ति व परिणाम शालिनी होने के कारण प्रकृति को प्रसवधर्मिणी कहा गया है। वस्तुतः देखा जाये तो सत्व, रज व तम तीनों गुणों की साम्य व वैषम्य अवस्था ही प्रकृति है। सांख्य शास्त्र में तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा है।

सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।। (सां.सू. 1/61)

विषमावस्था में ये तीनों गुण आपस में कम अधिक मात्रा में मिश्रित होकर सृष्टि या दृश्यमान जगत् के रूप में परिणत हो जाते है। संसार में व्यक्त पदार्थो को देखकर सांख्य दर्शन में अव्यक्त का अनुमान किया गया है। यह जड़ जगत अव्यक्त जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न है क्योंकि जड़ से चेतन की उत्पत्ति असम्भव है और न ही चेतन पुरुष इस जड़ जगत् का कारण हो सकता है अतः इस जड़ जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण अचेतन प्रकृति ही है। चैतन्य पुरुष से प्रतिबिम्बित होने के कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवत प्रतीत होती है। पुरुष व चेतन तत्त्व को जानने से पूर्व प्रकृति व जड़ तत्त्व के विषय में भो जानना आवश्यक है। संसार में जितने भो सकारण, अनित्य, पराक्षेपी, सावयव तथा अव्यापि तत्त्व है वह व्यक्त है और अव्यक्त व्यक्त से विलक्षण ;भिन्नद्ध है।

3.3.2 व्यक्त एवं अव्यक्त में वैधर्म्य –

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।। (सां.का., 10)

अर्थात् जो पदार्थ सकारण, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय अनेक, अन्य कारणों पर आश्रित, मूलप्रकृति का अनुमापक अवयवयुक्त, परतन्त्र तथा पराक्षेपी है वह व्यक्त है तथा इसके विपरित अव्यक्त है। इस प्रकार व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति का स्वरूप इस प्रकार है–

हेतुमत् –

व्यक्त हेतुमत् होता है। सभो व्यक्त पदार्थों का 'हेतु' (कारण) 'प्रधान' (प्रकृति) है। महत् से लेकर स्थूलभत् पर्यन्त जितने भो 23 तत्व है वह सभो व्यक्त हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि सभो का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। पञ्चमहाभतों का कारण पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चतन्मात्राओं और 11 इन्द्रियों का कारण अहंकार, अहंकार का महत्तत्त्व तथा महत्तत्त्व का कारण मूलप्रकृति है। परन्तु मूल प्रकृति का कोई कारण नहीं है अतः वह अव्यक्त तथा कारण रहित है।

यहाँ एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस प्रकार व्यक्त के आधार पर अव्यक्त कारण का अनुमान किया गया है उसी प्रकार अव्यक्त के आधार पर उसके भो कारण का अनुमान कर सकते हैं। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि व्यक्त पदार्थों को देखकर ही अव्यक्त का अनुमान होता है परन्तु अव्यक्त या प्रधान तत्व को हम देख नहीं सकते अतः उसके कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता और यदि उसके कारण भो कल्पना करते है तो कारण के भो कारण की कल्पना करने के कारण अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः व्यक्त प्रकृति के आधार पर अव्यक्त प्रकृति की सत्ता की सिद्धि होती है।

अनित्यम् –

व्यक्त विनाशी, तिरोभावी है। महदादि व्यक्त अपने मूल कारण अव्यक्त में रहते है। सांख्य के अनुसार किसी भो तत्त्व का विनाश नहीं होता वरन् उसका आविर्भाव व तिरोभाव होता है।

सांख्य के अनुसार कार्य व्यक्त रूप है तथा वह अव्यक्त रूप में अपने कारण में विद्यमान रहता है अतः अनित्यता से अभिप्राय यहाँ वेदान्तदर्शन के अनुसार विनाश से नहीं है वरन् कार्य का अपने कारण रूप में लय हो जाना है। प्रधान या मूल प्रकृति का कोई कारण नहीं है अतः वह किसी में लय भो नहीं होती है अतः मूल प्रकृति नित्य है और उससे उत्पन्न महदादि 23 व्यक्त तत्त्व अनित्य हैं।

अव्यापि –

व्यक्त सर्वगत नहीं है। कार्य होने से अव्यापक है। व्यक्त पदार्थ अव्यापि हैं। भारतीय दर्शनों में व्याप्य व व्यापक दो तत्त्वों की कल्पना की गयी है। व्याप्य कम स्थान में रहता है तथा व्यापक अधिक स्थान घेरता है। जैसे अग्नि व धुएँ में व्याप्य व्यापक सम्बंध है। व्यापक अग्नि जहाँ धुआँ नहीं होता वहाँ भो होती है तथा व्याप्य धुआँ उसकी अपेक्षा कम स्थानों पर होता है। अतः कारण व कार्य में भो व्याप्य–व्यापक सम्बंध होता है। कारण व्यापक होता है तथा कार्य कारण की अपेक्षा कम देश में रहता है अतः व्याप्य है।

मूलप्रकृति समस्त व्यक्त पदार्थों का कारण होने से व्यापक तत्व है तथा व्यक्त कार्य मूल प्रकृति की अपेक्षा कम व्यापक या अव्यापी है। कुछ अंशों में व्यक्त व अव्यक्त से सर्वथा विपरीत पुरुष तत्त्व सर्वव्यापी है।

सक्रियम् –

सभो व्यक्त पदार्थ सक्रिय हैं, यह उनमें समानता है। क्रिया से अभिप्राय गमन आदि रूप परिस्पंदन, आकुञ्चन, प्रसारण व संवरण रूप से है। क्रियाशीलता व्यक्त का गुण है। सत्व, रज व तम तीनों गुण मूलप्रकृति में भो विद्यमान रहते है परन्तु मूलप्रकृति में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते है अतः उनमें क्रियाशीलता होना सम्भव नहीं है जब गुणों में वैषम्य होता है तब गुणों में क्षोभ के कारण क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। महत् से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक व्यक्त सक्रिय है किंतु म्लप्रकृति गमनागमन, परिस्पन्दन आदि क्रियाओं से रहित होने के कारण निष्क्रिय है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन भाष्य में क्रिया से अभिप्राय 'आलोचन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय उन नियत क्रियाओं से युक्त होना किया है जो किसी न किसी कार्य से सम्बंधित होती है। प्रधान या मूल प्रकृति में यह क्रियायें निश्चित रूप से नहीं होती अतः वह क्रिया रहित या निष्क्रिय है।

अनेकम् –

प्रत्येक पुरुष के प्रति बुद्धि से लेकर तन्मात्र तक सूक्ष्म शरीर भिन्न–भिन्न हैं। पृथ्वी आदि पंचभ्त भो पार्थिव, जलीय या अण्डज आदि भदों से अनेक हैं। अनेक से अभिप्राय एक से अधिक या सजातीय भद से युक्त। व्यक्त पदार्थ अनेक है किंतु मूल प्रकृति एक ही है। बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें तथा एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभ्त, यह सभो व्यक्त हैं अतः अनेक है। प्रति पुरुष महत् (बुद्धि) आदि तथा शरीर, घट आदि भद से पृथ्वी भो अनेक है। मूल प्रकृति तीनों गुणों का समाहार रूप है अतः वह एक ही है, तीन नहीं।

आश्रितम् –

व्यक्त पदार्थ आश्रित है अपने अपने कारण पर। महत् से लेकर स्थूल भ्त पर्यन्त सम्पूर्ण व्यक्त तत्व अपने–अपने कारणों पर निभर करते है अतः व्यक्त आश्रित है इसके विपरित अव्यक्त अनाश्रित है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है तथा सर्वथा भिन्न होने से 'पुरुष' के साथ भो उसका आश्रय– आश्रयीभाव नहीं है। व्यापक आश्रय व व्याप्य आश्रयी होता है, पुरुष स्वयं व्यापक है अतः मूल प्रकृति के साथ उसका व्याप्य–व्यापक सम्बंध नहीं बनता अतः अव्यक्त अनाश्रित ही है।

लिंगम् –

बुद्धि (महत् तत्त्व) आदि व्यक्त अव्यक्त के लिंग हैं। लिंग से अभिप्राय है अनुमापक हेतु। व्यक्त महदादि सम्पूर्ण तत्त्व मूल प्रकृति के ही अनुमापक हेतु है। व्यक्त को लिंगम् इसलिए भो कहा जाता है; लयं गच्छति इति लिंगम् क्योंकि अन्त में लय को प्राप्त हो जाते हैं। प्रलय काल में आकाश आदि पञ्चमहाभ्त पञ्च तन्मात्राओं में विलीन हो जाते है।

तन्मात्राओं का विलय अहंकार तथा अहंकार का महत् तत्त्व में विलय हो जाता है। विलय से अभिप्राय तिरोभाव है, विनाश नहीं। प्रधान या मूल–प्रकृति का विलय नहीं होता अतः वह लिंग नहीं है, अलिंग है। यहाँ मुख्य बिन्दु ध्यान देने योग्य यह है कि मूलप्रकृति पुरुष का लिंग होते हुए भो स्वयं का लिंग या अनुमापक हेतु नहीं है। अतः सांख्यकारिका की टीका के अनुसार लिंग हेतु व्यक्त के लिए अधिक उपयुक्त है। मूलप्रकृति अलिंगम् है।

सावयवम् –

सभो व्यक्त पदार्थ हेतुमत् होने से अवयव सहित भो हैं। स+अव उपसर्ग पूर्वक 'यु' मिश्रणे धातु से ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न अवयव शब्द का अभिप्राय है मिश्रण। अवयव अपने ही प्रकार के अन्य भदों के साथ मिश्रित या संयुक्त रहता है। व्यक्त में आकाश, पृथ्वी, जल आदि तत्व परस्पर संयुक्त रहते है अतः व्यक्त सावयव हैं तथा मूल प्रकृति का बुद्धि आदि के साथ संयोग सम्बंध नहीं बनता अतः वह निरवयव है।

परन्त्रम् –

बुद्धि आदि व्यक्त पराधीन हैं क्योंकि वे अपना अपना कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है। व्यक्त पदार्थ अपने कार्य को प्रकृत्यापूर के बिना उत्पन्न नहीं कर सकता। मूलप्रकृति की त्रिगुणात्मिका शक्ति के अभाव में महत् से लेकर स्थूलभ्त सम्पूर्ण तत्त्वों की उत्पत्ति असम्भव है अतः व्यक्त परतन्त्र है जबकि मूल प्रकृति महदादि तत्वों के उत्पादन में स्वतन्त्र है किसी पर निभर नहीं है।

विपरीतम् –

अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त से विरूद्ध धर्म बताने हेतु कहा–''विपरीतमव्यक्तम्''। इस प्रकार व्यक्त में जो विशेषतायें बताई गई है कि वह सकारण, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित लिंग, सावयव व परतंत्र है, ठीक इनसे विपरीत अव्यक्त कारणरहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव तथा स्वतन्त्र है। इनमें व्यक्त के धर्म अनेकत्व तथा अव्यक्त के धर्म अहेतुमत्व, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिंग तथा निरवयव यह सभो पुरुष पर भो घटित होते है। व्यक्त अव्यक्त से उत्पन्न है अतः कारण के गुण अपने कार्य में विद्यमान होगे। व्यक्त अव्यक्त में कुछ भिन्नताओं के बावजूद उनमें साधर्म्य भो है। इस प्रकार पुरुष कुछ विशेषताओं जैसे अनेक होने से व्यक्त के समान, कारण रहित होने के कारण अव्यक्त (मूल प्रकृति) के समान तथा निर्गुण, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी होने से व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। सांख्यकारिकाकार ने परस्पर में व्यक्त, अव्यक्त व पुरुष के साधर्म्य व वैधर्म्य को निम्नकारिका में दर्शाया है–

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। (साख्य काटिका, 11)

व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य तीनों गुणों से युक्त होना, विवेकरहित, विषय अर्थात् पुरुष के द्वारा उपभोग योग्य, सामान्य, जड़ तथा उत्पादशील होना है। पुरुष इन सबसे भिन्न निर्गुण, विवेकी, विशेष, चेतन तथा प्रसवधर्म से रहित है। कारण रहित होने से प्रधान तथा अनेक होने से व्यक्त के समान भो होता है। जैसाकि पूर्व में कहा है–अहेतुमत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रित्व, अलिंगत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व यह प्रकृति का पुरुष से साधर्म्य है।

3.3.3 व्यक्त एवं अव्यक्त में साधर्म्य –

त्रिगुणम् –

व्यक्त तथा प्रधान (अव्यक्त) का प्रथम साधर्म्य त्रिगुणत्व है। व्यक्त एवं अव्यक्त में हेतुमद्–अहेतुमद् अनित्यत्व–नित्यत्व, व्यापित्व–अव्यापित्व आदि भद होते हुए भो कुछ अंशों में साधर्म्य भो है। सांख्य का 'सत्कार्यवाद' कार्य–कारण के इसी सिद्धान्त पर टिका हुआ है कि कारण के गुण अपने कार्य में रहते है। अव्यक्त प्रकृति तीन गुणों सत्व रज व तम से युक्त है अतः व्यक्त महदादि में भो ये तीनों गुण पाये जाते है। व्यक्त तथा प्रधान (अव्यक्त) सत्वरजस् तमोगुणात्मक अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक हैं यह उनका साधर्म्य है। सांख्य शास्त्र में सुख को सत्व का, दुःख को रज का तथा मोह को तम का धर्म कहा गया है अतः प्रकृति सुखदुःखमोहात्मिका है। पुरुष सुख दुःख मोह से परे है क्योंकि वह निर्गुण है।

अविवेकि –

जिसमें विवेक का अभाव हो उसे अविवेकि कहेगें। विवेक से अभिप्राय 'पृथक्' होने के स्वभाव से युक्त होता है। मूलप्रकृति व महदादि कार्य एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते अतः यह अविवेकि कहे गये है। कारण व कार्य के अलग होने को ही विवेक कहते है। पुरुष का प्रकृति से भिन्नता का ज्ञान होना ही मोक्ष का कारण है और वह 'विवेक ज्ञान' ही है। प्रकृति में अपना भद अपने में ही करने की क्षमता नहीं है अतः प्रकृति (अव्यक्त) को अविवेकि कहा गया है तथा व्यक्त महदादि भो प्रधानात्मक हैं, प्रधान से अभिन्न हैं अतः व्यक्त भो अविवेकी हैं। अथवा संहत्य–कार्यकारिता (मिलकर कार्य करना) रूप अविवेकित्व व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों का साधर्म्य है।

विषयम् –

सांख्य व्यक्त व अव्यक्त दोनों को विषय मानता है तथा इसका अर्थ ग्राह्य होता है। विषय अपने ग्राहक विज्ञान (बुद्धि) ही के आकार विशेष हर्ष, विषाद और मोहादि में परिणत हो जाती तो एक ही स्त्री को देखकर अनुरक्त, द्वेषी और विमूढ़ तीनों को सुखदुःख मोह रूप भिन्न–भिन्न ज्ञान नहीं होता। अतः विषय के रूप में वस्तु की स्वतंत्र सत्ता है। वस्तु विज्ञान का आकार विशेष मात्र नहीं है वह विषय है। योगाचार के मत का खण्डन करने के लिए व्यक्त और अव्यक्त को विषय कहा।

सामान्यम् –

व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति सामान्य है। यह तत्त्व अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। बौद्धो के अनुसार यदि वस्तुओं को विज्ञान के आकार ही मानते हैं तो विज्ञान के वृत्तिसरूप होने से घर पर वस्तुएँ लोक प्रसिद्ध सामान्य नहीं हो सकती, वह असाधारण ही बनी रहेंगी। एक व्यक्ति के विज्ञान (बुद्धि) का पदार्थ दूसरे के द्वारा वैसा न होकर अपनी बुद्धि के रूप में ही समझा जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। घट, घट के रूप में दोनों को प्रतीत होता है अतः व्यक्त एवं अव्यक्त सामान्य हैं बुद्धि या विज्ञान के आकार विशेष नहीं।

अचेतनम् –

चेतन शब्द चिति संज्ञाने धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। चेतन से अभिप्राय अपने को प्रकाशित करने की सामर्थ्य से है। व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति स्वयं को प्रकाशित करने में असमर्थ है अतः वह अचेतन है। वस्तुतः मन बुद्धि आदि में जो चेतनता की प्रतीति होती है वह चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण होती है। बुद्धि विशुद्ध चैतन्य से प्रकाश लेकर ही स्वयं को प्रकाशित करती है तथा बाह्य विषयों को भो प्रकाशित करती है। अतः 'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' (प्रधान) अनवभासक होने से स्वप्रकाशचेतन से भिन्न अचेतन हैं।

प्रसवधर्मि –

व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति प्रसवधर्मिता साधर्म्य से युक्त होती है। प्रसव से अभिप्राय परिणाम से भो है। महत् से अहंकार आदि क्रम से अव्यक्त होने के कारण व्यक्त प्रसवधर्मि है। प्रकृति से बुद्धि आदि भिन्न तत्त्वों के रूप में विरूद्धप परिणाम तथा सत्व, रज व तम के रूप में सरूप परिणाम होते है। प्रलय में तीनों गुण साम्यावस्था में होते है अतः सरूपपरिणाम होते है। अतः प्रकृति कभो भो प्रसवधर्मिता अर्थात् परिणाम से विरत नहीं है। पुरुष प्रसवधर्म व परिणाम से रहित होता है। अतः कारिका में 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान् कहा गया है।

उपर्युक्त व्यक्त व अव्यक्त की जो विशेषतायें बतायी गई है पुरुष उन सबसे विपरीत निर्गुण, विवेकि, विषयी, चेतन है तथा प्रसवधर्मिता से रहित है। कारणरहित तथा नित्य ये दोनों धर्म मूलप्रकृति व पुरुष दोनों में पाये जाते है।

3.3.4 सांख्य में 'ज्ञ' पुरुष

महदादि के व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकृति के स्वरूप के विवेचन के पश्चात् सांख्य के 'ज्ञ' पुरुष का विचार करना आवश्यक है। सांख्य का 'ज्ञ' तत्व परोक्ष है, उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता वह 'त्रिगुणातीत' व 'निर्लिप्त' है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण एवं आप्त प्रमाण का आलम्बन ही लिया जा सकता है।

सांख्य सम्मत 'ज्ञ' पुरुष 'त्रिगुणतीत' है क्योंकि उसमें तीनों गुणों सत्व रज व तम का अभाव है। वह 'अहेतुमान्' है क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। वह 'नित्य' सर्वव्यापी व निष्क्रिय है। उसमें 'रजस्' तत्व न होने से क्रियाशीलता का अभाव है। सांख्य में पुरुष अनेकता का सिद्धान्त प्रसिद्ध है परन्तु बद्ध पुरुष अनेक है। 'ज्ञ' तत्व एक है तभो उसका मूलप्रकृति के साथ साम्य है। 'तथा च पुमान्' इसी साधर्म्य की सिद्धि करता है। गौडपादभाष्य में भो 'पुमानप्येकः' कहा गया है।

मूल प्रकृति व पुरुष में व्यापकता, निष्क्रियता अनाश्रितत्व, अवयवरहितता, अलिंग व स्वतन्त्रता समान रूप से है किंतु निर्गुणत्व व चेतनता ऐसे गुण है जो पुरुष को प्रकृति से अलग करते है। प्रकृति जड़ है तो पुरुष चेतन व आत्म तत्व है। वह विषयी, ज्ञाता तथा अनुभाविता है। सांख्य का पुरुष नित्य तथा व्यापक है।

3.4 पुरुष की सत्ता में प्रमाण

व्यवहार में यूं तो 'मैं हूँ' या 'यह मेरा है' जैसे वाक्य पुरुष की सत्ता को सिद्ध करते है परन्तु सांख्य प्रकृति के समान ही पुरुष की सिद्धि भो अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करता है। अनुमान के लिए हेतुओं की आवश्यकता होती है अतः प्रकृति से भिन्न पुरुष सिद्धि के लिए सांख्य में निम्न कारिका दी गई है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। (सांख्य काटिका,18)

3.4.1 संघातपरार्थत्वात् –

संघात से अभिप्राय है मिश्रण या अवयवों से युक्त पदार्थ जैसे पलंग आदि सभो पदार्थ दूसरे के उपभोग के लिए होते है। अतः संघात दूसरे के लिए होता है। अव्यक्त प्रकृति तथा उसके संघात रूपी समस्त व्यक्त कार्य समूह जड़ होने के कारण अपने लिए नहीं होता वरन् उन सब पदार्थो की सत्ता किसी अन्य के लिए होती है जो चेतन है। स्वयं प्रकृति तथा उससे उत्पन्न सम्पूर्ण कार्य समूह चेतन पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए होता है। प्रयोजन दो प्रकार का होता है– भाग और अपवर्ग अथवा मोक्ष। प्रकृति के तीनों गुण, बुद्धि, अहंकार मन और इन्द्रियाँ सभो पुरुष के भाग और अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए होते है। अतः अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त सम्पूर्ण कार्य व्यापार चेतन पुरुष की सत्ता की सिद्धि करता है।

3.4.2 त्रिगुणादिविपर्ययात् –

अव्यक्त प्रकृति तथा उसका महदादि व्यक्त कार्य समूह सभो त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणत्व, अविवेकत्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व यह सभो धर्म महदादि व्यक्त एवं अव्यक्त के सामान्य धर्म है। लोक के सभो पदार्थ तीनों गुणों से पूर्ण है। परन्तु तीनों गुणों की मात्रा में न्यूनाधिक्य है। सभो पदार्थों में गुणों की मात्रा समान नहीं है। कहीं सत्व गुण की अधिकता है, तो कहीं तम व रजोगुण की अधिकता है। गुणों की यह मात्रा कहीं कम व कहीं अधिक है। गुणों की कम व अधिक की मात्रा से अनुमान होता है कि कोई ऐसा तत्व भो होना चाहिये जिसमें इन तीनों गुणों का नितान्त अभाव है और वह तत्त्व पुरुष है। यदि एक संघात पदार्थ शय्या, आसन आदि का प्रयोजन दूसरे संघात शरीर के लिए है तो अन्ततः अनवस्था दोष से बचने के लिए यह मानना होगा कि त्रिगुणत्व, अविवेकिता, विषयता, सामान्यता, अचेतनता तथा प्रसवधर्मिता ये सभो गुण संघात के लिए है परन्तु अन्ततः संघात का प्रयोजन उससे भिन्न त्रिगुण रहित उस चेतन तत्त्व 'पुरुष' के लिए होता है। इस प्रकार त्रिगुणादिविपर्ययात् हेतु के द्वारा पुरुष की सत्ता को प्रमाणित किया गया है।

3.4.3 अधिष्ठानात् –

पुरुष की सत्ता सिद्धि के लिए तीसरा तर्क यह दिया गया है कि त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण प्रकृति का कोई न कोई आश्रय या अधिष्ठान है। जिस प्रकार बिना चेतन सारथी के रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना एक चेतन अधिष्ठाता के बुद्धि आदि परिणमित होने में प्रवर्तित नहीं हो सकते। हमारा लौकिक ज्ञान, सुख दुःख का अनुभव, बुद्धि अहंकार तथा मनोमूलक

हमारी समस्त चित्तवृत्तियाँ ज्ञाता और अनुभाविता की ओर संकेत करती है, जो समस्त ज्ञान और अनुभव के अधिष्ठान के रूप में पुरुष की सत्ता को सिद्ध करती है। सभो गुणात्मक व अचेतन पदार्थों से भिन्न त्रिगुणातीत ओर चैतन्य रूप पुरुष की सत्ता का साधक यह तर्क सत्तामूलक प्रमाण (जपींश्रेसळलरश्र झीष) कहा जाता है।

3.4.4 भोक्तृभावात् –

अव्यक्त तथा महदादि व्यक्त सभो पदार्थ अर्थात् प्रकृति तथा उसका सम्पूर्ण व्यक्त कार्य समूह जड़ होने से भाग्य है। वह अचेतन, त्रिगुणात्मक तथा सुखदुःखमोहात्मक है। ये जड़ होने से न तो अपना उपभोग कर सकते हैं तथा न ही सुख, दुःख और मोह का अनुभव स्वयं कर सकते हैं अतः इनका भोक्ता कोई अन्य होना चाहिये। जहाँ भोग्य होगा वहाँ भोक्ता का होना निश्चित है।

– इह लोके भोग्यं दृष्ट्वा भोक्तानुमीयते।

जड़ महदादि केवल भोग्य है अतः इनसे पृथक् कोई भोक्ता अवश्य है– वह पुरुष ही है। पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए यह नीति शास्त्रीय तर्क (Ethical Proof) कहा जाता है। चेतन पुरुष के कारण ही प्रकृति नाना प्रकार के क्रियाकलापों में प्रवृत्त होती है। इन्द्रियों एवं विषयों के विद्यमान् रहते हुए भो चैतन्य के अभाव में कोई क्रियाकलाप संभव नहीं है।

प्रकृति के नाना प्रकार की समधुर ध्वनियाँ, सौन्दर्य, माधुर्य आदि समस्त पदार्थों के होते हुए भो प्रकृति स्वयं इनका भोग नहीं करती । इनका उपभोक्ता प्रकृति से भिन्न कोई चेतन तत्व है वह तत्व ही पुरुष है।

3.4.5 कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च –

पुरुष के अस्तित्व में एक प्रमाण यह भो है कि कोई व्यक्ति सब कुछ रहते हुए भो असंतुष्ट, अतृप्त, अशांत रहते है और कैवल्य चाहने लगते है। कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए बद्धपुरुष ही प्रयत्न करता है। संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रवृत्ति कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए देखी गई है। त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य या मोक्ष कहा गया है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्रकृति व पुरुष के विवेकज्ञान से सम्भव है। 'बद्धपुरुष' अपनी मुक्ति के लिए तथा दुःखों से आत्यान्तिक निवृत्ति पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इन प्रयत्नों से स्पष्ट है कि बुद्धि आदि भो सुख दुःख मोहात्मक तत्वों से भिन्न अन्य कोई चेतन तत्व है जो अपने वास्तविक स्वरूप अथवा कैवल्य प्राप्ति को पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यही तत्व पुरुष है। पुरुष की सत्ता का साधक यह तर्क धार्मिक प्रमाण (Mystical Religious Proof) कहा जाता हैं।

बद्ध जीव ही मुक्ति के लिए प्रयास करता है। निर्लिप्त, त्रिगुणातीत व 'ज्ञ' पुरुष तत्व ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ स्वयं को कर्त्ता मानने से बद्ध के समान प्रतीत होता है अतः वह मुक्ति के लिए प्रयास कैवल्यार्थ प्रवृति है। इस प्रकार बद्ध पुरुष की सत्ता को उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा सांख्य मत में सिद्ध किया गया है।

विविध दर्शनों में 'पुरुष' तत्व की अवधारण –

सांख्य में पुरुष शुद्ध, चैतन्य व प्रकाश स्वरूप है। वह नित्य, विभ व कूटस्थ है। वह निर्गुण, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, इन्द्रियातीत, बुद्धि व मन से परे है। वह चिद्रूप है तथा प्रकृति से भिन्न मात्र द्रष्टा है। सांख्य कारिका के विशेष अध्ययन से यह निष्कष निकलता है कि सांख्य में पुरुष व प्रकृति जिन दो तत्त्वों की प्रधानतः चर्चा की गई है उस आधार पर हम कह सकते है कि सांख्य में पुरुष चैतन्य रूप है तो प्रकृति अचेतन है। पुरुष निष्क्रिय है तो प्रकृति सक्रिय है। पुरुष निर्गुण है तो प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। पुरुष विषयी या प्रमाता है तो प्रकृति विषय या प्रमेय है। सांख्य प्रवचनभाष्य में विज्ञान भिक्षु के अनुसार – शरीरादिव्यतिरिक्तःपुमान्।। (1/39) अर्थात् पुरुष तत्व शरीर से भिन्न है प्रकृति के 24 तत्वों से भिन्न 'पुरुष' भोक्ता व द्रष्टा मात्र है। यह सूर्य के समान प्रकाशमान है।

इस आधार पर सांख्य का पुरुष तत्व वेदान्त के आत्म तत्व से साम्य रखता है किंतु शंकर ने आत्मा को चैतन्य के साथ–साथ आनन्दमय माना है। आत्मा सत् चित् आनन्द मय है।

सांख्य आत्मा को आनन्दमय नहीं मानता। निर्गुण होने से पुरुष में सुख दुःख व सुख से परे है, सुख दुःख का सम्बंध बुद्धि से है तथा पुरुष बुद्धि से भिन्न है।
सांख्य में पुरुष चेतन है। न्याय–वैशेषिक में आत्मा को अचेतन कहा गया है। उसमें चेतना का संचार मन, शरीर और इन्द्रियों के सम्पर्क से होता है। न्याय वैशेषिक में चेतनता आत्मा का आगन्तुक लक्षण है परन्तु सांख्य में पुरुष चैतन्य स्वरूप है। न्याय वैशेषिक आत्मा को सुख दुःख, राग–द्वेष, इच्छा–अनिच्छा आदि का आधार मानता है परन्तु सांख्य इन सबका आधार बुद्धि को स्वीकार करता है।
सांख्यों का पुरुष विचार बुद्ध आत्मा सम्बंधी विचार से भो भिन्न है। बुद्ध आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानते है उनके अनुसार आत्मा हर क्षण परिवर्तनशील है जबकि सांख्य पुरुष को नित्य मानते है। यदि पुरुष परिवर्तन शील होता तो वह समय–समय पर असमर्थ भो हो सकता था परन्तु ऐसा होता नहीं है।
सांख्य चार्वाकों के आत्मा सम्बंधी विचारों से भो भिन्नता रखता है। चार्वाक भोतिकवादी है। वह आत्मा नाम की शरीर से भिन्न कोई सत्ता स्वीकार नहीं करता परन्तु सांख्य आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है। शरीर, मन इन्द्रियाँ यह सभो त्रिगुणात्मिका प्रकृति से निर्मित है अतः जड़ है तथा नश्वर है। पुरुष चेतन तथा सर्वव्यापी है अतः चार्वाकों से सांख्य का पुरुष एक दम भिन्न चैतन्य सत्ता है। इस प्रकार सांख्य का 'पुरुष' या आत्मा सम्बंधी विचार अन्य दर्शनों से पर्याप्त भिन्नता लिए हुए है।

3.5 पुरुष अनेकता की सिद्धि –

वेदान्त आत्मा को एक मानता है परन्तु सांख्य दार्शनिक पुरुष ;आत्माद्ध की अनेकता में विश्वास करते है। सांख्य दर्शन में पुरुष की सत्ता की सिद्धि हो जाने पर सभो शरीरों का भिन्न–भिन्न अधिष्ठाता होने से आत्माएं या पुरुष अनेक है।
विज्ञान भिक्षु ने 'जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्' (1/49) कहकर जन्मादि की व्यवस्था से पुरुष का बहुत्व सिद्ध किया है। पुण्यवान स्वर्ग जाते है, पापी व अज्ञ नरक में जाते है ज्ञानी मुक्त होते है। यह सब विभाग दर्शाते है कि पुरुष अनेक है 'बद्ध पुरुष' की अनेकता की सिद्धि के लिये सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण निम्न कारिका प्रस्तुत करते है –

जननमरणकरणानां प्रति नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।। (सांख्य काटिका,18)

3.5.1 जननप्रतिनियमात् –

प्रत्येक व्यक्ति का जन्म अलग–अलग होता है। यदि पुरुष प्रति शरीर भिन्न–भिन्न न हो तो एक के जन्म लेने पर सभो का जन्म हो परन्तु ऐसा नहीं होता है। एक व्यक्ति के उत्पन्न होने पर सभो उत्पन्न नहीं होते अतः यह कहा जा सकता है। कि पुरुष अनेक या असंख्य है।

3.5.2 मरणप्रतिनियमात् –

प्रत्येक व्यक्ति के अलग–अलग देश व काल में मरने से अनेक पुरुषों की सिद्धि होती है। एक व्यक्ति के मरने पर सभो व्यक्ति मर जाते हो, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार एक व्यक्ति के बद्ध होने पर सभो बद्ध तथा एक के मुक्त होने पर सभो मुक्त नहीं होते अतः यह सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक है।

3.5.3 करणानां प्रतिनियमात् –

प्रत्येक व्यक्ति के करण अर्थात् इन्द्रियाँ अलग–अलग है। मन बुद्धि अहंकार, पञ्चकर्मेन्द्रयाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हर व्यक्ति में अलग–अलग है। यदि ऐसा न हो तो एक के अन्धा होने पर सभो अन्धे तथा एक के विक्षिप्त होने पर सभो विक्षिप्त हो जाते है। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। इससे पुरुष का अनेकत्व या बहुत्व सिद्ध होता है।

3.5.4 अयुगपत्प्रवृत्तेश्च –

लोक में विभिन्न व्यक्तियों की प्रवृत्ति अलग–अलग होने से पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। प्रवृत्ति से अभिप्राय प्रयत्न या चेष्टा से है। यद्यपि यह अन्तः करण में होती है परन्तु उपाचरतः पुरुष की ही मानी जाती है। यदि एक ही पुरुष की स्थिति को स्वीकार किया

जाये तो एक के उठने, बैठने चलने से सभो का उठना बैठना व चलना सम्पादित होना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है। श्वेताश्वर उपनिषद् में भो कहा गया है कि –

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सख्याः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।। (श्वेता; 4/5)

अर्थात् जब एक पुरुष भोग करता है तो दूसरा त्याग करता है। अतः पुरुष एक नहीं अनेक है।

3.5.5 त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव –

पुरुषों के परस्पर भद व अनेकता में एक कारण उनमें तीनों गुणों का न्यूनाधिक्य भाव का होना है। लोक में किसी में सत्व गुण की प्रधानता है तो किसी में रजोगुण की प्रधानता देखी जाती है तो पशु–पक्षियों आदि में तमोगुण की प्रधानता रहती है। त्रिगुणात्मक सृष्टि अनेक (अनन्त) है तो त्रैगुण्य का अभाव भो अनेक होगा अतः त्रिगुणों का अन्यथाभाव पुरुष होने से पुरुष का अनेकत्व सिद्ध है। यदि पुरुष एक होता तो उनमें तीनों गुणों का वैषम्य सिद्ध नहीं होता अतः प्रति शरीर का अधिष्ठाता अत्रिगुणात्मक पुरुष अनेक हैं।

समालोचना : इस प्रकार सांख्य दर्शन में पुरुष अनेकता का सिद्धान्त तथा दूसरी ओर पुरुष को निर्लिप्त व त्रिगुणातीत रूप में वर्णन करना दोनों मतों में विरोधाभास प्रतीत होता है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि पुरुष अनेकता का सिद्धान्त त्रिगुणातीत, निसंग व निर्लिप्त 'ज्ञ' के सम्बंध में उचित नहीं है वरन् यह समस्त युक्तियाँ 'बद्ध पुरुष' की अनेकता या सासांरिक जीवों की अनेकता की सिद्धि में ही प्रमाण है। इसी प्रकार भोक्ता होने का सिद्धान्त भो बद्धपुरुष पर ही लागू होता है क्योंकि उदासीन व निष्काम पुरुष भोक्ता कैसे हो सकता है? इसी प्रकार कैवल्य प्राप्ति में भो बद्ध पुरुष की प्रवृत्ति हो सकती है, मुक्त पुरुष की नहीं।

सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों की चर्चा है। एक प्रकार के पुरुष (जीव) है जो प्रकृति की सेवा में संलग्न हैं एक पुरुष (मुक्तजीव) है जो भाग के पश्चात् प्रकृति के संसर्ग को छोड़ देता है तथा तीसरा 'ज्ञ' पुरुष है जो निसंग, निर्लिप्त व त्रिगुणातीत है।

3.6 सांख्य सम्मत पुरुष के विविध धर्म –

सांख्यकारिका में कहा है –

''तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकतृभावश्च।। (सां.का., 19)

प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से अविवेकिता, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनता तथा प्रसवधर्मिता आदि प्रकृति के धर्म है। पुरुष त्रिगुणों से सर्वथा विपरीत है अतः निर्गुण है। सत्व, रज व तम तीनों गुणों से विपरीत होने के कारण उसमें प्रकृति के कतृत्व के प्रति साक्षीपन, विविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप कैवल्य, अपकार व उपकार की भावना से रहित होने के कारण मध्यस्थता, द्रष्ट्त्व व अकतृत्व आदि धर्मो की सिद्धि होती है। स्पष्ट है तीनों गुणों से रहित होने के कारण पुरुष निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है।

3.6.1 साक्षित्व –

संसार का समस्त कार्य व्यवहार प्रकृति के कारण है परन्तु इन समस्त कार्यों का द्रष्टा सचेतन पुरुष ही हो सकता है, अचेतन प्रकृति नहीं। जिसने विषय को देख लिया है वही साक्षी कहलाता है। प्रकृति अपने द्वारा गृहीत सम्पूर्ण विषयों को अपने में प्रतिबिम्बित पुरुष को दिखाने की भावना से समर्पित कर देती है। महत् (बुद्धि) चेतन नहीं है अतः सभो विषय किसी चेतन के बोध के विषय है। पुरुष चेतन होने से इन सबका द्रष्टा व साक्षी है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार –

साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम् (सां प्र. भा. 1/161) बुद्धि के साथ पुरुष का साक्षात् संबंध होने से ही पुरुष का साक्षित्व है। यह प्रकाश रूप आत्मा है अतः सुषुप्ति अवस्था में भो इसका साक्षित्व है। वस्तुतः भोग बुद्धि का ही होता है। बुद्धिवृत्ति चेतन में प्रतिबिम्बित होती है। सुख दुख साक्षात्कार रूप यह प्रतिबिम्बन ही पुरुष का भोग है। साक्षि मात्र होने से ही चैतन्य को भोक्ता कहा गया है।

3.6.2 कैवल्य –
आध्यात्मिक, आधिभोतिक व आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है। तीनों गुणों के अभाव के कारण 'पुरुष' को कैवल्य प्राप्त है। यह स्वभावतः है क्योंकि इस सम्बंध में सांख्यकारिकाकार ने कहा है कि 'न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्' बन्धन, मुक्ति तथा संसरण वस्तुतः प्रकृति का होता है, पुरुष इन सबसे मुक्त है। इसके लिए सांख्य में उदाहरण दिया गया है कि जैसे युद्ध वास्तविक रूप से दो सेनाओं के मध्य होता है पर जीत व हार का श्रेय राजा को जाता है उसी प्रकार बन्धन व मोक्ष प्रकृति का होता है परन्तु चेतनता के प्रतिबिम्ब के कारण पुरुष पर उसका आरोप मात्र होता है।

3.6.3 माध्यस्थ्य –
त्रिगुणों के अभाव के कारण पुरुष को मध्यस्थ भो कहा गया है। मध्यस्थ शब्द का प्रयोग तटस्थता व उदासीनता के लिए किया गया है। विज्ञान भिक्षु ने अनुसार 'साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम्' (1/161) अर्थात् बुद्धि के साथ पुरुष का साक्षात् सम्बंध होने के कारण पुरुष का साक्षित्व है। सुख व दुःख दोनों का अभाव होने के कारण पुरुष मध्यस्थ कहा गया है। सांख्य सूत्र में 'औदासीन्यं चेति' (163) माध्यस्थ को ही उदासीन कहा गया है। सुख व दुःख के अभाव के कारण वह उदासीन है।
त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही दृश्यमान् जगत् में परिणत होती है अतः वह दृश्य है। प्रकृति स्वयं द्रष्टा व दृश्य दोनों नहीं हो सकती है अतः बुद्धि के संयोग के कारण पुरुष द्रष्टा है।

3.6.4 अकर्तृत्व –
पुरुष अकता है। वह विवेकी है तथा प्रसवधर्म से रहित हैं जो दूसरे को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है वह ही कर्त्ता हो सकता है परन्तु पुरुष में तीनों गुणों का अभाव होने के कारण कतृत्व का भो अभाव है। इस प्रकार तीनों गुणों के अभाव के कारण पुरुष में साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व व अकृर्तत्व आदि धर्म है।

3.6.5 भोक्तृभाव –
भोक्तृभाव विषय में यह शंका होती है कि जो कर्ता नहीं है वह भोक्ता कैसे हो सकता है? सांख्यकारिका की टीका में यह शंका उठाई है कि भोग तो स्वयं किये गये कर्मो के फल का होता है जो जिस कम का कर्ता नहीं है वह उसका भोक्ता कैसे हो सकता है। इसका समाधान जयगमला टीका के आधार पर इस प्रकार दिया गया है–

बालहुताशनतरवः स्वयमकृतानां यथा हि भोक्ताारः।
पुरुषोऽपि विषयफलानां स्वयमकृतानां तथैवभोक्ता।।

अर्थात् जिस प्रकार बालक, अग्नि तथा वृक्ष अपने द्वारा असम्पादित भो फल का उपभोग करते ह, उसी प्रकार पुरुष अपने द्वारा नहीं किये गये कार्यो का भो भोक्ता है। चेतन पुरुष में कतृत्व का अभाव तथा जड़ प्रकृति का कतृत्व युक्त होना विरोधाभास सा प्रतीत होता है। इसका
समाधान सांख्यकारिका में इस प्रकार किया गया है।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।।20।।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रज व तम गुणों के कारण वह जड़ है। चेतन पुरुष के संयोग से लिंग ;अर्थात् मूल प्रकृति के साधक हेतुद्ध बुद्धि आदि अचेतन होते हुए भो चेतन की तरह प्रतीत होते है। कतृत्व के सत्व, रज व तम आदि गुणों से युक्त होने के कारण उसके सानिध्य के कारण उदासीन पुरुष भो कर्ता प्रतीत होता हैं।
कर्तृत्व (मैं यह काम करता हूँ) तथा द्रष्टत्व (मैं इसे जानता हूँ) के समानाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय के कारण भांति उत्पन्न होती है पर वस्तुतः महत् से लेकर पंचभत् पर्यन्त सभो पदार्थ अचेतन है परन्तु चेतन पुरुष के संयोग से वह उसी प्रकार चेतन प्रतीत होने लगते है जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सम्पर्क से लोहे का टुकड़ा चंचल प्रतीत होने लगता है। अतः पुरुष को भोक्ता व सर्वकार्यकर्ता प्रतीत होना माना गया है। साक्षिभाव होने से ही

पुरुष को भोक्ता कहा गया है। जिस प्रकार योद्धा की जय–पराजय राजा की जय–पराजय होती है। उसी प्रकार प्रकृति का भोग भो पुरुष का भोग कहा गया है।
माठर वृत्ति में घड़े का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार घड़ा स्वयं न गर्म होता है, न ठंडा परन्तु वह ठंडे जल के संयोग से ठंडा तथा अग्नि के संयोग से गर्म प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार चेतन पुरुष के संयोग से जड़ प्रकृति चेतन प्रतीत होने लगती है। विज्ञानभिक्षु भो सांख्य प्रवचन भाष्य में कहते है कि जिस प्रकार आग व लोहे में एक दूसरे के धर्म आ जाते है या जल व सूय में संयोग से परस्पर के धर्म शीतलता व उष्णता का आरोप हो जाता है उसी प्रकार उदासीन पुरुष भो बुद्धि में उपरक्त होने के कारण अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि आदि धर्म कर्तृत्व का कर्ता प्रतीत होने लगता है। अतः स्पष्ट है पुरुष कर्ता नहीं है परन्तु प्रकृति के संयोग से वह कर्ता प्रतीत होने लगता है। जब विवेक ज्ञान हो जाता है तो इस भांति का भो निवारण हो जाता है। यह भांति ही 'अविद्या' है तथा सांख्य में इसे ही प्रकृति व पुरुष का बन्धन व सृष्टि का कारण गया है।
इस प्रकार अनाश्रितत्व, अलिंगत्व, निरवयवत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसधर्मिता, साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ, औदासीन्य, दृष्टृत्व तथा अकर्तृत्व ये सभो धर्म निर्लिप्त 'ज्ञ' पुरुष के है। पुरुष की सत्ता सिद्धि की युक्तियाँ बद्ध पुरुष से सम्बंध रखती है। बद्ध पुरुष अनेक है।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. पुरुष – सांख्य में पुरुष शब्द का प्रयोग आत्मा व चैतन्य तत्व के लिए हुआ है।
2. कूटस्थ – जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।
3. त्रिगुणात्मक – सत्व, रज व तम तीनों गुणों से मिलकर बना है। अतः प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा है।
4. माध्यस्थ – तटस्थ या उदासीन।जो परस्पर विरोधी पक्षों में से किसी की तरफ न हो।
5. विभु – सर्वव्यापक
6. निर्गुण – सत्व, रज व तम तीनों गुणों से रहित।
7. अधिष्ठानात् – आश्रय। जो वस्तुएँ सत्व, रज, तम तीनों गुणों से युक्त है उनका कोई न कोई भिन्न अधिष्ठाता होगा।
8. भोक्तृभावात् – भोग्य वस्तुओं की प्रतीति इस बात को सिद्ध करती है कि कोई न कोई भोक्ता अवश्य है।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सांख्य द्वैतवादी दर्शन है क्योंकि –
(अ) इसमें ब्रह्म व माया का वर्णन हैं
(ब) प्रकृति व पुरुष की सत्ता को स्वीकार करता है।
(स) पुरुष अनेकता में विश्वास करता है।
(द) यह प्रकृति की जड़ता को स्वीकार करता है।

2. सांख्य के अनुसार पुरुष है–
(अ) जगत् का सृष्टिकर्ता (ब) ईश्वर
(स) नित्य एवं चैतन्य रूप (द) प्रकृति का सेवक

3. पुरुष की सत्ता की सिद्धि होती है क्योंकि –
(अ) सघांतपरार्थत्वात् (ब) समन्वयात्
(स) शक्तितः प्रवृतेश्च (द) कारणकार्यविभागात्

4. सांख्य के अनुसार पुरुष है–
(अ) प्रकृति व विकृति दोनों (ब) प्रकृति
(स) न प्रकृति न विकृति (द) विकृति

निबन्धात्मक प्रश्न –

प्र.1 सांख्य द्वारा पुरुष के स्वरूप की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिये?

प्र.2 पुरुष अनेकता को प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कीजिये?

प्र.3 व्यक्त व अव्यक्त प्रकृति का साधर्म्य व वैधर्म्य बताईये?

प्र.4 सांख्य के अनुसार पुरुष के विविध धर्म बताइये?

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ब)
2. (स)
3. (अ)
4. (स)

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. इकाई 3.4 देखें।
2. इकाई 3.5 देखें।
3. इकाई 3.3.2 एवं 3.3.3 देखें।
4. इकाई 3.6 देखें।

3.9 सारांश

आपने इस इकाई में व्यक्त–अव्यक्त का साधर्म्य–वैधर्म्य, प्रकृति की सिद्धि, पुरुष की सत्ता में प्रमाण, पुरुष बहुत्व की सिद्धि, पुरुष के धर्म आदि तथा सांख्य सम्मत 25 तत्त्वों के बारे में जानकारी प्राप्त की है। प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वों को प्रमुखतया प्रस्तुत किया गया है। जगत् के समस्त भद (कार्य) परिमित होने से, कारण से कार्य का समन्वय हो जाने से, कारण की शक्ति से कार्य प्रकट होने से, कारण से कार्य प्रकट होने से तथा कारण में कार्य का लय हो जाने से जगत् के कार्यों का कोई अव्यक्त कारण सिद्ध होता है, वही प्रकृति है। इस प्रकार प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि इन पाँच हेतुओं से होती है। इसी प्रकार संघात परार्थत्वात्, त्रिगुणादि विपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थप्रवृत्ति हेतु से पुरुष की सिद्धि होती है। सांख्यसम्मत पुरुष के बहुत्व सिद्धि में पाँच हेतु दिये जाते हैं–जन्म–मरण की व्यवस्था अलग–अलग होने से , इन्द्रिया भो प्रत्येक शरीर की अलग–अलग कार्यरत होने से (एक के मरने या जीने या इन्द्रिय खराब होने से सभो का मरना या जीना या इन्द्रिय खराब होना नहीं देखा जाता है), प्रवृत्ति या चेष्टाएँ प्रति प्राणी अलग होने से तथा त्रिगुणात्मक सृष्टि के अनन्त होने से पुरुष भो अनेक होना सिद्ध होता ह।

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन– डॉ.नन्द किशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992.
2. भारतीय दर्शन– उमेशमिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण–1990.
3. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी,1992.
4. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डा0 ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1996.
5. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका– (सम्पा0) डॉ.रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,1990.

इकाई–4

बन्धन एवं मोक्ष (सांख्यकारिका)

इकाई की रूपरेखा –

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष
4.3 त्रिविध दुःख
    4.3.1 आध्यात्मिक
    4.3.2 आधिदैविक
    4.3.3 आधिभोतिक
4.4 मुक्ति का हेतु विवेक ज्ञान
4.5 बन्धन से अभिप्राय
    4.5.1 प्राकृतिक
    4.5.2 वैकृतिक
    4.5.3 दाक्षिणक
4.6 पुरुष व प्रकृति के सम्बंध का प्रयोजन–भोगापवर्ग सिद्धि
4.7 मोक्ष का स्वरूप
4.8 मोक्ष के भद
    4.8.1 जीवन्मुक्ति
    4.8.2 विदेहमुक्ति
4.9 व्याख्या
4.10 पारिभाषिक शब्दावली
4.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
4.12 सारांश
4.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.0 उद्देश्य

सांख्य दर्शन की पूर्व की इकाईयों में सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्यो तथा कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों से परिचित हो चुके होगें। प्रस्तुत इकाई में सांख्य के अनुसार बन्धन एवं मोक्ष के विषय में जान सकेंगे। भारतीय चिन्तन व मनीषा का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो, इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार अपेक्षित है–

1. मोक्ष के स्वरूप को जानना।
2. त्रिविध दुःखों से मुक्ति ही जीवन का उद्देश्य।
3. बन्धन से अभिप्राय।
4. ज्ञान से मुक्ति सम्भव।
5. मुक्ति के दो प्रकार जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति।

4.1 प्रस्तावना

सांख्य में बन्धन व मोक्ष का स्थान अन्य दर्शनों से भिन्न हैं सामान्यतः भारतीय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि है। धर्म अर्थ काम यह तीनों पुरुषार्थ मनुष्य के इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन यात्रा को सुखद बनाने का प्रयत्न हैं चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष मनुष्य का आध्यात्मिक मूल्य है अतः धर्म अर्थ काम यदि साधन रूप है तो मोक्ष साध्य है।

मोक्ष की अवधारणा ही भारतीय दर्शन की आधारशिला है जो इसे पाश्चात्य दर्शन से विलग करती है। दुःखों की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है और भारतीय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करना ही है। अन्य विचार व चिन्तन तो गौण हैं। प्रो. मैक्समूलर ने कहा है कि भारत में तत्व चिन्तन ज्ञान की उपलब्धि के लिए नहीं प्रत्युत उस परम उद्देश्य के लिए किया जाता था जिसके लिए मनुष्य का इस जीवन में प्रयत्न करना सम्भव है। अतः भारतीय दर्शनों में मोक्ष एक महत्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु रहा है। त्रिविध दुःखों से आत्यान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

4.2 त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति–मोक्ष

जीवन दुःखमय है। भारतीय विचार प्रक्रिया का आरम्भ जीवन की दुःखमयता से ही हुआ है। यह सम्पूर्ण संसार जरा, मृत्यु, रोग, जन्म इत्यादि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते है। संसार त्रिविध दुःखों से व्याप्त है तथा मनुष्य जीवन का उद्देश्य इन त्रिविध दुःखों से मुक्ति पाना ही है। चेतन पुरुष भिन्न–भिन्न योनियों में तब तक जरा व मृत्यु के दुःख को भोगता रहता है, जब तक उसके सूक्ष्म शरीर तथा महत् आदि की निवृत्ति नहों हो जाती।

त्रिविध दुःखों का मूलकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है। पुरुष अनादि काल से ही प्रकृति के बंधन में बंधा रहता है। स्थूल व सूक्ष्म शरीर त्रिगुणात्मिका प्रकृति से ही निर्मित है। इन्हीं स्थूल व सूक्ष्म शरीरों द्वारा पुरुष बाह्य पदार्थों का भोग करता है। भोग एक प्रकार कम है तथा कम संस्कार उत्पन्न करते है तथा संस्कारों के भोग के लिए भो शरीर चाहिये अतः अच्छे व बुरे सभो कर्मों को भोगने के लिए बार–बार जन्म लेना पड़ता है। जब तक कर्मों का भोग समाप्त नहीं होता तब तक जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्ति असम्भव है। त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मुक्ति है, तो त्रिविध दुःख क्या है? इनके विषय में जानना आवश्यक है।

4.3 त्रिविध दुःख

दुःख तीन प्रकार के माने गये है।

(1) आध्यात्मिक (2) आधिदैविक एवं आधिभोतिक।

4.3. आध्यात्मिक दुःख –

आध्यात्मिक दुःखों से अभिप्राय आन्तरिक तत्त्वों से है। आन्तरिक से अभिप्राय 'आत्मा' या पुरुष से नहीं है क्योंकि दुःखों के मूल कारण सत्व, रज व तम प्रकृति के गुण है, पुरुष निर्गुण होने से दुःखों का कर्त्ता व भोक्ता नहीं है वरन् मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से शरीर ही इन दुःखों का भोक्ता है। आध्यात्मिक दुःख भो दो प्रकार के है–

1. शारीरिक –

शरीर से सम्बंधित वात, कफ, पित्त आदि की विषमता से उत्पन्न दुःख शारीरिक है, यह दुःख औषधि आदि के द्वारा दूर किये जा सकते है।

2. मानसिक –

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि से उत्पन्न होने वाले दुःख मानसिक कहलाते है। मानसिक दुःख भो तोन प्रकार के माने गये है। 1. प्रिय से वियोग 2. अप्रिय से संयोग 3. प्रार्थित का अलाभ। इनका निवारण शम, दम, तितीक्षा आदि के द्वारा किया जा सकता है।

4.3.2 आधिदैविक दुःख –

आधिदैविक दुःख बाह्य व अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष दिखायी न देने वाले वायु, जल, अग्नि तथा नक्षत्र भ्तप्रेत आदि देवीय शक्तियों के द्वारा होने वाले प्रकोप आँधी तूफान, बाढ़ अग्निकाण्डादि दुःख आधिदैविक कहलाते है।

4.3.3 आधिभौतिक दुःख –

प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले दुःख जो बाह्य कारणों अथवा पदार्थों से उत्पन्न होते है वे आधिभोतिक दुःख कहलाते है। कांटे का चुभना, सर्प आदि का काटना आदि प्राणियों से उत्पन्न होने वाले दुःख है।

उपर्युक्त तीनों ही दुःख प्रतिकूल वेदनीय होते हैं। मनुष्य स्वभावतः दुःखी है तो स्वभावतः ज्ञानी भो है अतः वह इन त्रिविध दुःखों से मुक्ति के लिए यथासम्भव प्रयास करता रहता है। शारीरिक व मानसिक व्याधियों के निरोध के लिए मनुष्य ने विविध चिकितपद्धतियों तथा औषधियों को खोज निकाला तथा वेदों में तथा धर्म शास्त्रों में विविध प्रकार के धर्मानुष्ठान दुःखों से थोड़ी देर के लिए मुक्ति जरूर दिला सकते है परन्तु दुःख से अवश्यंभावी (ऐकान्तिक), पूर्णतः (आत्यान्तिक) निवृत्ति इनसे सम्भव नहीं है। दुःखों से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए विवेक ज्ञान अपेक्षित है।

4.4 मुक्ति का हेतु विवेकज्ञान

विवेक ज्ञान मोक्ष का हेतु माना गया है। मनुष्य स्वभावतः दुःखी है तो स्वभावतः ज्ञानी भो है। ज्ञानी होने के कारण मनुष्य प्रारम्भ से ही दुःखों से मुक्ति का प्रयास करता रहा है। दुःखों से निवृत्ति के लिए सांख्य दर्शन में 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। व्यक्त अर्थात् यह सम्पूर्ण दृश्यमान जड़ जगत तथा अव्यक्त रूपा मूलप्रकृति तथा ज्ञ अर्थात् पुरुष इन सभो का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर मनुष्य ऐकान्तिक व आत्यन्तिक दुःखों से निवृत्त हो जाता है।

विज्ञानभिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य में विवेकज्ञान को ही मोक्ष हेतु के रूप में वर्णन किया है। भिक्षु द्वारा प्रकृति पर्यन्त अनात्मतत्त्वों में आत्माभिमान के त्याग को ही विवेक ज्ञान कहा गया है। विवेक ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। सांख्यसार के अनुसार आत्मानात्म में वैधर्म्य रूप भद का ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है। योगवार्तिक में भो ब्रह्मज्ञान को दुर्लभ मानते हुए उसे मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

विवेकज्ञान से जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि 'मैं दुःखी हूँ' अथवा 'मैं सुखी हूँ' यह अनुभव वस्तुतः मेरा नहीं, प्रकृति का है, मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सुख–दुःख तो प्रकृति के गुण है इसके विपरीत पुरुष तो निर्विकार, निर्गुण, निर्लिप्त तथा निष्कलुष है, इस ज्ञान के बाद वह त्रिविध दुःखों से पीड़ित नहीं होता। इसी प्रकार पाप और पुण्य, धर्म व अधर्म आदि भो अहंकार के गुण है, जो सभो कार्यो में प्रवर्तक होते हैं। यही शुभ कर्मो व अशुभ कर्मो में प्रवृत्त करते हैं, पुरुष तत्व अहंकार से परे है वह नित्य एवं एक रस है। परिवर्तनशील मनोविकार मन के धर्म है पुरुष के नहीं। सुख दुःख वस्तुतः बुद्धि, अहंकार व मन के धर्म है पुरुष इन सबसे पृथक् है परन्तु अज्ञान के कारण वह इन समस्त धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। अतः सांख्य में कहा भो है–

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।44।।

स्पष्ट है धर्मादि उपायों से मुक्ति नहीं मिलती वरन् उर्ध्वादि अर्थात् उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। अतः मुक्ति तो विवेक ज्ञान से ही सम्भव है। विवेक ज्ञान से पुरुष पर आरोपित कर्तृत्वादि का अभिमान समाप्त हो जाता है जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि में यदि रक्तनीलादि मणियों की उपाधि के कारण स्फटिक के शुद्ध रूप का ज्ञान नहीं हो पाता तथा उपाधि के नष्ट हो जाने पर शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार पुरुष पर बुद्धि

आदि के आरोप के कारण वह प्रकृति के कार्यों को स्वयं का समझ बैठता हैं। जब इस अज्ञान का अन्त हो जाता है तब मनुष्य दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस विवेक ज्ञान का शास्त्रीय नाम 'विवेक ख्याति' हैं। प्रकृति से पुरुष को अलग समझने का ज्ञान। वेदान्त में भो कहा गया है न हि ज्ञानादृते मुक्तिः। सांख्य प्रवचन भाष्य में भो ज्ञानान्मुक्ति (3/23) कहा गया है। सांख्य कारिका में भो इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति व पुरुष को अपने–अपने स्वरूप का बोध हो जाता ही मोक्ष है। डॉ. हिरियन्ना के अनुसार – कैवल्य का साक्षात् कारण विवेक यानि भद का ज्ञान है जो बन्धन के कारण का निवारण कर देता है। जिस प्रकार भने हुए बीज पुनः अंकुर उत्पादन में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार कम के संस्कारों एवं उनके परिणाम स्वरूप बुद्धि के भावों से सम्वलित सूक्ष्म शरीर ज्ञान की अग्नि में जलकर भस्मसात हो जाता है।

विवेक ज्ञान होने के बाद सत्व बुद्धि से युक्त पुरुष प्रेक्षक की तरह तटस्थ भाव से देखता रहता है। बुद्धि के विवेक ज्ञान रूप प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि धर्माधमादि सातों भावों से मुक्त हो जाती है। अतः विकास की क्रिया को भो विराम मिल जाता है। पुरुष प्रेक्षक के समान सुस्थ व अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार विवेक ज्ञान होने पर पुरुष सोचता है कि 'मैंने प्रकृति को देख लिया है' तथा प्रकृति यह सोचती है कि 'मैं पुरुष द्वारा देख ली गयी हूँ', सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है अतः पुरुष व प्रकृति का संयोग होने पर भो सृष्टि का प्रयोजन नहीं होता प्रकृति की यह विरति उसी पुरुष के प्रति होती है, जिसे विवेक ज्ञान प्राप्त हो गया हो, अन्य पुरुषों के प्रति तो सृष्टि कार्य होता रहता है।

4.5 बन्धन से अभिप्राय –

सांख्य दर्शन में मुख्य रूप से पुरुष व प्रकृति दो ही तत्त्वों पर विचार किया गया है।

बन्धन का सम्बंध प्रकृति से है क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका है परन्तु यह सब होता पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण है। अतः पुरुष एवं प्रकृति का संयोग ही बन्धन का कारण है। पुरुष नित्य शुद्ध बुद्ध व परिणामातीत तथा बन्धन मोक्ष रहित है परन्तु बुद्धि में प्रतिबिम्ब के कारण वह बुद्धि के कार्यों को स्वयं पर आरोपित कर लेता है तथा अहंकार के कारण 'मैं सुखी हूँ' या 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा अनुभव करने लगता है। अतः बुद्धि के विकारों का पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब ही 'बन्धन' है।

डॉ. राधाकृष्णन् कहते है कि पुरुष का बन्धन एक मिथ्या विचार है और यह उसके चित्त के निकट होने के कारण होता है अतः 'औपाधिक' कहा जाता है। वस्तु स्थिति में भोग भो पुरुष का न होकर प्रकृति का होता है। भोग एक प्रकार की क्रिया है पुरुष निष्क्रिय है परन्तु चेतन होने के कारण उसमें भोक्ता होने की भान्ति पैदा हो जाती है और अकर्ता पुरुष पर कर्तृत्व का आरोप हो जाता है यही आरोप 'बन्धन' है। बन्धन का मूल कारण अविवेक है अतः जब अविवेक दूर हो जाता है तथा पुरुष प्रकृति का भद ज्ञान हो जाता है तो यही अवस्था मोक्ष कहलाती है।

ज्ञान का विपर्यय अज्ञान बन्धन का कारण है। बन्धन भो तीन प्रकार का बताया गया है–

1. **प्राकृतिक –**

   प्रकृति को आत्मा समझ कर जो उसकी उपासना करते हैं, उनके सूक्ष्म शरीर का प्रकृति में ही लय हो जाता है। और वह सैकड़ों वर्षो तक प्रकृति में ही लीन रहते है। इसे प्राकृतिक बन्धन कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के प्रकृति में लीन रहने से उसकी निवृत्ति नहीं होती तथा इस निश्चित उपाधि के पश्चात् वह पुनः जन्म–मृत्यु के चक्र में आ जाता है।

2. **वैकृतिक** –

यज्ञ और शास्त्रविहित कृत्यों के सम्पादन से दक्षिण मार्ग द्वारा चन्द्रलोक गमन करते है। यज्ञ आदि से प्राप्त दान–दक्षिणा में आस्था के कारण भो इन्हें दाक्षिणक कहते है। यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त न कर मोहासक्त होकर बन्धन में फँसे रहते है।

प्रकृति के आठ धर्म हैं :– धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, राग, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन आठ में से सात धर्मो से प्रकृति पुरुष को बांधती है तथा एक धर्म ज्ञान से मुक्त कर देती है। अतः वस्तुतः बन्धन प्रकृति का ही है। सांख्य प्रवचन भाष्य में कहा भो है–

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेत् तस्यापि पारतन्त्र्यम्।। (सांख्यसूत्र, 18)

इस प्रकार प्रकृति के संयोग से शुद्ध–बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला पुरुष बन्धन में प्रतीत होता है।

4.6 पुरुष व प्रकृति के संबन्ध का प्रयोजन –

पुरुष व प्रकृति के सम्बंध का मुख्य प्रयोजन पुरुष को मोक्ष या कैवल्य प्राप्त कराना है। पुरुष को यह बोध कराना कि संसार में प्रवृत्ति व निवृत्ति रूपी जो भो क्रियायें हो रही है, उसका आश्रय वह नहीं है। जन्म, मरण व संसरण जो भो कार्य है वह प्रकृति के हैं पुरुष के नहीं।

'न बध्यते, न मुच्यते नापि संसरति' अतः शुद्ध चैतन्य पुरुष न बंधता है न मुक्त होता है अतः बन्धन व मुक्ति का सम्बंध प्रकृति से बद्ध पुरुष से है। सांख्य कारिका के अनुसार–

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।।56।।

अर्थात् महत् से लेकर स्थूल भ्तों तक का यह सृष्टि प्रपञ् प्रवृति का कार्य है जो बद्ध पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए है। यह समस्त कार्य परार्थ अर्थात् पुरुष के हित साधन के लिए है। पुरुष के हित साधन में प्रकृति का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। प्रतीत ऐसा होता है कि यह सभो कार्य प्रकृति अपने लिए करती है। कार्य की उत्पत्ति स अभिप्राय यहाँ दोनों प्रकार की सृष्टियों से है इसमें प्रत्यय सर्ग व तन्मात्र सर्ग दोनों का समावेश हो जाता है। महत् तत्त्व से लेकर स्थूलभ्त पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति का ही कार्य है। नैयायिक सृष्टि कार्य को ईश्वकृत मानते है तथा वेदान्ती इसे ब्रह्म का विवर्त मानकर ब्रह्म को ही इसका उपादान कारण सिद्ध करते है तथा अनात्मवादी व अनीश्वरवादी चिन्तक न तो इसे किसी की कृति मानते है और न ही किसी ऐसे सिद्धान्त पर विचार करते है जो अदृष्ट व अज्ञात परिणाम के रूप में इसे स्वीकार करते है। सांख्यदर्शनकार इनमें से किसी भो पक्ष को स्वीकार न करते हुए यह कहना चाहते है कि महत् तत्व से लेकर स्थूलभ्त पर्यन्त निखिल प्रपंच न तो ईश्वरकृत है न ब्रह्म से प्रोद्भ्त है, न ही अनायास उद्भ्त हुआ है, बल्कि यह प्रकृति का ही कार्य है।

प्रकृति नित्य है तथा नित्य पुरुष के संयोग से सृष्टि निरन्तर बनी रहनी चाहिये तथा किसी की भो मुक्ति नहीं होनी चाहिये? इस शंका के समाधान के लिए ही यह बताया गया है कि प्रकृति के द्वारा सृष्टि कार्य करने का एक विशेष प्रयोजन है और वह है प्रत्येक पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति कराना। पुरुष अनादिकाल से ही लिंग शरीर या सूक्ष्मशरीर के द्वारा अनाविष्ट रहता है तथा उसकी मुक्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उन समस्त संस्कारों का भोग न हो जिससे लि शरीर अधिवासित रहता है। प्रकृति का यह सम्पूर्ण क्रिया कलाप रसोइये के समान है जिस प्रकार भोजन बनाकर रसोइया निवृत्त हो जाता है उसी प्रकार प्रकृति भो सृष्टि कार्य कर निवृत्त हो जाती है उसका उपभोग दूसरे करते है। यहाँ रसोइया चेतन है लेकिन प्रकृति जड़ है। खाना बनाने में रसोइये का अपना स्वार्थ होता है परन्तु प्रकृति का अपना कोई स्वार्थ नहीं है अतः गौडपाद ने घट का उदाहरण दिया है। घट जिस प्रकार अचेतन होते हुए भो जल लाने का साधन है तथा जल लाने के पश्चात् फेक

दिया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति है। प्रकृति का सम्पूर्ण क्रियाकलाप पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि क` लिए होता है। परन्तु यहाँ एक शंका और उपस्थित होती है कि स्वार्थ व परार्थ का बोध जड़ प्रकृति को कैसे हो सकता है? स्वार्थ व परार्थ का विवेक तो सचेतन को हो सकता है अतः जड़ होते हुए प्रकृति पुरुष के भोगापवर्ग में सहायक कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में सांख्यकारिका में उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार बछडे के पोषण के लिए अचेतन भो माता के स्तनों में दूध स्वतः आ जाता है, उसी प्रकार जड़ भो प्रकृति पुरुष के भोगापवर्ग सिद्धि में सहायक होती है।

जिस प्रकार जन्म–जन्मान्तर में किये गये अचेतन कम में यदि फल देने की प्रवृत्ति है तो अचेतन प्रकृति जिसमें रजोगुण के कारण क्रियाशीलता विद्यमान है, चेतन पुरुष के संयोग से बद्ध पुरुष को मुक्ति देने के लिए जड़ प्रकृति का सृष्टि कार्य का अभियान पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि करना ही है, इसके लिए सांख्यकारिका में एक उदाहरण ओर दिया गया है कि जिस प्रकार लोग कुतूहल को दूर करने के लिए नाना प्रकार की चेष्टायें करते है उसी प्रकार बद्ध पुरुष की मुक्ति के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।

इस प्रकार पुरुषार्थ रूप भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रवृत्त प्रकृति स्वतः निवृत्त कैसे हो जाती है? इसके लिए सांख्यकारिका में नर्तकी का दृष्टान्त दिया गया है।

जिस प्रकार सामाजिकों को अपना अभिनय दिखाकर नर्तकी निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर निवृत्त हो जाती है। प्रकृति बिना किसी स्वार्थ के ही पुरुष के भोग व अपवर्ग प्रयोजन को सम्पादित करती है। प्रकृति एक बार पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाती है, वह पुनः पुरुष के सामने नहीं आती है अतः प्रति से सुकुमार अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकती।

चेतन से अधिष्ठित अवचेतन में प्रवृत्ति सम्भव है जैसे अवचेतन रथादि चेतन अधिष्ठाता क द्वारा गमनागमन में समर्थ हो जाते है उसी प्रकार अवचेतन प्रकृति की भो प्रवृत्ति होना तर्क विरूद्ध नहीं है क्योंकि प्रकृति रजोगुणशालिनी होने से क्रियाशीलता उसका नित्यकम है अतः सृष्टि के रूप में प्रवृत्त होना उसका स्वभाव है। उसकी इसी प्रवृत्ति से बद्ध पुरुष का भोग व अपवर्ग रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। जड़ होने के कारण प्रकृति में उसे सम्पादित करने की इच्छा या विवेक नहीं होता यदि पुरुष भाव रूप संस्कारों का विवेकपूर्ण उपभोग करता है तो पुनः संस्कार उत्पन्न नहीं होते, यही प्रकृति की निवृत्ति है। पुरुष को मुक्त करने के लिए प्रकृति नानारूप धारण करती है परन्तु जब पुरुष को बोध हो जाता है कि वह प्रकृति से भिन्न है तो बोध कराने के बाद वह पुनः पुरुष को अपना स्वरूप नहीं दिखाती। प्रकृति बुद्धि के सात भावों से इसे बांधती है तथा आठवें भाव ज्ञान के द्वारा इसे मुक्त कर देती है।

4.7 मोक्ष का स्वरूप –

भारतीय दर्शनों में 'मोक्ष' या 'मक्ति' महत्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है। यह जीवन का परम उद्देश्य है अतः सभो भारतीय दर्शनों में 'मोक्ष' पर विचार किया गया है। जीव में बार–बार जन्म, मृत्यु व दुःखों के भोगते रहने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है और वैराग्य हो जाने पर मनुष्य दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति क लिए उपाय करने लगता है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

पुरुष स्वभावतः मुक्त है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि जीव न बँधता है न मुक्त होता है तथा न संसरणादि कार्य करता है अतः प्रश्न उपस्थित होता है फिर मोक्ष किसका होता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जीव साक्षात् सुख व दुःख का भोक्ता नहीं है किंतु अपनी उपाधि बुद्धि द्वारा स्वयं में प्रतिबिम्बित सुख–दुःख का साक्ष्यत्व मात्र से भोक्ता है। जीव के इस प्रतिबिम्ब रूप साक्ष्यत्व रूप दुःख के नाश के लिए उपाधि नाश आवश्यक है। जीव का अपनी उपाधि से वियोग हो जाना ही दुःख निवृत्ति है। इसे सांख्य में अपवर्ग कहा गया है।

वस्तुस्थिति में भोग व अपवर्ग दोनों ही प्रकृति के होते है। प्रकृति के पञ्चमहाभ्तों के गुण शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध आदि विषयों का बाह्याभ्यन्तर करणों के द्वारा भोग वस्तुतः प्रकृति का प्रकृति के द्वारा ही होता है, न कि पुरुष के द्वारा प्रकृति का उपभोग है। पुरुष में तीनों गुणों का अभाव होने के कारण क्रियाशीलता का अभाव होता है अतः चेतन होते हुए भो किसी प्रकार की क्रिया 'पुरुष' में सम्भव ही नहीं हो सकती। सांख्य के अनुसार पुरुष में भोक्तृत्व सम्भव ही नहीं है परन्तु उसमें भोक्ता होने की भांति हो जाती है। भोक्ता होने की भांति का कारण पुरुष व प्रकृति का संयोग है। पुरुष व प्रकृति के संयोग के कारण जड़ प्रकृति पर चेतन पुरुष की चेतनता और अकर्ता पुरुष पर प्रकृति ;सत्व, रज, तम गुणों के कारणद्ध की क्रियाशीलता का आरोप हो जाता है। पुरुष व प्रकृति के संयोग का परिणाम ही यह सृष्टि है।

प्रकृति व पुरुष का संयोग प्रकृति की योजना के अनुसार होता है। प्रकृति पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाती है। जब पुरुष को यह आभास होता है कि जिन त्रिविध दुःखों से वह पीड़ित है वह प्रकृति के गुण है वह तो इनसे भिन्न है तो वह उससे मुक्ति के उपाय खोजने लगता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रकृति व पुरुष का संयोग वास्तविक न होकर बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण होता है। जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब जिस प्रकार हिलता हुआ दिखायी देता है उसी प्रकार बुद्धि की क्रियाशीलता से पुरुष अपने को सुखो, दुःखी व मुग्ध समझने लगता है। यही पुरुष की बता है। मुक्ति के लिए विवेक ज्ञान आवश्यक है परन्तु ज्ञान का आश्रय भो बुद्धि है। बुद्धि प्रकृति का ही कार्य है अतः सांख्य के अनुसार बन्धन व मोक्ष पुरुष का नहीं वरन् प्रकृति का ही होता है।

बन्धन व मोक्ष प्रकृति का होता है और पुरुष उस लीला का द्रष्टामात्र है। अतः वह साक्षी है। बुद्धि धर्म–अधर्म, अज्ञान, विराग–राग तथा ऐश्वर्य–अनैश्वर्य सात धर्मो से बाँधती है तथा ज्ञान नामक धर्म से मुक्त कर देती है। इस प्रकार जब प्रकृति व पुरुष दो भिन्न तत्व है, यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो उसे एक प्रकार का बोध हो जाता है कि यह समस्त जड़ तथा प्रकृति ही है, संशय व मिथ्या–ज्ञान से रहित चेतन या पुरुष तत्त्व का सम्यक् बोध ही कैवल्य या 'मोक्ष' कहलाता है। फलतः प्रकृति व पुरुष के संयोग बने रहने पर भो प्रकृति सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है।

सांख्य के अनुसार पुरुष निरपेक्ष भाव से प्रकृति को देखता है। अतः पुरुष प्रकृति के सम्बंध में विवेक ख्याति या विवेक बुद्धि ही मुक्ति है। ख्याति या बुद्धि सत्व का अंश है। मुक्तावस्था में भो प्रकृति का सात्विक अंश शेष रह जाता है इसे शुद्ध सत्व या सत्वखंड कहते है। यही एक जीव का दूसरे जीव से भद दर्शाता है अतः सांख्य में मुक्त जोवों की संख्या भो अनन्त मानी गयी है।

विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में मोक्ष को चिकित्सा शास्त्र के समान चतुर्व्यूह माना है। जैसे रोग, आरोग्य, रोगनिदान तथा भषज्य में चार व्यूह चिकित्साशास्त्र के प्रतिपाद्य है उसी प्रकार हेय के हेतु त्रिविध दुःख तथा उनके हान अर्थात् उनसे मुक्ति के उपाय यह चारों मोक्ष शास्त्र के प्रतिपाद्य है। त्रिविध दुःख ;आध्यात्मिक, आधिभोतिक, अधिदैविक द्ध हेय है तथा उनसे आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है।

प्रवृत्ति पुरुष के संयोग अविवेक हेय का हेतु है तो विवेकख्याति हानोपाय है। व्यूह से अभिप्राय इन चारों उपकरणों के सग्रह से है। अतः उनके अनुसार –

अथ त्रिविधदुःखप्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः

4.8 मोक्ष के भेद –

सम्यक् ज्ञान होने के पश्चात् जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्ति को जीव–मुक्ति कहते है तथा शरीर के नष्ट होने के बाद त्रिविध दुःखों से मुक्ति विदेह मुक्ति कहलाती है। इस प्रकार मुक्ति के दो भद है –

4.8.1 जीवन्मुक्ति –

सम्यक् ज्ञान होने के बाद पुर्नजन्म के साधक धर्मादि कारण नहीं रह जाते अतः उनकी प्राप्ति अनायास हो जाती है। प्राणी चक्र के घूमने के समान पूर्व जन्म के संस्कारों से शरीर धारण किये रहता है। विवेक बुद्धि के पश्चात् पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है तथा उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है परन्तु प्रारब्ध कर्मो व संस्कारों के कारण उसे शरीर धारण करना पड़ता है। नवीन कम संचित नहीं होते परन्तु संचित कर्मो की शक्ति समाप्त होने तक शरीर बना रहता है। जैसे कुम्हार के हाथ हटा लेने पर भो पूर्व वेग के कारण बाद में भो चाक चलता रहता है। यही अवस्था जीवन्मुक्ति की अवस्था है। पुरुष निरपेक्ष द्रष्टा व साक्षी होकर प्रकृति को देखता है पर उसमें बंधता नहीं है। प्रो. हिरयिन्ना के अनुसार इस अवस्था में पुरुष का बुद्धि से सम्बंध बना रहता है लेकिन बुद्धि के सारे दोष दूर हो जाते हैं वह चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती है। संसार के प्रति जीवन्मुक्त का दृष्टि कोण बहुत कुछ वैसा ही माना गया है जैसा न्यायवैशेषिक में पूर्णता प्राप्त व्यक्ति का। वह संसार में रहता हुआ भो संसारी नहीं होता।

4.8.2 विदेहमुक्ति –

अंतिम तथा पूर्ण मोक्ष मृत्यु के बाद होता है उसमें शरीर का सम्बंध भो छूट जाता है। शरीर के समाप्त होने पर कैवल्य प्राप्ति होती है वह विदेहमुक्ति कहलाती है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार पुरुष जब तक भोगायतन शरीर में निवास करता है तब तक शरीर धर्म से उसका प्रभावित होना सम्भव है अतः वह विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते है।

4.9 व्याख्या

4.9.1 **इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।**
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।। 56 ।।

संदभ – प्रस्तुत कारिका ईश्वरकृष्ण प्रणीत सांख्यकारिका से उद्धृत की गई है। सांख्यकारिका सांख्यदर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। सांख्य सिद्धान्त व इनके विषय विवेचन की लोकप्रिय पति के कारण वेदान्त, जैन बौ दार्शनिकों ने इनके सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थों में इस तरह प्रयोग किया है कि यदि सांख्यकारिका का प्रणयन नहीं होता तो सांख्यसिद्धान्तों की ठीक–ठीक जानकारी मिलना असंभव हो जाता।

प्रसंग – सांख्य में मुख्यतः दो तत्त्वों पुरुष व प्रकृति का विवेचन है। महत् से लेकर पञ्भ्तों तक सम्पूर्ण सृष्टि प्रपञ् प्रकृति का ही व्यापार है। पुरुष निर्लिप्त है किंतु प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व बुद्धि के साथ संयुक्त होकर पुरुष व प्रकृति भिन्न होते हुए भो अभिन्न प्रतीत होते है। भारतीय मनीषा इस सिद्धान्त को मानती रही है कि जो कुछ भो यह परिदृश्यमान जगत् है, वह पुरुष ही है, चाहे वह हो चुका है अथवा आगे होगा इसका निराकरण करते हुए सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण कहते है कि –

व्याख्या – महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी आदि पाँच स्थूल भ्तों की सृष्टि मात्र प्रकृति का कार्य है तथा अनादिकाल से प्रत्येक बद्ध पुरुष को मुक्ति प्रदान करने के लिए ही है। प्रकृति का यह कार्य परार्थ ;पुरुष के हित के लिएद्ध है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्त कार्य उसके स्वयं के लिए है। यहाँ आरम्भ से अभिप्राय सृष्टि से है सृष्टि के दोनों सर्गो प्रत्यय सर्ग व बुद्धि सर्ग का प्रारम्भ होता है।

प्रकृतिकृतः शब्द का प्रयोग भो विशेष उद्देश्य से किया गया है। महत् से लेकर पञ्भ्त सभो तत्व ईश्वर द्वारा निर्मित है यह नैयायिकों का मत है। वेदान्त ब्रह्म को सृष्टि का आधार रूप से कारण मानता है तथा चार्वाक आदि अनात्मवादी चिन्तक सृष्टि को किसी अज्ञात या अस्पष्ट तत्त्व का कारण या परिणाम नहीं मानते।

सांख्यकार उपर्युक्त सभो मतों के विरोध में अपने मत की प्रतिष्ठापना करना चाहते है कि महत् तत्व से लेकर स्थूलभ्त पर्यन्त निखिल प्रपञ् न तो ईश्वरकृत है, न ब्रह्मा से प्रोद्भ्त है। न यह अनायास उद्भ्त हुआ है, परन्तु यह सब प्रकृति का ही कार्य है।

प्रकृति समस्त सृष्टि कार्य का प्रारम्भ किसी प्रयोजन को लेकर करती है, वह प्रयोजन पुरुष को मोक्ष प्रदान करना है। प्रकृति का यह क्रियाकलाप रसोइये के समान माना गया है रसोईया जिस प्रकार भोजन बनाकर निवृत्त हो जाता है उसका उपयोग दूसरे लोग करते है। रसोईये का भोजन बनाने में स्वार्थ होता है व अजीविका चलाने के लिये काम करता है। परन्तु प्रकृति का यहाँ अपना कोई स्वार्थ नहीं होता अतः गौडपाद ने घट द्वारा जल आनयन का उदाहरण दिया है कुम्भवत्प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते। जिस प्रकार घड़ा अचेतन होते हुए भो पानी लाने का साधन होता है तथा उपभोग के बाद फेंक दिया जाता है। प्रकृति भो अचेतन होकर पुरुष को मोक्ष दिलाने में कारण है तथा पुरुष को मोक्ष दिलाकर प्रकृति निवृत्त हो जाती है। प्रकृति एक पुरुष के मुक्त होने के बाद दूसरे बद्ध पुरुष के साथ सलंग्न हो जाती है।

'स्वार्थ एव परार्थ आरम्भः' में भो शंका होती है कि स्वार्थ व परार्थ का विवेचन तो चेतन पुरुष का कार्य है। अचेतन प्रकृति परार्थ के लिए कैसे कार्य में प्रवृत्त होती है? इस शंका के समाधान के लिए सांख्यकारिकाकार ने कहा है कि जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए स्वतः माता के स्तनों में अचेतन दूध प्रवाहित हो जाता है, उसी प्रकार बद्ध पुरुष की मुक्ति के लिए जड़ भो प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः हो जाती है।

टिप्पणी –

प्रकृति – सांख्य में दो तत्व स्वीकार किये गये है। प्रकृति व पुरुष। महत् से लेकर पञ्भत् तथा मूलप्रकृति व पुरुष सांख्य में 25 तत्त्व माने गये है। 24 तत्त्व प्रकृति कृत है अचेतन व जड़ है तथा 25 वां पुरुष तत्त्व सचेतन है।

प्रतिपुरुष – सांख्य में पुरुष की अनेकता स्वीकार की गई है। एक पुरुष जन्म लेता है, एक मरता है, एक का मोक्ष हो जाता है। इसका अभिप्राय है पुरुष अनेक है। पाश्चात्यों ने इस आधार पर पुरुष बहुत्ववाद को स्वीकार किया है। परन्तु सांख्य दर्शन के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् पुरुष बहुलता का सिद्धान्त बद्ध पुरुष पर लागू होता है। मुक्त पुरुष शुद्ध चैतन्य रूप, त्रिगुण रहित है।

2. **वत्सविवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृतिरज्ञस्य।**
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।57।।

संदर्भ– 4.9.1 के अनुसार

प्रसंग – प्रकृति अचेतन है और शेष समस्त जगत् अचेतन प्रकृति से ही निर्मित है। अचेतन किसी भो परार्थ कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। उदारता, दया, करूणा, निस्वार्थ सेवा यह समस्त कार्य चेतन के है। प्रकृति यदि अचेतन है तो वह पुरुष के भोगापवर्ग साधन में कैसे प्रवृत्त हो सकती है। इसका समाधान सांख्यकारिकाकार ने इस प्रकार किया है कि–

व्याख्या – जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए अचेतन भो माता के स्तनों में दूध स्वतः आ जाता है उसी प्रकार प्रत्येक बद्ध पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए मूल प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः हो जाती है। सांख्यकारिका में प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए जो उदाहरण दिया गया है। उसकी व्याख्या हम दो प्रकार से कर सकते है। एक पक्ष तो यह कि अचेतन भो चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर गमनागमन की प्रवृत्ति में समर्थ हो सकता है जिस प्रकार रथ आदि जड़ पदार्थ चेतन सारथि के द्वारा चलाये जा सकते है। दूसरा पक्ष यह कि चेतन के द्वारा अधिष्ठित न होने पर भो अचेतन प्रवृत्ति युक्त होता है जैसे माता के स्तनों में दूध। यह दोनों पक्ष सुबोधिनी टीका में स्पष्ट किये गये है। गौडपाद और माठर आदि गाय द्वारा खाये गये घास आदि तथा पिय गये पानी का दूध रूप में परिणत होने का दोहरा प्रयोजन मानते है उनके अनुसार बछड़े के पोषण के लिए जिस प्रकार दूध बनने लगता है, उसी प्रकार जड़ भो प्रकृति पुरुष के मोक्ष रूप प्रयोजन के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है तथा जिस प्रकार बछड़े के पोषण के पश्चात् दूध का आना स्वतः बद हो जाता है उसी प्रकार भोग पूर्ण हो जाने पर प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति भो हो जाती है। प्रकृति जड़ है किंतु रजोगुण के कारण सक्रियता उसका नित्यधर्म है। अतः सृष्टि के रूप में प्रवृत्त होने से पुरुष का भोग व अपवर्ग

रूप प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाता है। भावरूप संस्कार जो सूक्ष्म शरीर स जुड़े रहते है यदि स्थूल शरीर उनका विवेक पूर्ण उपयोग करता है तो पुनः संस्कार उत्पन्न नहीं होते अतः भाेग भो नहीं होता तथा प्रवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। प्रकृति की यह निवृत्ति ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है।

3. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः।।

संदर्भ – 4.9.1 के अनुसार

प्रसंग – प्रकृति का सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होना पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए होता है। स्पष्ट है कि पुरुषार्थ ही प्रकृति का प्रवर्तक है। प्रकृति की सृष्टि कार्य में प्रवृत्ति जिस प्रकार स्वतः होती है, उसी प्रकार उससे निवृत्ति भो स्वतः हो जाती है। इसके लिए सांख्यकारिका में निम्न दृष्टान्त दिया गया है –

व्याख्या – जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों को अपना नृत्य दिखाकर विरत हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर निवृत्त हो जाती है। प्रकृति व पुरुष के संयोग से सृष्टि का विकास होता है। इस सृष्टि के विकास में प्रयोजन पुरुष को भोग व अपवर्ग की प्राप्ति कराना है। प्रवृति के संयोग से प्रकृति जन्य दुःख का जो प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ता है, वही पुरुष के लिए भोग या संसार है। पुरुष अपने स्थूल शरीर से इस संसार में अनादिकाल से चले आ रहे संस्कारों का भोग करता है, जब पुरुष को यह विवेक ज्ञान हो जाता है कि प्रकृति के समस्त भोग भिन्न है तथा वह स्वयं उससे भिन्न है। सुख दुःखादि भोग वस्तुत बुद्धि के है तथा आत्मा उनसे पृथक् है। जब यह विवेक ज्ञान हो जाता है तो भोग भो समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार नर्तकी रंगमंच पर नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भो पुरुष को अपना सृष्टि रूपी नृत्य दिखाकर निवत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भो पुरुष को अपना सृष्टि रूपी नृत्य का कार्य निरन्तर या अनवरत चलता रहे तो पुरुष की मुक्ति सम्भव नहीं है। प्रकृति का यह सृष्टि प्रपञ् मुक्त पुरुष के लिए नहीं होता। जो पुरुष इसका नृत्य देख चुका होता है और अपने व प्रकृति में अन्तर को समझ लेता ह उसके लिए इसका कोई महत्व नहीं है अतः नित नये सामाजिक रंगशाला में उपस्थित होते है और प्रकृति का वही नृत्य उनके लिए होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति की तरह निवृत्ति भो मूल प्रकृति की प्रवृत्ति है।

टिप्पणी –

रंगस्य – नाट्यशाला या रंगमंच। प्रेक्षकों या सामाजिकों ;नाटक देखने वालेद्ध के लिए भो 'रंग' शब्द का प्रयोग होता है।

प्रकाश्य व दर्शयित्वा – 'ल्यप् व क्त्वा के कृदन्त प्रयोग से पुरुषस्य' में षष्ठी का प्रयोग हुआ है। प्रकाश्य से अभिप्राय पुरुष व प्रकृति के भदज्ञान को प्रकाशित करना भो है।

विनिवर्तते – विवेक ज्ञान होने पर ही विषयों से निवृत्ति सम्भव है। प्रवृत्ति मात्र होने पर पुरुष का मोक्ष सम्भव नहीं था अतः प्रकृति प्रवृत्ति ही नहीं निवृत्ति भो करती है।

4. नानाविधैरूपायैरूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकंचरति।।60।।

संदभ – 4.9.1 के अनुसार

प्रसंग – प्रकृति के सृष्टि निर्माण का प्रयोजन पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि करना है। पुरुष को भोग व अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध कर निवृत्त हो जाती है। इसमें प्रश्न उपस्थित होता है कि पुरुष की मोक्ष की प्राप्ति कराने में प्रकृति का अपना कोई स्वार्थ या प्रयोजन नहीं होता? अवश्य कोई न कोई प्रयोजन होता होगा। इस सम्भावना के निराकरण के लिए साख्यकारिका में कहा गया है कि –

व्याख्या – सत्वादि गुणों एवं परोपकार की भावना से युक्त होकर प्रकृति बिना किसी स्वार्थ की भावना से युक्त होकर भोग व अपवर्ग रूप पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करती है। पुरुष निर्गुण व परोपकार की भावना से रहित है अतः वह प्रकृति का कोई उपकार नहीं करता। पुरुष प्रकृति के परोपकार की भावना से रहित होता है। क्रिया या कुछ देना रजोगुण का परिणाम है तथा प्रत्युपकार दया दानादि सत्वगुण के धर्म है। पुरुष त्रिगुण रहित है अतः पुरुष के पास ऐसी कोई सामग्री नहीं है जो वह प्रकृति को बदले में दे सके। निष्क्रिय होने के कारण पुरुष कुछ करने में समर्थ भो नहीं है अतः पुरुष के भोग व अपवर्ग के लिए किया गया सम्पूर्ण कार्य प्रकृति पुरुष के लिए करती है। सत्वादि तीनों गुणों के होने के कारण उसके पास पुरुष का उपकार करने के साधन भो विद्यमान है। नाना उपायों से अभिप्राय बुद्धि के आठ प्रकार के भावों से है। धर्म, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म अज्ञान, राग तथा अनैश्वर्य यह सात भाव पुरुष को भोग एवं ज्ञान नाम का आठवां भाव अपवर्ग की सिद्धि में सहायक है। जिस प्रकार गुणवान् एवं उपकारी होते हुए भो सेवक गुणविहीन और अनुपकारी स्वामी की सेवा करने पर उसे सेवा कोई फल नहीं मिलता उसी प्रकार गुणवती ;सत्व, रज, तम गुणों से युक्तद्ध उपकारिकारिणी प्रकृति पुरुष के विषय में व्यर्थ परिश्रम वाली ही रहती है उसका सम्पूर्ण प्रयत्न पुरुष के लिए होता है अपने स्वार्थ के लिए नहीं।

टिप्पणी –

उपकारिणी – प्रकृति का विशेषण है। दयादाक्षिव्यादि गुणों से युक्त होने के कारण प्रकृति पुरुष का उपकार करती है।

गुणवती – प्रकृति का विशेषण है। प्रकृति में सत्वादि गुण होने के कारण प्रकृति गुणवती है।

उपायैः – नानाविध उपायों के द्वारा। जयमंगलाकार ने उपाय से अभिप्राय बुद्धि के आठ भाव किया है।

अगुणस्य – पुरुष निर्गुण है। उसमें गुणों ;सत्व, रज, तमद्ध का अभाव है। गुण प्रकृति का धर्म है।

अनुपकारिणः – गुणरहित होने से पुरुष असंग व उदासीन है अतः उसमें किसी का उपकार करने की सामर्थ्य नहीं है।

4. तस्मात् न बध्यतेऽसो न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।62।।

संदभ – 4.9.1 के अनुसार

प्रसंग – पुरुष व प्रकृति के संयोग से उत्पन्न सृष्टि रचना का उद्देश्य पुरुष के भोग व अपवर्ग की सिद्धि है। यदि प्रकृति के संयोग का प्रयोजन पुरुष की मुक्ति है तो क्या वास्तव में पुरुष बद्ध है और वह मुक्त होता है? पूर्व कारिका में जैसे कि बताया गया था कि प्रकृति ही सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है तथा विवेक ज्ञान होने पर ही निवृत्त हो जाती है। अतः संसरण, बंधन एवं मोक्ष प्रकृति का ही होता है। निर्गुण होने से बंधना व मुक्त होना पुरुष का गुण नहीं है।

व्याख्या – प्रकृति ही सृष्टि काय में पुरुष की मुक्ति के लिए प्रवृत्त होती है तथा प्रकृति ही निवृत्त होती है। निर्गुण होने से पुरुष न तो बंधता है, न मुक्त होता है तथा न संसरण करता है अर्थात् न जन्म–मरण प्राप्त करता है। अनेक आश्रयों वाली या अनेक पुरुष रूप आश्रयों वाली प्रकृति ही संसरण करती है, (जन्म–मरण प्राप्त करती है) बंधती है तथा मुक्त होती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष निर्गुण तथा अपरिणामी है अतः बन्धन, मोक्ष एवं संसरण पुरुष का नहीं वरन् प्रकृति का ही होता है। प्रकृति के सूक्ष्म शरीर जो बुद्धि के धर्माधर्म भावों से संस्कारित होकर बंधते है, लोक लोकान्तर में संसरण करते है तथा अन्त में संस्कारों का भोग समाप्त हो जाने पर मुक्त हो जाते है। पुरुष पर इनका अध्यारोप होता है। जिस प्रकार

यु दो सेनाओं के मध्य होता है लेकिन जय व पराजय का श्रेय राजा को प्राप्त होता है। यह दृष्टान्त योगभाष्य से उद्धृत किया गया है।

6. एवं तत्वाभ्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।64।।

संदभ –4.9.1 के अनुसार

प्रसंग – सांख्य शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य प्रकृति व पुरुष के भद व 25 तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करना है। जब पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि यह मैं नहीं हूँ वरन् इससे भिन्न हूँ। प्रकृति का पुरुष की भिन्नता जान लेने के पश्चात् फिर क्या होता है? इसका उत्तर सांख्यकारिकाकार इस प्रकार देते है कि–

व्याख्या – तत्त्वज्ञान के अभ्यास व चिन्तन से विशु ज्ञान प्राप्त होता है। सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अभ्यास से जब यह महसूस हो जाता है कि प्रकृति से निर्मित शरीरवान 'मैं नहीं हूँ' यह भोतिक शरीर मेरा नहीं है, प्रकृति का है। मैं प्रकृति भो नहीं हूँ वरन् प्रकृति से भिन्न हूँ। इस प्रकार का संशयरहित सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जो विशुद्ध एवं केवल अर्थात् एक होता है।

व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान से मूल प्रकृति तथा महदादि तेइस तत्त्वों व पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् पुरुष को यह बोध हो जाता है कि नास्मि, न मे, नाहम्। इस प्रकार मन बुद्धि इन्द्रिय व शरीर से भिन्न 'पुरुष तत्त्व' है। ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष पर ज्ञाता, कर्ता व भोक्ता का जो आरोप था वह दूर हो जाता है तथा वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचान लेता है।

टिप्पणी –

तत्त्वाभ्यासात् – सांख्य में पञ्चीस तत्व माने गये उनके अभ्यास से अर्थात् पुनः पुन चिन्तन से तत्वज्ञान होता है। 'नाहम्' 'मैं नहीं हूँ' सम्यक् ज्ञान होने पर पुरुष को यह बोध होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। अहम् अभिमान तत्त्व है जो बुद्धि का विषय होने के कारण प्रकृति है। जब सम्यक् ज्ञान हो जाता है तो यह अभिमान समाप्त हो जाता है कि 'मैं हूँ'।

अविपर्ययाद – मिथ्या, संशय व विपर्यय अज्ञान के भद है सम्यक् ज्ञान से अभिप्राय संशय मिथ्या व विपर्यय से रहित ज्ञान से है।

विशुं – संशय विपर्यय व मिथ्या ज्ञान से रहित सम्यक् ज्ञान विशु कहलाता है।

केवलम – ज्ञान के विशेषण के रूप में केवल शब्द का प्रयोग हुआ है। तत्त्व ज्ञान बोध होने पर विपर्यय का समुच्छेद हो जाता है तथा मात्र पुरुष अवशिष्ट रह जाता है अतः पुरुष को या ज्ञान को 'केवल' कहा है। प्रकृति के सभो तत्त्वों व पुरुष तत्त्व को जान लेने के पश्चात् बन्धन का कोई कारण शष ही नहीं रहता।

4.10 पारिभाषिक शब्दावली

1. बन्धन – पुरुष व प्रकृति का संयोग ही बन्धन है।
2. मोक्ष – त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष है।
3. कैवल्य – पुरुष का यह जान लेना कि वह नित्य शुद्ध , बुद्ध एवं सत्य है, पुरुष का कैवल्य है। मोक्ष व कैवल्य समान अर्थो में प्रयुक्त होते है।
4. जीवन्मुक्ति – विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति का अनुभव करने लगता है।
5. विदेहमुक्ति – शरीर के नष्ट हो जाने पर दुःखत्रय से आत्यन्तिक निवृत्ति विदेहमुक्ति कहलाती है।
6. विवेक ज्ञान – संशय, विपर्यय व मिथ्या ज्ञान से भिन्न सम्यक् ज्ञान होना ही विवेक ज्ञान है।
7. त्रिविध दुःख – आध्यात्मिक ;शारीरिक व मानसिक दुःखद्ध, आधिदैविक व आधिभौतिक तीन प्रकार के दुःख।

8. प्रवृत्ति – प्रकृति का पुरुष को भोगादि सृष्टि प्रपञ् में बांधना प्रवृत्ति है।
9. निवृत्ति – पुरुष व प्रकृति दो भिन्न तत्त्व है इनका सम्यक् ज्ञान करवा विषयों से विरत करना निवृत्ति है।
10. सुस्थः – प्रेक्षक के समान अवस्थित, निष्क्रिय।

4.11 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. सांख्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है–
   (अ) यज्ञादि कम (ब) अष्टागं मार्ग
   (स) विवेक ज्ञान (द) सम्यक् चरित्र
2. सांख्य के अनुसार 'बन्धन' का कारण है–
   (अ) पुरुष व प्रकृति का संयोग (ब) माया का प्रभाव
   (स) धार्मिक कम (द) विवर्तवाद
3. पुरुष व प्रकृति के संयोग का प्रयोजन है –
   (अ) प्रकृति का सृष्टि (ब) भोगापवर्ग की सिद्धि
   (स) पंचभ्तों की उत्पत्ति (द) द्वैतवाद
4. मोक्ष से अभिप्राय है –
   (अ) निर्विकल्पक समाधि (ब) ब्रह्मलीन होना
   (स) दुःखत्रय से आत्यन्तिक निवृत्ति (द) आनन्दप्राप्ति

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

प्र.1 सांख्य के अनुसार त्रिविध दुःखों का विवेचन कीजिये?
प्र.2 सांख्य के अनुसार जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति में अन्तर समझाइये?
प्र.3 सांख्य मत के अनुसार विवेकज्ञान किसे कहते है?

निबन्धात्मक प्रश्न –

प्र.1 सांख्य के अनुसार मोक्ष के स्वरूप व उसके भदों को समझाइये?
प्र.2 त्रिविध दुःखों की व्याख्या कीजिये।
प्र.3 सांख्य दर्शन में 'बंधन' से क्या अभिप्राय है? इसके भदों पर प्रकाश डालिये।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. (स)
2. (अ)
3. (ब)
4. (स)

लघ्,तरात्मक प्रश्न –

1. आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक।
2. जीवन में ही पुरुष व प्रकृति के भेद का सम्यक् ज्ञान होना जीवन्मुक्ति है तथा सम्यक् ज्ञान के पश्चात् शरीर का समाप्त हो जाना विदेहमुक्ति है।
3. पुरुष व प्रकृति या आत्म व अनात्म के भेद ज्ञान हो जानना ही विवेक ज्ञान है।

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. इकाई 4.7, 4.8 को देखिये।
2. इकाई 4.3 को देखिये।
3. इकाई 4.5 देखिये।

4.12 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने सांस्य दर्शन में बन्धन एवं मोक्ष के स्वरूप को जाना । सारांश दर्शन सांस्य दर्शन में आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तिन प्रकार के दुःख स्वीकार किये गए हैं । इन दुखों से मुक्ति हेतु मोक्ष की कल्पना की गई बंधन भी प्राकृतिक वैकृतिक

एवं दाक्षिवक रूपों में तीन प्रकार का कहा गया है तथा मोक्ष जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति के रूप में दो प्रकार है ।

4.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका – (सम्पा.) ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2008.
2. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका – (सम्पा.) रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भडार, मेरठ, 1965.
3. विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य प्रवचन भाष्य – भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, दिल्ली,2011.
4. वाचस्पतिमिश्रकृत सांख्यतत्त्वकौमुदी जयमंगला टीका साहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 2000.
5. भारतीय दर्शन (2) डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एंड संस, दिल्ली,1996.
6. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली,1977.
7. भारतीय दर्शन की रूपरेखा एम. हिरियन्ना,, राजकमल प्रकाशन,1965.
8. भारतीय दर्शन आलोचना व अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली 1998.

इकाई–5

प्रत्ययसर्ग (सांख्यकारिका)

इकाई की रूपरेखा –

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 सांख्यों का विकासवाद का सिद्धान्त
5.3 सृष्टि का मूल कारण
    5.3.1 गुणत्रय ;सत्व, रज व तमद्ध
    5.3.2 सृष्टि का प्रयोजन
5.4 सृष्टि का विकासक्रम
    5.4.1 महत् तत्त्व
    5.4.2 अहंकार–सात्विक, तामस, राजस
    5.4.3 इन्द्रियाँ
        5.4.3.1 ज्ञानेन्द्रियाँ
        5.4.3.2 कर्मेन्द्रियाँ
        5.4.3.3 मन
    5.4.4 तन्मात्राएँ
    5.4.5 पञ्महाभ्त
5.5 सूक्ष्मशरीर
5.6 प्रत्ययसर्ग
    (क) विपर्यय
    (ख) अशक्ति
    (ग) तुष्टि
    (घ) सिद्धि
5.7 तन्मात्रसर्ग
5.8 पारिभाषिक शब्दावली
5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.10 सारांश
5.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.0 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई में सांख्य दर्शन के सृष्टि सम्बंधी विचारों का विवेचन किया गया है। सांख्यों का सृष्टि विकास क्रम 25 तत्त्वों पर आधारित है। पुरुष व मूल प्रकृति के साथ महत् से लेकर पञ् महाभ्तों का क्रमशः विकास बताया गया है। यह सृष्टि कार्य मूलरूप से दो भागों में विभक्त है। प्रत्यय सर्ग अथवा बुद्धिसर्ग तथा भोतिक सर्ग। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य है –

1. सांख्यों का विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय कराना।
2. सृष्टि के कारण गुणत्रय के बारे में जानकारी देना।
3. महत् से पञ्भ्तों तक का विकास क्रम से अगवत कराना।
4. प्रत्ययसर्ग व भोतिक सर्ग का परिचय प्रस्तुत करना।

5.1 प्रस्तावना –

सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण बिन्दु है तत्त्व विचार। सांख्य दर्शन में सृष्टि सम्बंधी विकास क्रम का प्रमुख चिन्तनीय विषय 'तत्त्व विचार' ही है। इसमें मूल प्रकृति व पुरुष मिलाकर 25 तत्त्वों से सृष्टि का विकास क्रम दर्शाया गया है। सांख्यों का मूल विचार यह है कि इन्द्रियों से अगोचर एक ही अव्यक्त व सूक्ष्म तत्व से इस व्यक्त सृष्टि का निर्माण हुआ है।

5.2 सांख्यों का विकासवाद का सिद्धान्त –

मूल प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल कारण है। यह समस्त भौतिक द्रव्य एवं शक्ति इसी से उत्पन्न है। यह समस्त विविध संसार इसी प्रकृति के विकास का ही परिणाम है। सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते अतः सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति का ही परिणाम है।

पश्चिमी देशों में भो एक मूलद्रव्य से ही सृष्टि के विकास की बात कही है। श्री बालगंगाधर तिलक गीता रहस्य में विश्व की रचना व संहार विषय पर चर्चा करते हुए कहते है कि पश्चिमी उत्क्रान्तिकवाद और सांख्य शास्त्र में वर्णित प्रकृति के कार्य सम्बंधी तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि इस मुख्य सिद्धान्त से दोनों सहमत है कि अव्यक्त सूक्ष्म और एक मूल रूप प्रकृति से ही क्रमशः (सूक्ष्म और स्थूल) विविध रूप व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परन्तु अब आधिभोतिक शास्त्रों के ज्ञान की खूब वृद्धि हो जाने के कारण सांख्यवादियों के 'सत्व रज तम इन तीन गुणों के बदले आधुनिक सृष्टि शास्त्रज्ञों में गति, उष्णता और आकषण शक्ति को प्रधान गुण माना है।

अतः स्पष्ट है कि सांख्य में सत्व रज तम तीनों गुणों को सृष्टि उत्पत्ति का कारण माना गया है। सांख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त जिसका उल्लेख पूर्व इकाईओं में हो चुका है, यह स्वीकार करता है कि कार्य का कभो विनाश नहीं होता वह अपने मूलकारण में विद्यमान रहता है। अतः प्रकृति के व्यक्त सम्पूर्ण कार्य समूह अपने अव्यक्त कारण मूल प्रकृति में विद्यमान रहते है जिसका प्रकाशन विकास के माध्यम से होता है। यदि हम डार्विन व सांख्यों के विकास क्रम की तुलना करें तो–

1. सांख्यों का विकासवाद का सिद्धान्त अति प्राचीन है।
2. विकासवाद में सृष्टि व प्रलय का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर माना गया है।
3. डार्विन का विकासवाद निष्प्रयोजन है व यान्त्रिक है। सांख्यों का विकासवाद सप्रयोजन है।
4. डार्विन के विकासवाद में मात्र जीवधारियों का विकास वर्णित है जबकि सांख्यों के विकासवाद में सम्पूर्ण जड़ व चेतन जगत् शामिल है।
5. डार्विन विकास की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। जबकि सांख्यों का विकासवाद सृष्टि का दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

5.3 सृष्टि का मूलकारण –

दृश्यमान इस चराचर जगत् का मूलकारण क्या है? इस विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई काल को, कोई स्वभाव को यदृच्छा को तो कोई ईश्वर को सृष्टि का मूल कारण मानते है। मूलतः सृष्टि के उपादान व निमित्त दो कारण माने गये है।

नैयायिक परमाणुओं को सृष्टि का उपादान कारण तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते है। सांख्य जड़ व चेतन के रूप में प्रकृति व पुरुष की सत्ता स्वीकार करता है। जितने भो जड़ पदार्थ है, उनका कोई न कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिये, वह भोक्ता चेतन ही हो सकता है अतः सांख्य उसे पुरुष की संज्ञा देता है। वदान्त इन से विपरीत इस सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानता है। चार्वाक जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानते है परन्तु सांख्य जड़ व चेतन दो को इस सृष्टि का कारण मानता है अतः द्वैतवादी दर्शन कहा जाता है। सांख्यों

के अनुसार प्रकृति जड़ होते हुए भो क्रियाशील है तथा तीनो गुणों ;सत्व, रज, तमद्ध से संयुक्त है पुरुष निर्गुण है परन्तु चेतन है और निष्क्रिय है। अतः चेतन पुरुष व सक्रिय प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का कारण है। सत्व, रज तम तीनों गुणों का संयोग 'प्रकृति' उपादान कारण व चेतन पुरुष के संयोग से क्षोभ होने के कारण सृष्टि होती है अतः 'परुष' निमित्त कारण है।

5.3.1 गुणत्रय –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता, 2–16)

अर्थात् असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता तथा सत् का कभो अभाव नहीं होता। सांख्य कारण कार्य के इस सिद्धान्त सत्कार्यवाद को मानता है कि कार्य सदा अपने कारण में विद्यमान रहता है। सृष्टि के मूल कारण सत्व, रज व तम तीनों गुण माने गये है क्योंकि यह गुण ही प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप है तथा पुरुष की स्वार्थ सिद्धि (भोग व अपवर्ग की प्राप्ति) में सहायक व उपकारण होते है। इनमें संयोग व वियोग होता रहता है तथा यह लघुत्व गुरुत्व आदि धर्मो से युक्त होते है अतः क्रिया तथा धर्म से युक्त होने के कारण 'द्रव्य' ही है।

प्रकृति के ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने पर भो मिलकर कार्य करते है जैसे दीपक बत्ती व तेल परस्पर विरोधी होने पर भो 'दीपक' के जलने में तीनों मिलकर कारण है। प्रकृति के तीनों गुणों के कारण ही सृष्टि में परिवर्तन, परिणाम व विकार उत्पन्न होते है। यह विकार दो प्रकार के होते है– प्रलयकाल का तथा सृष्टिकाल का।

प्रलयकाल में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते है। जब गुण समान अवस्था में होते है, एक गुण दूसरे से प्रबल नहीं होता तो गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है। यह सरूपपरिणाम है।

गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः। सा. सूत्र–1/61

दूसरा परिणाम सृष्टि है। इसमें एक गुण अन्य दोनों गुणों से प्रबल हो जाता है तब गुणों की विषमावस्था होने से सृष्टि कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यह 'विरूपपरिणाम' है। सरूपावस्था व विरूपावस्था दोनों में ही गुण अपनी मूलप्रकृति में विद्यमान रहते है। अतः स्पष्ट है कार्य अपने कारण में नियत रूप से विद्यमान रहता है।

सांख्यों के अनुसार तीनों गुणों का परिणमन ही सृष्टि है। उनके अनुसार कार्य नष्ट नहीं होता वह अपने कारण में विद्यमान रहता है सृष्टि कार्य में गुणों का आविर्भाव तथा प्रलयावस्था में तीनों गुणों का मूलप्रकृति में तिरोभाव हो जाता है। अतः समस्त सृष्टि प्रकृति के गभ में विद्यमान है। रजोगुण के कारण प्रकृति निरन्तर सक्रिय रही है। प्रलय दशा में तीनों गुण साम्यावस्था में आ जाते है सृष्टि कार्य के लिए प्रकृति के साथ चेतन पुरुष का संयोग जरूरी है। पुरुष के संयोग से गुणों में क्षोभ होता है तथा गुणों में क्षोभ के कारण ऊपर से शांत दिखने वाली प्रकृति अन्दर से विषमावस्था में आ जाती है और उसमें हलचल उत्पन्न हो जाती है। तीनों गुण एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करते है तथा कभो एक दूसरे का आश्रय भो बन जाते है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न अनुपातों में आपस में मिलकर गुण सृष्टि की उत्पत्ति करते है अतः सृष्टि के उपादान कारण गुणत्रय है तथा चेतन पुरुष का संयोग इसका निमित्त कारण है।

सृष्टि का यह क्रम चक्रवत चला रहता है। यह चक्र अनादि है। यदि मुक्त पुरुष के लिए सृष्टि चक्र समाप्त हो जाता परन्तु बद्ध पुरुषों के लिए यह अनवरत चलता रहता है।

5.3.2 सृष्टि का प्रयोजन –

सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति जड़ प्रकृति से मानी गयी है परन्तु यह डार्विन के विकासवाद की तरह यान्त्रिक नहीं है सांख्य में सृष्टि उत्पत्ति का प्रयोजन है। प्रकृति सृष्टि रूप कार्य समूह की रचना पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के लिए करती है। इसके लिए सांख्य में

अंधे व पंगु का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार पंगु अंधे के कंधे पर बैठकर अंधे को मार्ग बताता है तथा अन्धा उसके द्वारा बताये मार्ग पर चलकर अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते है उसी प्रकार निष्क्रिय व चेतन पुरुष के संयोग से सक्रिय व जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य करने में समर्थ होती है।

सांख्य में पुरुष व प्रकृति को परस्पर विपरीत तथा स्वतन्त्र माना गया है अतः प्रकृति व पुरुष का संयोग सृष्टि कार्य का साधक कैसे हो सकता है? पंगु व अंधा दोनों ही सचेतन है और उन दोनों को अपने गन्तव्य स्थल का बोध है अतः प्रकृति व पुरुष के लिए यह दृष्टान्त उचित नहीं है। यहाँ न तो प्रकृति चेतन है तथा न ही उसका कोई प्रयोजन है तथा शुद्ध चैतन्य पुरुष का तो कोई प्रयोजन नहीं है अतः प्रकृति व पुरुष का संयोग असंभव है। इस शंका का समाधान सांख्य में दिया गया है कि पुरुष तो हमेशा प्रकृति के समीप है, जब पुरुष की चेतनता का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है तो गुणों का क्षोभ या वैषम्य होता है तथा प्रकृति के गुणों का क्षोभ ही सृष्टि रचना का कारण हैं।

5.4 सृष्टि का विकासक्रम –

जगत् का मूलकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। तीनों गुण सत्व रज व तम प्रकृति के उपादान कारण है। चेतन पुरुष के संयोग से यह उसी प्रकार चेतन प्रतीत होने लगते है जैसे अयस्कान्तमणि ;चुम्बकद्ध के सम्पर्क से लोहे का टुकड़ा चेतन प्रतीत होने लगता है। विज्ञान भिक्षु सांख्य प्रवचन भाष्य में कहते है कि 'जिस प्रकार संयोग से आग और लोहे में एक दूसरे के धर्म आ जाते है अथवा जिस प्रकार जल व सूर्य के संयोग से परस्पर के धर्म शीतलता व उष्णता का आरोप हो जाता है उसी प्रकार बुद्धि व पुरुष में चैतन्य व कतृत्वभाव है जो उनकी उपाधियों के कारण है, वस्तुतः होते नहीं है।

म्ल प्रकृति गुणों की साम्यवस्था है। चैतन्य पुरुष के कारण जब प्रकृति में क्षोभ होता है तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है, प्रकृति अपने भोतर से समस्त संसार उत्पन्न करती है तथा जब प्रलय होता है तो पुनः अपने मूलकारण में समाविष्ट हो जाती है। महाभारत में भो कहा गया है–

गुणा ग्णेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च।। शांति. 375,23

व्यक्त सृष्टि का कोई न कोई मूल कारण अवश्य है जो अव्यक्त है अतः प्रकृति को अव्यक्त कहते है। वह प्रधान तथा सबको उत्पन्न करने वाली है अतः प्रकृति कहते है। प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग होने से गुणों में हलचल पैदा हो जाती है तथा एक गुण दूसरे गुण को दबाना चाहता है, स्वयं दूसरे से प्रबल होना चाहता है। सांख्य शास्त्र में इसे ही गुणोत्कम या गुण परिणामवाद कहते है। जब यह गुण भिन्न–भिन्न अनुपात में आपस में मिल खड़े होते है तो सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। सृष्टि का प्रथम उत्पन्न तत्त्व महत् है। प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती तथा महत् तत्त्व को उत्पन्न करती है अतः प्रकृति कहलाती है।

प्रकृति व पुरुष के संयोग को सृष्टि का प्रधान कारण माना गया है परन्तु सृष्टि उत्पत्ति के विकास क्रम को देखे तो उत्पत्ति में उपादान व निमित्त दोनों ही कारण महत्वपूर्ण है। प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग निमित्त कारण है लेकिन बिना उपादान कारण के सृष्टि उत्पत्ति सम्भव नही है। अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति ही महत् आदि की उत्पत्ति का उपादान कारण है। इस विकासक्रम को सांख्यकारिकाकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्भ्यः पञ्भूतानि।।22।।

अर्थात् मूल प्रकृति से महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्व से अभिमानरूप अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्रायें कुल सोलह तत्वों का समूह उत्पन्न होता है। पाँच तन्मात्राओं से पञ् महाभ्तों की उत्पत्ति होती

है। इस प्रकार प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्व महत् है। इन तत्वों का क्रमशः वर्णन इस प्रकार है –

5.4.1 महत्तत्त्व –

प्रकृति व पुरुष के संयोग से प्रथम सृष्टि तत्त्व महत् या बुद्धि है। महत् तत्त्व (बुद्धि) ही सृष्टि उत्पत्ति में बीज का कार्य करती है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार, संसार के विकास में विशेष महत्त्वशाली कारण होने के कारण महत् विशेषण से युक्त है। आभ्यन्तरिक दृष्टि से इसे ही 'बुद्धि' कहते है यह प्रत्येक जीव में रहती है। बुद्धि अथवा महत् तत्त्व में सत्त्व गुण का प्राधान्य होता है अतः सत्त्व के धर्म प्रकाश व लघुत्व बुद्धि में है।

'अध्यवसायो बुद्धिधर्मः' अध्यवसाय अर्थात निश्चय करना बुद्धि का लक्षण है, इस कारण यह स्वयं को तथा अन्य विषयों को भो प्रकाशित करती है। सत्व गुण की प्रधानता के कारण धर्म, ज्ञान, विराग एवं ऐश्वर्य इन चार गुणों का इसमें आविर्भाव होता है परन्तु जब तमोगुण प्रधान हो जाता है तो अधर्म, अज्ञान अवैराग्य तथा अनैश्वर्य उत्पन्न हो जाते है।

बुद्धि के चार भाव धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य इस प्रकार है–

1. **धर्म –**

   अभ्युदय तथा निश्रेयस् के साधक हेतु को धर्म कहते है। अभ्युदय से अभिप्राय भोतिक उन्नति से है यह यज्ञ दानादि कर्मो से सम्भव है। निःश्रेयस कैवल्य या मोक्ष का नाम है योग का अष्टांग मार्ग तथा, सत्य अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, स्वाध्याय, यम, नियम, ईश्वर प्रणिधान आदि से धर्म आचरण का ग्रहण होता है। इसके विपरीत आचरण अधर्म माने गये है।

2. **ज्ञान –**

   ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में सहायक है त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा पुरुष की भदात्मिका विवेक बुद्धि ही ज्ञान है। प्रकृति सत्व, रज एवं तम तीनों गुणों की साम्यावस्था है तथा पुरुष चेतन, निर्गुण व्यापि है। इसके विपरीत पुरुष के कर्ता एवं प्रकृति के चेतन प्रतीत होने को अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहते है। अतः बाह्यज्ञान लोक में प्रवृत्ति के लिये आवश्यक है। तो आभ्यन्तरज्ञान मोक्ष की सिद्धि में सहायक है। ज्ञानेन चापवर्गः कहकर सांख्यकारिका में स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

3. **विराग –**

   राग या आसक्ति का अभाव ही विराग है। विराग के दो भद है। बाह्य एवं आभ्यन्तर। लौकिक विषयों में क्षय, हिंसा आदि को देखकर वैराग्य पैदा होना बाह्य वैराग्य कहलाता है तथा विषयों को स्वतः माया व इन्द्रजाल समझना और मोक्ष की ईच्छा रखना आभ्यन्तर वैराग्य कहलाता है। जय मंगलाकार के अनुसार विषय, शरीर एवं इन्द्रियों आदि के दोष देखकर उसके प्रति विमुखता ही विराग है तथा विषयों के प्रति अभिलाषा का बना रहना ही राग है। योग सूत्र में कहा गया है लौकिक व पारलौकिक समस्त विषयों में तृष्णा की समाप्ति हो जाने पर मन को पूर्ण वश में करना ही वैराग्य है।

4. **ऐश्वर्य –**

   सिद्धियों की प्राप्ति बुद्धि का धर्म है। आठ प्रकार की अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव ही ऐश्वर्य है। अणिमा नामक सिद्धि से शिला में भो प्रवेश करने की क्षमता प्राप्त हो जाती हैं सूर्य लोक में गमन की शक्ति लघिमा, बहुत बड़ा हो जाना महिमा, अंगुली से चन्द्रमा को छू लेना प्राप्ति, चाही गयी वस्तु का प्राप्त हो जाना प्राकाम्य, प्राणिमात्र का वश में हो जाना वशित्व तथा रूप रसादि तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि भ्तों तथा उनके विकार गो, घट के प्रादुर्भाव की क्षमता इशित्व तथा

संकल्प की सत्यता सत्य संकल्पता आठ सियिाँ है। आठों सिद्धियों का अभाव अनैश्वर्य है।

बुद्धि प्रकृति का कार्य होने के कारण स्वयं जड़ है परन्तु चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब जब इस पर पड़ता है तो जड़ बुद्धि चेतन प्रतीत होने लगती है। संसार के जितने भो कतव्य है वह सभो पुरुष अपनी बुद्धि से निश्चय करके ही करते है। इन समस्त कार्यो को पहले बुद्धि अनुभव करके बाद में पुरुष को अर्पित कर देती है। अभदान्वय के कारण बुद्धि के इन सब कार्यो को पुरुष अपना समझ कर भोग करता है। बुद्धि की सहायता से ही जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। तब पुरुष को कैवल्य प्राप्त कराने वाली भो बुद्धि है।

5.4.2 अहंकार –

महत् तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से अभिप्राय अभिमान है। अभिमान के कारण ही पुरुष भम में पड़ता है कि और जो विषय उसके नहीं है उन्हें अपना समझने लगता है। 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है' इस तरह के अहंकार का आश्रय करके जब बुद्धि अपना निश्चयात्मक व्यापार सम्पन्न करती है। बुद्धि के निश्चयात्मक व्यापार से पहले अभिमान रूप व्यापार का होना आवश्यक है, इससे जीव का जीवत्व स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है तथा ज्ञातृत्व व भोक्तृत्व के अतिरिक्त उसमें कर्तृत्व भावना का भो उदय हो जाता है।

तीनों गुणों के कारण अहंकार भो त्रिविध होता है–

1. **सात्विक या वैकृत –**

   इसमें सत्व गुण की प्रधानता होती है। समष्टि स्प में यह एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करता है तथा व्यष्टि रूप में शुभ कार्यो को उत्पन्न करता है।

2. **तामस या भूतादि –**

   इसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। समष्टि रूप में यह तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है तथा व्यष्टि रूप में आलस्य, प्रमाद, विवाद आदि को उत्पन्न करता है।

3. **राजस या तैजस –**

   इसमें रजोगुण का प्रधान्य होता है। यह सात्विक व तामस अहंकार को शक्ति प्रदान करता है। राजस के संयोग से ही दोनों गुण कार्य में प्रवृत्त होते है। व्यष्टि रूप में यह अशुभ कर्मो को उत्पन्न करता है।

5.4.3 इन्द्रियाँ –

अहंकार के सात्विक अंश से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती ह। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। इन्द्रियों की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' शब्द से हुई है। जिसका अभिप्राय 'आत्मा' से है।

डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी 'इन्द्रस्य इदम्' व्युत्पत्ति से चक्षु आदि को इन्द्रिय कहते है। इन्द्रियाँ करण है और करण साधन को कहते है और साधन की उपयोगिता किसी कर्त्ता के लिए होती है, जो उसका स्वामी भो होता है अतः इन्द्रियों के स्वामी का अभिप्राय ;आत्माद्ध पुरुष से ही है जो ज्ञान व क्रिया के रूप मे इनका उपयोग करता है। इन्द्र शब्द का आत्मा के रूप में प्रयोग 'इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते' श्रुतियों में हुआ है। इन्द्रियों के दो भद है– 1. अन्तरिन्द्रिय 2. बाह्येन्द्रियाँ। अन्तरिन्द्रिय मन है। बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त सूचना के आधार पर विषय में संकल्प एवं विकल्प करना इसका कार्य है। बाह्येन्द्रियाँ भो दो प्रकार की है–

5.4.3.1 ज्ञानेन्द्रियाँ –

तत्वकौमुदी के अनुसार सात्विक अहंकार का कार्य होते हुए रूप, रस, गंध रचर्शादि विषयों के आद्धालोचन के जो कारण है– वह ज्ञानेन्द्रियाँ है। बुद्धि पूर्वक आलोचन के कारण सांख्याचार्यो ने इन्हें बुद्धीन्द्रिय भो कहा है। ज्ञानेन्द्रियां पाँच हैं–

1. चक्षु – यह रूप की उपलब्धि का साधन है। अतः रूपमाचष्टे इति चक्षु इसकी निरूक्ति की गयी है।
2. श्रोत्र – 'शब्द' शृणोति अनेन इति' अर्थात् शब्द सुनने के कारण इसे श्रोत्र कहते है।
3. घ्राण – गन्ध की उपलब्धि का साधन होने के कारण इसे घ्राणेन्द्रिय कहा जाता है, यह नाक का कार्य है।
4. रसना – 'रस्यति अनेन इति रसना अर्थात् षड्रसों' (मधुर, लवण, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त) के आस्वाद के कारण इसे रसना कहते है।
5. त्वक् – स्पर्श का बोध त्वचा से होता है।

5.4.3.2 कर्मेन्द्रियाँ –

'कमसाधनानि इन्द्रियाणि' कम का साधन होने के कारण इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहा जाता है। अहंकार में निकृष्ट सत्व की प्रधानता होने से कर्मोन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यह पाँच है–

1. वाक् – वाणी से बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है अतः इसे वागेन्द्रिय कहते है।
2. पाणि – पाणि से अभिप्राय हाथ है। वस्तुओं का आदान–प्रदान हाथों का कार्य है।
3. पाद – विचरण व गमनागमन का कार्य पैरों का है।
4. पायु – मल मूत्र विसर्जन का कार्य इन इन्द्रियों का है।
5. उपस्थ – उपस्थ से तात्पर्य आनन्द देने वाली जननेन्द्रियों से है।

5.4.3.3 मन –

सांख्य के अनुसार मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों को कार्य में प्रवृत्त करने के कारण मन उभयात्मक है। चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने–अपने कम में प्रवृत्त करना मन का कार्य है।

'संकल्पकं मनः।' संकल्प करना मन का लक्षण है। इन्द्रियों के द्वारा आलोचित वस्तु के विषय में सम्यक कल्पना (विशेषण– विशेष्य भाव से विवेचन) मन का व्यापार है। जिस प्रकार अध्यवसाय रूपी असाधारण व्यापार करने वाला महत् तथा अभिमान रूपी असाधारण व्यापार करने वाला 'अहंकार' इन्द्रिय नहीं है, उसी प्रकार संकल्पात्मक असाधारण व्यापार करने वाले 'मन' को भो इन्द्रिय नहीं मानना चाहिये। इन्द्रियत्व का आधायक आत्मा अनुमापक हेतु होता है। इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों में नियत है, महत् एवं अहंकार के विषय नियत नहीं है अतः यह सर्वविषयक है। मन भो सर्वविषयक है तथापि मन इन्द्रिय है क्योंकि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ इसका साधर्म्य है। यहाँ समानधर्मता से अभिप्राय उपादान कारण से है इन्द्रियाँ उन्हीं को कहा जाता है जो सात्विक अहंकार से उत्पन्न है। चक्षु रूप को देखती है तथा पैर चलने का कार्य करते है, मन संकल्पात्मक है यह ज्ञान को सविकल्पक बनाता है अतः वस्तु की सम्यक् कल्पना करना ही मन का स्वरूप है। मन, अहंकार तथा बुद्धि तीनों अंतकरण है तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ 10 बाह्यकरण कहलाते है अतः कुल मिलाकर त्रयोदश करण कहलाते है। बाह्यकरणों का सम्बंध वर्तमान काल से होता है किंतु अन्तःकरणों का सम्बंध वर्तमान भ्त व भविष्य तीनों कालों से होता है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों को मन संकल्पात्मक बनाता है, अहंकार उस पर अपना व्यापार करता है तथा महत् निश्चित करके 'पुरुष' के समक्ष प्रस्तुत करती है। इस प्रकार तीनों के भिन्न–भिन्न कार्य होते हुए भो इन तीनों का एक सम्मिलित व्यापार है– पञ्

प्राण। प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान पञ् प्राणों के व्यापार अन्तःकरण के ही व्यापार है।

5.4.4 तन्मात्राएँ –

तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। तन्मात्र का अर्थ है सूक्ष्म तत्त्व। इन्द्रियों से अविशेष व विशेष दो प्रकार के विषयों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पाँचों तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्म हैं ये अनुभव योग्य सुखदुःखमोहात्मक धर्म से युक्त नहीं है, इसलिए इन्हें अविशेष कहते है तथा इनकी उद्भावना अहंकार के तामस् रूप से होती है। तन्मात्राओं के योग से पंच महाभ्तों की उत्पत्ति होती है। ये पंचमहाभ्त शांत, घोर और मूढ होते हैं अतः इन्हें विशेष कहा जाता है। यह अनुभव योग्य सुखदुःखमोहात्मक धर्मो से यक्त होते हैं।

5.4.5 पञ्महाभूत –

तन्मात्राओं के उत्तरोत्तर योग से पञ्महाभ्तों की उत्पत्ति होती है। जो इस प्रकार है–

1. **आकाश** – शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाले आकाश तत्त्व का विकास होता है।
2. **वायु** – शब्द तन्मात्र के साथ स्पर्श तन्मात्र के योग से वायु उत्पन्न होता है इसमें शब्द तथा स्पर्श गुण होते है।
3. **अग्नि** – रूप तन्मात्र से तथा शब्द व स्पर्श तन्मात्र के संयोग से तेज ;अग्निद्ध का उदय होता है, इसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण विद्यमान रहते है।
4. **जल** – रस तन्मात्र से तथा शब्द, स्पर्श व रूप तन्मात्र के संयोग से जल उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुण इसमें विद्यमान रहते है।
5. **पृथ्वी** – गन्ध तन्मात्र से तथा शब्द, स्पर्श, रूप व रस तन्मात्रों के संयोग से पृथिवी का जन्म होता है। इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध गुण विद्यमान रहते है। पाच महाभ्तों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध पाँच क्रमश विशिष्ट विषय होते है परन्तु पूर्व भ्तों के गुण भो इनमें समाहित रहते है। स्थूलभ्तों को शांत, मूढ व घोर इसलिए कहा
   है क्योंकि आकाश तत्व में सत्व की प्रधानता होने से सुखास्पद, प्रसन्न व लघु, वायु आदि में रजो गुण की प्रधानता होने से दुःखद व अनवस्थित होते है। पृथ्वी आदि में तमोगुण की प्रधानता होने से स्थूल भो होते है। परस्पर एक दूसरे से भिन्न होने के कारण यह विशेष व स्थूल भ्त कहे गये है।

सूक्ष्मशरीर, स्थूल शरीर व पञ्महाभ्तों को मिलाकर तीन प्रकार के विशेष माने गये है। सूक्ष्म नियत व स्थायी रहता है। अर्थात् सृष्टि आरम्भ से लेकर प्रलयपर्यन्त बने रहते है तथा जन्मजन्मान्तर में प्राप्त होते है। दूसरा विशेष स्थूल शरीर है जो माता–पिता से उत्पन्न होता है तथा इस लोक में ही जन्म तथा मृत्यु हो जाती है। तीसरा विशेष पञ्महाभ्त है।

5.5 सूक्ष्मशरीर

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के स्थूल शरीर के अलावा एक सूक्ष्म शरीर भो होता है जिसे लिङ्ग शरीर कहते है। महत् तत्व, अहंकार मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच तन्मात्राओं से मिलकर कुल 18 तत्वों से सूक्ष्म शरीर का निर्माण हुआ है। सूक्ष्म शरीर सब जगह, सभो प्रदेशों में सर्वत्र प्रवेश कर सकता है, यह शिला में भो प्रवेश कर जाता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को धारण कर लेता है। सूक्ष्म शरीर के बिना स्थूल शरीर का भोग सम्भव नहीं है। लि शरीर के माध्यम से ही स्थूल शरीर जन्म–मरण को प्राप्त करता है। यह सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं होता अपितु जीव के कमजन्य संस्कारों ;भावोंद्ध से बनता व बिगड़ता है। संस्कारों से ही स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। पुरुष के भोग की सिद्धि के लिए स्थूल शरीर आवश्यक है। स्थूल शरीर पञ्भ्तों

से निर्मित है। स्थूल शरीर माता–पिता के रजोवीर्य के योग से प्राप्त होता है। अतः स्थूल शरीर को मातापितृजं कहा गया है। स्थूल शरीर का जन्म इसी लोक में होता है तथा इसी लोक में ही मृत्यु होकर निवृत्त हो जाते है। तीन प्रकार के विशेषों की चर्चा करते हुए सांख्यकारिका में सूक्ष्मशरीर का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।।40।।

सूक्ष्म शरीर सृष्टि के आदि से ही उत्पन्न होता है तथा इसकी गति सर्वत्र अबाधित होती है। महदादिसूक्ष्म तत्वों से लेकर पञ्तन्त्रमात्राओं तक 18 तत्वों से मिलकर बने धर्म आदि आठ भावों से युक्त, स्थूल शरीर के बिना उपभोग प्रदान करने में असमर्थ, स्थूल शरीर से सम्बन्ध करने वाले इस सूक्ष्म शरीर की विशेषतायें इस प्रकार है–

पूर्वोत्पन्नम् असक्तम् –

पूर्वोत्पन्नम् से अभिप्राय महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के प्रारम्भ से है। अतः सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति भो
प्रधान या मूलप्रकृति से मानी गयी है। सूक्ष्मशरीर की गति अबाध मानी गयी है। यह आकाश में उड़ सकता है। पानी में रह सकता है तो शिला में भो प्रवेश कर सकता है। इसकी गति लोक लोकान्तर में भो हो सकती है अतः इसे असक्त कहा गया है।

नियतम् –

यह सृष्टि के आदि से लेकर प्रलय पर्यन्त बना रहता है अतः वस्तुस्थिति में नित्य नहीं होते हुए भो इसे नियत कहा गया है। जयङ्गमला टीका में सूक्ष्म शरीर की स्थिति ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व तक मानी गयी है अतः विवेक ज्ञान के पश्चात् सूक्ष्म शरीर रहता है या नहीं इस विषय मे ंविभिन्न विद्वानों में मतभद है इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि विवेक ज्ञान के पश्चात् सूक्ष्म शरीर रहता तो है परन्तु स्थूल शरीर द्वारा विषयों के उपभोग की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है। संस्कार वश स्थूल शरीर अपने क्रिया कलाप करता रहता है। जिस प्रकार स्विच ऑफ के बाद भो पंखा घूमता रहता है।

निरूपभोगम् –

सूक्ष्म शरीर स्वयं विषयों का उपभोग नहीं कता वरन् विषयों के लिए स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म शरीर जब तक स्थूल शरीर प्राप्त नहीं करता तब तक इधर–उधर तीनों लोकों में विचरण करता रहता है। सूक्ष्म शरीर के तीनों लोकों में विचरण का कारण कर्मो का भोग न हो पाना है। जब तक कर्मो का भोग पूरा नहीं होता तब तक सूक्ष्म शरीर बनारहता है तथा विविध योनियों में विविध प्रकार के स्थूल शरीरों को धारण करता है।

भावैरधिवासितम् –

भाव धर्म–अधर्म, ज्ञान–अज्ञान, विराग–राग, ऐश्वर्य–अनैश्वर्य बुद्धि के धर्म है। बुद्धि इन धर्मो से युक्त होकर ही सूक्ष्म शरीर में रहती है अतः सूक्ष्म शरीर बुद्धि के इन आठ भावों के द्वारा अधिवासित होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब बुद्धि के आठ भावों से अधिवासित होकर सूक्ष्म शरीर संचरण करता है तो सूक्ष्मशरीर की क्या आवश्यकता है? इसके लिए सांख्यकारिका में दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार बिना आधार के चित्र तथा बिना वृक्षादि के छाया नहीं रह सकती, उसी प्रकार 'अविशेष' अर्थात् तन्मात्राओं के बिना बुयादि करण नहीं रह सकते। बुद्धि आदि बाह्यकरणों का आश्रय सूक्ष्म शरीर है। बुद्धि आदि करण बिना सूक्ष्म शरीर के इतस्ततः संसरण करने में समर्थ नहीं होते। अतः सूक्ष्म शरीर की सत्ता है तथा लोक परलोक में गमन व संसरण करने वाली सत्ता सूक्ष्म शरीर ही है।

पुरुष के भोगापवर्ग का साधक सूक्ष्म शरीर –

सूक्ष्म शरीर की प्रवृत्ति का कारण पुरुषार्थ है और यह पुरुषार्थ दो प्रकार का है भोग व अपवर्ग। भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही सूक्ष्म शरीर बनता है जो स्थूल देह रूप कार्य एवं धर्म–अधर्म आदि अनेक कारणों के द्वारा सम्पन्न होता है। सूक्ष्म शरीर प्रकृति की सर्वव्यापकता के भोग से नाटक के अभिनेता के समान नाना रूपधारण करता है। यहाँ सूक्ष्म शरीर की तुलना नाटक के अभिनेता या नट से की गई है जिस प्रकार नाटक में अभिनेता अनेक भ्मिकाओं में दर्शकों के सामने आता है, उसी प्रकार एक ही सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार के शरीर धारण करता है। नाना योनियों में स्थूल शरीरों की प्राप्ति व्यक्ति के अपने धर्माधर्म का परिणाम है।

इस प्रकार सृष्टि विकास क्रम प्रकृति तथा उससे उत्पन्न तेईस तत्त्वों को मिलाकर चौबीस तत्त्वों का व्यापार है सांख्य का पच्चीसवां तत्त्व पुरुष प्रकृति से सदा विपरीत, उदासीन व स्वतन्त्र है वह इस सृष्टि व्यापार से विलग है वह न उत्पन्न होता है न उत्पन्न करता है अतः न प्रकृति है न विकृति है। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, कार्य न होने से विकृति नहीं है। प्रकृति से उत्पन्न महत्; बुद्धि तथा अहंकार और पञ्तन्मात्राएँ यह सात तत्त्व प्रकृति व विकृति दोनों है। यह विकास के कारण भो है तथा स्वयं कार्य भो हैं। पञ्ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ् महाभ्त ये सोलह तत्त्व केवल विकृति है, यह किसी को उत्पन्न करने में कारण नहीं वरन् स्वयं कार्य हैं

सांख्य दार्शनिकों ने सृष्टि विकास क्रम को दो भागों में बाँटा है– प्रत्ययसर्ग एवं तन्मात्र सर्ग।

5.6 प्रत्ययसर्ग –

'प्रतीयते अनने इति प्रत्ययः' प्रतीति बुद्धि से होती है अतः प्रत्यय सर्ग को बुद्धिसर्ग या भाव सर्ग भो कहते है। बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियों के विकास क्रम को प्रत्यय सर्ग कहते है। इस सर्ग का सम्बंध मानस वृत्तियों के उदय से है। बुद्धि, अहंकार, मन तथा इन्द्रियाँ सभो का विस्तरेण विवेचन किया जा चुका है। यहाँ बुद्धि के आठ भावों का उल्लेख अपेक्षित है। इसमें चार भाव धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य सात्विक भाव है। शेष चार तामस भाव इसके विपरीत हैं। अधर्म, अज्ञान, राग, तथा अनैश्वर्य।

अध्यवसाय बुद्धि का असाधारण धर्म है। अहंकार का अभिमान तथा संकल्प व विकल्प मन का असाधारण धर्म है। इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण कर मन को समर्पित करती हैं; मन सम्यक् निर्णय करके अहंकार उस पर अपने को कार्य व्यापार कर्ता मानते हुए, बुद्धि के निश्चय के द्वारा कार्य में सम्पन्न करता है। आलोचन, संकल्प–विकल्प, अभिमान तथा निश्चय यह वृत्तियाँ क्रम से होती है, परन्तु शीघ्रता के कारण यह क्रम लक्षित नहीं होता। चारों अन्तःकरण एक दूसरे की क्रिया का अन्दाज लगाकर ही अपनी क्रिया सम्पन्न करते हैं। इस प्रवृत्ति का कारण भोगापवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि है। बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष के भोग की सामग्री जुटाती है तथा प्रकृति व पुरुष के सूक्ष्म भद को भो प्रकट कर देती है अतः यही प्रधान है।

सांख्य के अनुसार अच्छा–बुरा मनुष्य जो भो कम करता है उससे संस्कार बनते है तथा उन्हें ही भाव कहते है। भाव बुद्धि के धर्म है, साक्षात् रूप से बुद्धि में ही रहते है परन्तु लिंग शरीर में अन्तभ्त होने से लिंग शरीर में ही उपचरित होते है। प्रकृति सृष्टि के आदि में ही प्रत्येक पुरुष के लिए लिंग का निधारण करती है जो प्रलयपर्यन्त रहता है। यह महत् तत्त्व से लेकर सूक्ष्मभ्त तन्मात्राओं को मिलाकर 18 तत्त्वों से बना है। इस सूक्ष्म शरीर की गति कहीं भो अवरूद्ध नहीं होती। यह बुद्धि के आठों भावों से अधिवासित होकर तीनों लोकों में विचरण करता रहता है। धर्म से देवादि लोक में तथा अधर्म से पाताल लोक में गमन करता है। ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति तथा अज्ञान से बन्धन होता है। वैराग्य भाव से जीव प्रकृति में विलीन होकर रहता है तथा रजोगुण के अधिक्य से विषयों में राग होने से संसार में

बार–बार जन्म होता है तथा ऐश्वर्य अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति से मनुष्य की इच्छाओं का विघात नहीं होता, वह जो चाहता है प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत अनैश्वर्य से इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है।

इस प्रकार आठ प्रकार के निमित्त कारण तथा आठ ही प्रकार के नैमित्तिकों ;कार्योद्ध को मिलाकर जो सोलह तत्त्वों का समूह है, उसे बुद्धि की सृष्टि कहते है। विपर्यय, अशक्ति, सिद्धि तुष्टि था इनमें अवस्थित गुणों के परस्पर संघर्ष से प्रत्यय सर्ग के पचास भद हो जाते है। कोई भो प्रतीति अध्यवसायात्मक बुद्धि व्यापार के बिना संभव नहीं होती है अतः सम्पूर्ण सोलह तत्व बुद्धि की सृष्टि माने गये है।

विपर्यय –

विपर्यय से अभिप्राय विपरीत स है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं होता वरन् ज्ञान से भिन्न एक भावात्मक तत्व है। पतञ्जलि योगसूत्र के अनुसार मिथ्या ज्ञान को ही विपर्यय कहते है। वेदान्त दर्शन में इसे माया या अविद्या कहा गया है। अविद्या भो बुद्धि का धर्म है जो तमोगुण के प्रभाव का परिणाम है अतः विपर्यय अज्ञान है। विपर्यय के तम, मोह, महामोह, तामि और अन्धतामि पाँच भद है। योगशास्त्र में इन्हें ही पञ्क्लेश भो कहा गया है। पुरुष को जड़ तथा प्रकृति को चेतन मान लेना ही अविद्या या तम है। इसमें अपवित्र को पवित्र, सुख को दुःख तथा अनात्मा को आत्मा मानना ही अविद्या है। द्रष्टा पुरुष व दर्शन शक्ति बुद्धि का एक प्रतीत होना अस्मिता है। सुख की प्राप्ति के साधन के प्रति तृष्णा राग या महामोह कहलाता है। दुःख के बाद उसके कारक के प्रति क्रोध द्वेष तथा प्रतिदिन संसार की क्षण भगुरता को देखते हुए भो स्वयं को मृतयु से बचाना अभिनिवेश है। इसमें तम अर्थात् अविद्या 8 प्रकार की, मोह अर्थात् अस्मिता 8 प्रकार की, महामोह अर्थात् राग 10 प्रकार का, तामि अथवा द्वेष 18 प्रकार का और अन्धतामि अर्थात अभिनिवेश 18 प्रकार का होता है। इस प्रकार विपर्यय के कुल 62 भद है–

अशक्ति –

ज्ञान प्राप्ति करने में असमर्थ होने को अशक्ति कहते है। किसी विषय को ग्रहण न करने तथा उसे कार्य रूप देने में समर्थ न होने को अशक्ति कहा गया है। अन्तः व बाह्य त्रयोदश करणों में से किसी एक की भो विफलता के कारण विषय का ग्रहण न कर पाना अशक्ति ही है। मन, बुद्धि, अहंकार या इन्द्रियों में से किसी एक की भो विफलता होने से हम विषयों को ठीक से ग्रहण नहीं कर सकते। विषयों को ठीक से ग्रहण न करने की क्षमता को ही अशक्ति कहा गया है। अशक्ति के 28 भद है। 17 प्रकार के बुद्धि दोषों के साथ 11 इन्द्रियों के वध या उनकी विगुणता अशक्ति कही गयी है।

तुष्टि –

प्रकृति से भिन्न पुरुष तत्व है, इस बात को जानकर भो विवेक ज्ञान के लिए प्रवृत्त न होना तुष्टि कहा जाता है। तुष्टि प्राप्त व्यक्ति पुरुष से भिन्न तत्व की प्राप्ति से सन्तुष्ट होकर आत्मबोध या विवेक ज्ञान के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। तुष्टियाँ 9 है। प्रकृति, उपादान, काल और भाव संज्ञक 4 आध्यात्मिक तथा शब्द, रूप, रस, गंध नामक विषयों में उपरति रूप हैं।

सिद्धि –

परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सिद्धि है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। सिद्धियों के 8 प्रकार माने गये है। अध्ययन, ऊह, शब्द, सुहृप्राप्ति, दान तथा त्रिविध दुःखों का नाश ये आठ सिद्धियाँ है। सियिँ आठ है।

इस प्रकार पाँच भद विपयर्य के, अट्ठाइस भद अशक्ति के तथा नौ तुष्टि तथा 8 भद सिद्धि के हैं।

इस प्रकार बुद्धि की चार प्रकार की सृष्टियों में से विपयर्य, अशक्ति व तुष्टि नामक तीनों भद प्रत्ययसर्ग की सिद्धि में बाधक है। अतः मुमुक्षुओं के लिए हेय है। अतः इन तीनों से निकलकर सिद्धियों का सेवन करना चाहिये यह मोक्ष प्रदान करने में सहायक है।

5.7 तन्मात्र सर्ग –

प्रत्यय सर्ग के बिना तन्मात्र सर्ग उत्पन्न नहीं होता तथा तन्मात्र सर्ग के बिना भाव की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः लिङ्ग व भाव नाम की सृष्टियाँ बुद्धि से ही प्रवृत्त होती है। तन्मात्र सृष्टि होकर भो यदि भाव न हो तो वह पुरुषार्थ के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। भाव सृष्टि क` अभाव में पुरुषार्थ की साधिका न होने से तन्मात्र सृष्टि ही नहीं होगी। इस प्रकार दोनों सृष्टियाँ परस्पर भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ की साधिका हैं।

तन्मात्र से भोतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। इन सूक्ष्म भोतिक तत्त्वों से स्थूल पञ् महाभ्तों की तथा उनसे भो स्थूलतम द्रव्यों का आविर्भाव होने लगता है। इन दोनों में तन्मात्र 'अविशेष' कहलाता है। क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष है। भोतिक पदार्थ सुखदुखमोहात्मक होने के कारण विशेष कहलाते हैं।

भोतिक सर्ग में देवताओं की आठ प्रकार की योनियाँ तथा स्थावर व जंगम जगत् की पाँच प्रकार की सृष्टि मानी गयी है। मनुष्य केवल एक प्रकार की सृष्टि होती है। यही संक्षेपतः भोतक सर्ग सत्वगुण की प्रधानता से उत्तम देवलोक तथा तमोगुण की बहुलता से तिर्यक योनि की तथा उत्तम व अधम दोनों के मध्य सृष्टि मनुष्य की है, इसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है।

इस प्रकार महत् से लेकर पञ्महाभ्तों तक का यह सम्पूर्ण सृष्टि क्रम त्रिगुणात्मक है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से आविभ्त होकर प्रलयवस्था में इसी प्रकृति में लीन हो जाती है। दोनों प्रकार की सृष्टियाँ सापेक्ष है। एक दूसरे की उत्पत्ति का कारण है। यदि एक को कारण व दूसरी को कार्य मानते है तो पूर्वापर सम्बंध होने से एक के बिना भो दूसरे की सृष्टि हो जायेगी अतःप्रलय दशा में पूर्व सर्ग के भाव व लिंगों का संस्कार रूप में रहना तथा उसी के कारण आगे सृष्टि का उत्पन्न होना इसके अनादि होने को सिद्ध करता है। यही कारण है कि उपनिषदों में भो सृष्टि अर्थात् प्रकृति पुरुष का संयोग अनादि माना गया है। सांख्यकारिकाकार ने इसके लिये इस कारिका प्रणयन किया है :–

न बिना भावैर्लिङ्गं न बिना लिङ्गेन भावनिर्वृतिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तत सर्गः।।52।।

5.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. परिणामवाद – कारण से कार्य की उत्पत्ति होना यथा दूध से दही का उत्पन्न होना।
2. प्रकृति – तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है।
3. अव्यक्त – अपने मूल रूप में प्रकृति दिखायी नहीं देती अतः प्रकृति को ही अव्यक्त कहते है।
4. गुणक्षोभ – चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण प्रकृति में हलचल मच जाती है, इसे गुण क्षोभ कहते है। इसमें तीनों गुण विषमावस्था अर्थात् िभन्न–भिन्न अनुपात में आ जाते हैं।
5. महत् तत्त्व – प्रकृति का प्रथम सृष्टि तत्व महत् है इसे बुद्धि भो कहते है। अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण है।
6. अध्यवसाय – निश्चय
7. अहंकार – अभिमान। मैं कर्ता हूँ पुरुष का यह भम अभिमान है।
8. मन – संकल्प व विकल्प मन का कार्य है। यह ग्याहरवीं इन्द्रिय मानी गयी है।
9. तन्मात्र – अति सूक्ष्म। शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श पांचों तन्मात्र कहलाते हैं तथा अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हैं।
10. प्रत्ययसर्ग – इसे बुद्धि सर्ग तथा भाव सर्ग भो कहते है। प्रत्यय सर्ग का सम्बंध बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियों के विकास से है।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. सांख्य के अनुसार सृष्टि का मूल कारण है–
   (अ) ब्रह्म (ब) प्रकृति
   (स) परमाणु (द) यदृच्छा
2. सांख्य के अनुसार महत् है–
   (अ) प्रकृति तथा विकृति (ब) प्रकृति
   (स) न प्रकृति, न विकृति (द) विकृति
3. बुद्धि का धर्म है –
   (अ) अध्यवसाय (ब) संकल्प
   (स) अभिमान (द) आलोचन
4. सांख्यों के अनुसार सृष्टि है –
   (अ) ब्रह्म का वैवर्त (ब) परमाणुओं का संधान
   (स) गुणों का परिणाम (द) इनमें से कोई नहीं।

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

प्र.1 सृष्टि का मूल कारण क्या है?
प्र.2 प्रकृति किसे कहते है?
प्र.3 सृष्टि का विकास क्रम क्या है तथा इसके कुल कितने तत्व है?
प्र.4 अहंकार किसे कहते है? इसके कितने भद है?
प्र.5 मन को इन्द्रिय क्यों कहा गया है?
प्र.6 सांख्यों के अनुसार 'पञ्महाभ्त' का उल्लेख कीजिए?
प्र.7 महत् व अहंकार में भद बताइये?

निबन्धात्मक प्रश्न –

प्र.1 सांख्यों के विकासवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवरण दीजिये।
प्र.2 सांख्यों के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन व विकास क्रम बताये।
प्र.3 प्रत्ययसर्ग का विशद वर्णन करें।
प्र.4 सूक्ष्म शरीर का विशद विवेचन कीजिये।

1. (ब)
2. (अ)
3. (अ)
4. (स)

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. सृष्टि का मूल कारण प्रकृति व पुरुष का संयोग है।
2. गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है।
3. मूल प्रकृति, महत् से लेकर पञ्महाभूत तक 23 तत्व तथा पुरुष कुल मिलाकर 25 तत्व सांख्यों के सृष्टि विकास क्रम में आते है।
4. अहंकार अभिमान को कहते है। इसके तीन भेद है– 1. सात्त्विक 2. तामस 3. राजस।
5. संकल्प–विकल्पात्मक मन बुद्धि व अहंकार के समान अन्तःकरणों में आता है किंतु पांचों कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का अनुमापक हेतु है तथा उनके साथ साधर्म्य है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु की सम्यक् कल्पना मन करता है अतः मन उभयात्मक है।
6. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश पञ्महाभूत है।
7. सृष्टि क्रम में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला पदार्थ 'महत्' है इसे बुद्धि भी कहते है। महत् से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है।

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. इकाई 5.2 देखिये।
2. इकाई 5.3.2, 5.4 देखिये।
3. इकाई 5.6 देखिये।

4. इकाई 5.5 देखिये।

5.10 सारांश

इस इकाई में पुरुष व मूल प्रकृति के साथ महत् से लेकर पञ् महाभूतों का क्रमशः विकास ध्बताया गया है। यह सृष्टि कार्य मूलरूप से दो भागों में विभक्त है। प्रत्यय सर्ग अथवा बुद्धिसर्ग तथा भौतिक सर्ग। इस इकाई में हमें सांख्य दर्शन का प्रकृति विकासवाद का परिचय प्राप्त हुआ । सांख्य के अनुसार सृष्टि के कारण के रूप में सत्व रजस् तमस् गुणत्रय के बारे में जानकारी प्राप्त हुई ।इस इकाई के अध्ययन से न केवल सांख्य दर्शन में महत् से पञ्भूतों तक का विकास क्रम से अगवत हुए हैं अपितु ५० प्रकार के प्रत्ययसर्ग व भौतिक सर्ग का परिचय प्राप्त कर पायें हैं।

5.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका – (सम्पा.) ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,2008.
2. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका – (सम्पा.) रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भंडार, मेरठ, 1965.
3. विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य प्रवचन भाष्य – भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, दिल्ली,2011.
4. वाचस्पतिमिश्रकृत सांख्यतत्त्वकौमुदी जयमंगला टीका साहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2000.
5. भारतीय दर्शन (2) डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एंड संस, दिल्ली,1996.
6. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली,1977.
7. भारतीय दर्शन की रूपरेखा एम. हिरियन्ना,, राजकमल प्रकाशन,1965.
8. भारतीय दर्शन आलोचना व अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1998.

इकाई 6

वेदान्त – सामान्य परिचय एवं प्रमुख ग्रन्थ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 वेदान्त का सामान्य परिचय
    6.2.1 वेदान्त शब्द का अर्थ
    6.2.2 दर्शन के सन्दभ में वेदान्त का तात्पर्य दर्शन
    6.2.3 वेदान्त तथा अद्वैत वेदान्त
6.3 वेदान्त दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ व ग्रन्थकार
    6.3.1 ब्रह्मसूत्र
    6.3.2 ब्रह्मसूत्र के रचनाकार
    6.3.3 ब्रह्मसूत्र का समय
    6.3.4 ब्रह्मसूत्र की विषयवस्तु
    6.3.5 ब्रह्मसूत्र के भाष्य
6.4 बादरायण के पूर्व वेदान्ताचार्य
    6.4.1 आत्रेय
    6.4.2 आश्मरथ्य
    6.4.3 औडुलोमि
    6.4.4 कार्ष्णाजिनि
    6.4.5 काशकृत्स्न
    6.4.6 जैमिनी
    6.4.7 बादरि
6.5 शंकर पूर्व वेदान्ताचार्य शंकर
    6.5.1 भर्तृप्रपंच
    6.5.2 भर्तृमित्र
    6.5.3 भर्तृहरि
    6.5.4 उपवर्ष
    6.5.5 बोधायन
    6.5.6 टङ्.क
    6.5.7 भररूचि या भारूचि
    6.5.8 द्रविडाचार्य
    6.5.9 सुन्दरपाण्ड्य
    6.5.10 ब्रह्मदत्त
    6.5.11 गौड़पाद
    6.5.12 गोविन्दपाद
6.6 आचार्य शंकर
    6.6.1 शंकर का जीवन–परिचय
    6.6.2 शंकर की रचनाएं
    6.6.3 वेदान्त दर्शन में शंकर का स्थान
6.7 शंकरोत्तर वेदान्ताचार्य
    6.7.1 सुरेश्वराचार्य
    6.7.2 पद्मपादाचार्य
    6.7.3 सर्वज्ञात्ममुनि
    6.7.4 वाचस्पति मिश्र

6.7.5 श्री हर्ष
6.7.6 प्रकाशात्मयति
6.7.7 अद्वैतानन्द
6.7.8 चित्सुखाचार्य
6.7.9 अमलानन्द
6.7.10 विद्यारण्य
6.7.11 आनन्दगिरि
6.7.12 प्रकाशानन्द
6.7.13 अखण्डानन्द
6.7.14 मधुसूदन सरस्वती
6.7.15 नृसिंहाश्रम सरस्वती
6.7.16 अप्पय दीक्षित
6.7.17 धर्मराजाध्वरीन्द्र
6.7.18 सदानन्द
6.7.19 गोविन्दानन्द
6.7.20 नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्द
6.7.21 सदानन्दयति
6.8 पारिभाषिक शब्दावली
6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.10 सारांश
6.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 उद्देश्य

आप संस्कृत साहित्य में एम.ए. करने जा रहे हैं। संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यंत विशाल है। उसमें न केवल काव्य–नाटक आदि की रचना हुई, अपितु यहाँ ज्ञान का अनन्त भण्डार भो है। प्राचीन भारत का अधिकांश साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया, जिसमें गणित, ज्योतिष, खगोल, दर्शन, चिकित्सा सभो के ग्रन्थ सम्मिलित हैं। भारतीय दर्शन अपने गहन चिन्तन के लिए विश्व–विख्यात है। हमारे दार्शनिक सिद्धान्त व उन पर किया गया विचार–मंथन भारत के आध्यात्मिक गौरव का एक सुदृढ़ आधार स्तम्भ रहा है। भारतीय दर्शन का एक सामान्य परिचय आप बी.ए. के पाठ्यक्रम में प्राप्त कर चुके हैं। सभो प्रमुख भारतीय दर्शनों के मूल ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए हैं। संस्कृत का विद्यार्थी होने के नाते आपको उन ग्रन्थों से परिचित होना चाहिए। इस इकाई का उद्देश्य एक प्रमुख भारतीय दर्शन अद्वैत वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थों व ग्रन्थकारों से आपका परिचय कराना है। इस इकाई को पढ़कर आप :–

1. वेदान्त शब्द का सामान्य तथा विशिष्ट अर्थ समझ सकेंगे।
2. वेदान्त दर्शन के मूल सूत्र–ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र से परिचित हो सकेंगे।
3. ब्रह्मसूत्र के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
4. अद्वैत मत के प्रमुख लोकप्रिय आचार्य शंकर से परिचित हो सकेंगें।
5. शंकर से पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती वेदान्ताचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का परिचय प्राप्त कर सकेंगें।

6.1 प्रस्तावना

भारत के समस्त आस्तिक दर्शनों में अद्वैत वेदान्त को सर्वप्रमुख माना जाता है। वैसे तो सभो षड्दर्शन किसी ना किसी रूप में उपनिषद् अर्थात वेदान्त पर आधारित हैं, किन्तु बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों तथा श्रीमद् भगवद् गीता, इस प्रस्थानत्रयी पर अनन्य श्रद्धा

रखने वाले वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय विशिष्ट रूप से वेदान्त कहलाते हैं। अद्वैत या शंकर वेदान्त को इन सब में प्रमुखता प्राप्त है। वस्तुस्थिति तो यह है कि दर्शन का मात्र सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति तो शंकर के अद्वैत दर्शन को ही वेदान्त दर्शन समझता है। भारत के जनजीवन तथा विचारकों पर जितनी गहरी छाप इस दर्शन की पड़ी है, उतनी अन्य किसी भो दर्शन की नहीं। कितने ही महान् पाश्चात्य विचारक भो इससे प्रभावित होकर भारतीय मेधा के सामने नमस्तक हुए हैं। अपनी दार्शनिक उच्चता, तार्किक प्रौढ़ता तथा जीवन की अनबूझ पहेली को समझाने की व्यापक दृष्टि ने भो इसकी महत्ता को बढ़ाया है। वैदिक वाङ्मय में जिस दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ हुआ था, वह अपनी समस्त उच्चता, भव्यता और गरिमा के साथ इसमें विद्यमान है। इसलिए यह वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है।

6.2 वेदान्त का सामान्य परिचय

सामान्यतः उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। दर्शन के संदभ में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त का ग्रहण सामान्य जन द्वारा वेदान्त के अर्थ के रूप में किया जाता है।

6.2.1 वेदान्त शब्द का अर्थ :

वेदान्त शब्द का शाब्दिक अर्थ है – वेद का अन्त। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी होने के कारण कुछ विद्वान, उपनिषदों को ''वेदान्त'' कहते हैं, जिनमें वैदिक अध्यात्म ज्ञान अपनी चरम सीमा (अन्त) पर पहुँचा हुआ है, वे ग्रन्थ अर्थात उपनिषद् वेदान्त हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कहा है, ''श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है। उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए 'वेदान्त' (वेद का अन्त – सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय संगत है।'' इस प्रकार आचार्य के अनुसार वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक उपनिषद् ही 'वेदान्त' हैं। आचार्य शंकर भो उपनिषदों को ही 'वेदान्त' मानते हैं, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रतीत होता है।, ''वेदान्तवाक्य कुसुमग्रन्थनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्त वाक्यानि हि सूत्रैरूदाहृत्य विचार्यन्ते। (ब्रह्मसूत्र 1/1/2 पर शंकरभाष्य)

6.2.2 दर्शन के संदर्भ में वेदान्त का तात्पर्य :

'वेदान्त' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तो उपनिषद् है, किन्तु 'वेदान्त' शब्द एक अन्य अर्थ में भो अत्यन्त लोकप्रिय है। वह अर्थ है – एक प्रमुख भारतीय दर्शन। वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् (वेदान्त) ही प्रमाण है – वेदान्त। सदानन्द ने तो वेदान्तसार में कहा ही है 'वेदान्तो नामोपनिशत्प्रमाणम्' अर्थात उपनिषद् को प्रमाण मानने वाले को 'वेदान्त' कहते हैं।

यद्यपि सभो आस्तिक दर्शन उपनिषद् को प्रमाण मानते हैं। किन्तु परम्परा है कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर आधारित दार्शनिक सि़द्धान्त ही 'वेदान्त' नाम से अभिहित किए जाते हैं।

6.2.3 वेदान्त तथा अद्वैत वेदान्त

'वेदान्त' का अर्थ उपनिषद् है तथा वेदान्त का अर्थ उपनिषद् पर आधारित दर्शन है, किन्तु जिस अर्थ में 'वेदान्त' शब्द सर्वाधिक लोकप्रिय है, देश–विदेश में 'वेदान्त' शब्द के उच्चारण के साथ जो अर्थ सामान्य जन द्वारा तत्काल ग्रहण किया जाता है, वह है – अद्वैत वेदान्त या शंकर वेदान्त। आचार्य शंकर ने जिस मत का प्रवर्तन किया, उसे अद्वैत कहते हैं। कारण यह है कि शंकर केवल ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। द्वैत का निषेध करने के कारण उनका सिद्धान्त अद्वैतवाद है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'वेदान्त' का अर्थ 'उपनिषद्' है, किन्तु दर्शन के संदभ में 'वेदान्त' का अर्थ बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्त है। वेदान्त का लोकप्रिय तथा प्रचलित अर्थ अद्वैत वेदान्त या शंकर वेदान्त है।

6.3 वेदान्त दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ व ग्रन्थकार

उपनिषदों से प्रारम्भ हुए इस दशन की एक समृद्ध आचार्य परम्परा रही है। दर्शन के सिद्धान्तों से परिचित होने से पूर्व उसके प्रमुख ग्रन्थों व ग्रन्थकारों का परिचय प्राप्त करना अभोष्ट है।

6.3.1 ब्रह्मसूत्र

वेदान्त दर्शन का परिचायक सर्वप्रथम ग्रन्थ है – ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र। इसका प्रधान वर्ण्य विषय ब्रह्म है –इसलिए यह नामकरण है। वेदान्तसूत्रों का आधार उपनिषद् है। इसमें उपनिषदों में आये कथनों में एकरसता लाने का प्रयत्न किया गया है। यह सूत्र ग्रन्थ वेदान्तदर्शन का स्वरूपनिर्धारक मात्र है, जिसमें कुल पांच सौ पचपन सूत्रों का प्रयोग किया गया है। इन सूत्रों में कम से कम शब्द प्रयुक्त हुए है। फलतः यह स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त विशद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि भाष्यकारों ने स्वेच्छा से इन सूत्रों का अर्थ किया है।

6.3.2 ब्रह्मसूत्र के रचनाकार, नाम व परिचय

वेदान्त सूत्रों का रचियता बादरायण को बताया जाता है। किन्तु ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर बादरायण का अन्य पुरुष के रूप में उल्लेख किया गया है। अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन सूत्रों के रचयिता बादरायण नहीं हैं, अपितु विद्वानों के मतों के साथ बादरायण के मत को किसी अन्य व्यक्ति ने ग्रन्थ में संग्रहीत कर दिया होगा, किन्तु डॉ. राधाकृष्णन पाश्चात्य विद्वानों के इस विचार का विरोध करते हैं, क्योंकि प्राचीन भारतीय विद्वानों में स्वयं का उल्लेख अन्य पुरुष के रूप में करने की प्रथा पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थी। अतः केवल इस आधार पर बादरायण को ब्रह्मसूत्र का रचयिता न मानना तर्कसंगत नहीं है।

कुछ विद्वान ब्रह्मसूत्र का रचनाकार वेद व्यास को बताते हैं, तथा वेद व्यास को बादरायण से भिन्न मानते हैं, किन्तु यह एक भमपूर्ण धारणा है। हिन्दू परम्परा के अनुसार वेद व्यास तथा बादरायण अभिन्न व्यक्ति हैं तथा वे ही ब्रह्मसूत्र के रचनाकार हैं।

6.3.3 बादरायण का समय

बादरायण ने इन सूत्रों की रचना कब की, यह एक विवादास्पद विषय है। वेदान्त सूत्रों में न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग तथा जैन–बौद्धादि दार्शनिक मतों का उल्लेख होने के कारण इसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन कृति समझा जाता है। किन्तु वास्तव में यह एक प्राचीन कृति है। इस ग्रन्थ में जो विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख है, वे अत्यंत प्राचोन विचारधाराएं हैं। आगे चलकर विभिन्न आचार्यों ने अपने प्रयत्नों से उन्हें विकसित कर दिया है। इन उल्लेखों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वेदान्त दर्शन अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से परवर्ती है।

पाणिनी की अष्टाध्यायी में 'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' कथन मिलता है। श्री बलदेव उपाध्याय का मानना है कि पाणिनी द्वारा उल्लेखित ये भिक्षुसूत्र पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रों से भिन्न नहीं है। यदि यह भिक्षुसूत्र ब्रह्मसूत्र के लिए ही प्रयुक्त शब्द है तब तो इन सूत्रों की रचना पाणिनी से पूर्व हो चुकी होगी। पाणिनी का काल मैक्डोनल द्वारा 300 ई. पू. निर्धारित किया गया है। श्रीमद् भगवद् गीता में भो ब्रह्मसूत्र शब्द का उल्लेख आया है – **'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'' (13/4)।** विद्वान इस उल्लेख को ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्र का ही उल्लेख मानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना गीता से पूर्व हो चुकी थी। वर्तमान समय में गीता का समय ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व स्थिर किया गया है। अतः ई.पू. दूसरी शताब्दी से पहले वेदान्त सूत्रों का निर्माण हो चुका था।

6.3.4 ब्रह्मसूत्र की विषय–वस्तु

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है। इस अध्याय में समस्त वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परया अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखाया गया है। इस अध्याय के प्रथमपाद के पहले चार सूत्र विषय की दृ ष्टि से अत्यन्त महत्वशाली हैं। इन्हें 'चतुःसूत्री' कहते हैं। प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्मलिंगयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। द्वितीय पाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिंगयुक्त उपास्य ब्रह्मविषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में ज्ञेय ब्रह्मविषयक वाक्यों का तथा चतुर्थपाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद् गत पदों के अर्थ का विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है, जिसमें स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदऋर्षित किया गया है। इस अध्याय के प्रथमपाद (स्मृति पाद) में सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। द्वितीय पाद (तर्कपाद) में सांख्य, वैशेषिक, जैन सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पांचरात्र मतों का युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्त मत की प्रतिज्ञा की गई है। दोनों पादों में बादरायण ने अपनी तर्क युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है, वह प्रशंसनीय है। तृतीय तथा चतुर्थ पादों में महाभ्त् सृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय विषयक श्रुतियों का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जो वेदान्तसम्मत साधनों का विधान करता है। परलोक गमन, तत्व पदार्थ–परिशोधन, सगुणविद्या–निरूपण तथा निर्गुण ब्रह्म–विद्या के बहिरंगसाधन (आश्रमधर्म, यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरंगसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का निरूपण प्रत्येक पाद में किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है, जिसमें सगुण–निर्गुण विद्याओं के फलों का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

6.3.5 ब्रह्मसूत्र के भाष्य

सभो आस्तिक दर्शन उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं। एक ही आधार भ्मि होते हुए भो दर्शनों में मतवैभिन्य दिखाई देता है। उपनिषद् वाक्यों में आपाततः प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार करके उनमें समन्वय लाने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की गई। किन्तु यह ब्रह्मसूत्र अत्यंत अल्पकलेवर हैं तथा इन्हें समझने के लिये भाष्य की अपेक्षा है। ब्रह्मसूत्र पर अब तक मुख्यतः दस भाश्य लिखे गये। सूत्रों की व्याख्या सभो विद्वानों ने अपने मतानुसार की है। इसी मतवैभिन्य के कारण द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनैक सिद्धान्त वेदान्त दर्शन के अन्तगर्त प्रचलित हो गए। ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गये विविध भाष्यों से उनका अर्थ भले ही स्पष्ट न हुआ हो, किन्तु वेदान्त के नाम पर अनेक सम्प्रदायों की नींव अवश्य पड़ गई। किस विद्वान ने ब्रह्मसूत्रों पर कब कौन सा भाष्य लिखकर किस मतवाद का प्रर्वतन या पोषण किया, इसे निम्नलिखित तालिका से जाना जा सकता है :–

क्र.स.	भाष्य का नाम	समय (ईसवी)	लेखक	मत
1.	शारीरक	788–820	शंकराचार्य	अद्वैत
2.	भास्कर	1000	भास्कराचार्य	भदाभद
3.	श्रीभाष्य	1140	रामानुज	विशिष्टाद्वैत
4.	पूर्णप्रज्ञ	1238	आनन्दतीर्थ (मध्व)	द्वैत
5.	वेदान्त पारिजात द्वैताद्वैत		1250	निम्बार्क
6.	शैवभाष्य	1270	श्रीकण्ठ	शैवविशिष्टाद्वैत

7.	श्रीकरभाष्य	1400	श्रीपति वीर शैवविशिष्टाद्वैत	
8.	अणुभाष्य	1479—1544	वल्लभ	शुद्धाद्वैत
9.	विज्ञानामृतभाष्य अविभागाद्वैत		1600	विज्ञानभिक्षु
10.	गोविन्दभाष्य	1725	बलदेव	अचिन्त्य भदाभद

इन भाष्यों में सिद्धान्तों का ही फक नहीं है, बल्कि सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भो बड़ा भारी अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों व अधिकरणों की संख्या क्रमशः 555 और 199 है, रामानुज के अनुसार 545 और 160 मध्व के अनुसार 564 तथा 223 निम्बार्क मत में 549 और 161, श्रीकण्ठ के मतानुसार 544 व 182 तथा वल्लभ के अनुसार 554 तथा 171 है।

6.4 बादरायण के पूर्व वेदान्ताचार्य

ब्रह्मसूत्र में बादरायण द्वारा किये गये उल्लेख से स्पष्ट है कि उनसे पहले भो अनेक आचार्यों ने वेदान्त तत्व की मीमांसा की थी। ये आचार्य बादरायण के मत के अनुकूल विचारधारा के भो हैं तथा प्रतिकूल विचारधारा के भो। इन आचार्यों की कृतियां अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर बादरायण के पूर्ववर्ती इन वेदान्ताचार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

6.4.1 आत्रेय

ब्रह्मसूत्र में उपासना के सम्बन्ध में एक स्थान पर (ब्र.सू. 3/4/44) में इनका उल्लेख हुआ है। इनका मत है कि अंगाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा त्विज के द्वारा दोनों प्रकार से हो सकती है। यहाँ फल के विषय में सन्देह है। आत्रेय के अनुसार कम का फल यजमान को ही प्राप्त होता है, त्विज को नहीं।

6.4.2 आश्मरथ्य

इनका निर्देश दो बार (ब्र. सू. 1/2/29, 1/4/20) मिलता है। उपनिषदों में कहीं—कहीं सर्वव्यापक ईश्वर को प्रादेश मात्र (एक प्रदेष में टिकने वाला) कहा गया है, जिसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बताते हैं — परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये प्रदेशमात्र में आविभ्त होता है, क्योंकि कोई भो सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उपलब्धि स्थानों (प्रदेशों) में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इस कारण भो वह प्रादेशमात्र कहा गया है। इनके मत में जीवात्मा तथा परमात्मा में भदाभद सम्बन्ध है। ये भदाभदवादी थे। श्रुतिप्रकाशिका के कर्त्ता सुदर्शनाचार्य का कथन है कि इन्हीं के मत को परवर्ती काल में यादव—प्रकाश ने पुष्ट किया है। मीमांसा सूत्र (6/5/16) में भो इनके मत का उल्लेख एक बार हुआ है।

6.4.3 औडुलोमि

ब्रह्मसूत्र में औडुलोमि के मत का तीन बार उल्लेख हुआ है (1/4/21, 3/4/41, 4/4/6)। ये अवस्था भिन्नता के कारण भदाभद स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार संसार दशा में जीवात्मा तथा परमात्मा में भद होता है, किन्तु मोक्ष की स्थिति में दोनों का भद अमान्य है। अभद की स्थिति में आत्मा उसी प्रकार प्रज्ञानघन है, जिस प्रकार नमक का ढेला भोतर—बाहर सब रसघन है। अंगाश्रित उपासना के बारे में इनका मत है कि कर्ता तो त्विज् होता है, किन्तु फल का अधिकार यजमान का ही है।

6.4.4 कार्ष्णाजिनि

ब्रह्मसूत्र में एक बार (3/1/9) तथा मीमांसा में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'रमणीयचरणाः (5/1/06) पद को लेकर इनके विशिष्ट मत का कथन किया गया है। कार्ष्णाजिनि चरण का अर्थ आचरण या चरित्र न करके अनुशय या शुभाशुभ अदृष्ट मानते हैं। इनके अनुसार जीव अपने अनुशयभ्त कर्मों के साथ पृथ्वी पर लौटता है। अवशिष्ट कम ही अन्य योनि का कारण होते हैं। इनका उल्लेख धर्मशास्त्र के इतिहास में भो हुआ है।

6.4.5 काशकृत्स्न

ब्रह्मसूत्र में एक ही स्थान पर इनके मत का दर्शन होता है (1/4/22)। ये परब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं तथा प्रलयावस्था में उसी में जगत् की स्थिति बताते हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का विकार नहीं है, अपितु अविकृत ब्रह्म ही सृष्टिकाल में जीव के रूप में स्थित रहता है। आचार्य शंकर ने इनके इस मत को श्रुत्यनुसार माना है, ''काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते ....।'' (ब्रह्मसूत्र, शंकर भाष्य, 1/4/22)

6.4.6 जैमिनी

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में सबसे अधिक बार आता है, पूरे 11 बार। ये बादरायण के साक्षात शिष्य माने जाते हैं। कममीमांसा दर्शन की रचना इन्होनें ही की है। प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है।

6.4.7 बादरि

इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र.सू. 1/2/30, 3/1/11, 4/3/7, 4/4/10)। मीमांसा सूत्रो में भो इनका निर्देश उपलब्ध है। अनुमान किया जाता है कि इन्होंने दोनों दर्शनों पर अपने ग्रन्थ लिखे थे। इन के मतानुसार वैदिक कम में सबका अधिकार है। जैमिनी ने इसका खण्डन कर शूद्र के कर्मानुष्ठान के अधिकार का निषेध किया है।

ईश्वर को प्रादेशमात्र कहने की व्याख्या भो इन्होंने अलग ढंग से की है। हृदय में रहने के कारण मन प्रादेशमात्र कहा जाता है। ईश्वर का स्मरण ऐसा ही प्रादेषमात्र मन करता है। अतः ईश्वर के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

बादरि के अनुसार 'रमणीयचरणाः' पद में चरण का अर्थ कम ही है। अनुश्ठानवाचक चरण का प्रयोग कम क लिए होता है।

'य एनान् ब्रह्म गमयति' (छान्दोग्य 4/15/5) में ब्रह्म शब्द कार्यब्रह्म का वाचक है। जैमिनी के मत में यह परब्रह्म का वाचक है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापक होने के कारण वह गन्तव्य नहीं हो सकता।

ईश्वरभावापन्न विद्वान के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता के विषय में बादरि का मत है कि, इन्द्रियादि की सत्ता नहीं रहती, तभो तो मन से कामों को देखने का वर्णन उपनिषद् करती है। (8/12/15)

6.5 शंकर पूर्व वेदान्ताचार्य

शंकर से पूर्व आचार्यों का उल्लेख स्वयं शंकराचार्य के ग्रन्थों में किया गया है। इनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इन वेदान्ताचायो का उपलब्ध परिचय इस प्रकार है –

6.5.1 भर्तृप्रपंच

भर्तृप्रपंच प्राचीन वेदान्ती हैं। इन्होंने कठ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य की रचना की थी। सुरेश्वराचार्य तथा आनन्दगिरि के समय में भो इनका ग्रन्थ उपलब्ध था। इनके सिद्धान्त को ज्ञानकमसमुच्चयवाद कहा गया है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्य में कही–कहीं औपनिषन्मन्य कहकर इनका परिहास किया है। भर्तृप्रपंच ने जीव और संसार को ब्रह्म का परिणाम माना है। जीव परमात्मा का अंश है। वह अपनी प्रज्ञा, कम व कमफल के अनुसार देहभोग करता है। जगत् भोग का साधन है। यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर अविद्या की निवृत्ति होती है। आसक्ति और अविद्या, बन्धन की दो श्रृंखलाएं हैं। निष्काम कम से आसक्तिक्षय होने पर विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है और जीव मुक्ति का अधिकारी होता है। ज्ञानकमसमुच्चय से मुक्ति होती है। सभो तत्त्व ब्रह्म में लय प्राप्त करते हैं। भर्तृप्रपंच के ब्रह्मपरिणामवाद को द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है।

6.5.2 भर्तृमित्र

सिद्धित्रय में यमुनाचार्य तथा श्लोकवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने इनका उल्लेख किया है, किन्तु दोनों स्थानों पर उल्लेखित भर्तृमित्र एक ही है यह कहना कठिन है। सम्भवतः इन्होंने मीमांसा व वेदान्त दोनों दर्शनों से सम्बन्धित ग्रन्थ रचे थे।

6.5.3 भर्तृहरि

प्रसिद्ध वैयाकरण तथा तार्किक भर्तृहरि आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों में अन्यतम हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार ये वाक्यपदीयकार ही हैं, किन्तु इनका कोई

वेदान्तग्रन्थ अभो तक उपलब्ध नहीं हुआ। वाक्यपदीय में इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का भो दर्शन होता है। यह ब्रह्म को यथार्थ सत्ता मानते हैं तथा ब्रह्म और शब्द को अभिन्न मानकर जगत् को शब्द ब्रह्म का विवर्त बताते हैं। डा. राममूर्ति शर्मा का कथन है – ''भर्तृहरि के वाक्यपदीय में अपरोक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूपों में माया के बीज उपलब्ध होते हैं।'' परवर्ती आचार्यों मे मंडनमिश्र पर इनका विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

6.5.4 उपवर्ष

इनका नाम आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य 3/3/53 में निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर दोनों मीमांसाओं पर वृत्तिग्रन्थ लिखा था। शबरस्वामी ने भो आदरपूर्वक इनका उल्लेख किया है।

6.5.5 बोधायन

बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर विस्तृत वृत्तिग्रन्थ की रचना की थी। आचार्य रामानुज ने बोधायन के मत का अनुकरण कर श्रीभाष्य का प्रणयन किया था। इससे ज्ञात होता है कि ये विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य थे और इनकी वेदान्त सूत्र वृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था। जर्मन विद्वान जैकोबी का मत है कि इन्होनें मीमांसासूत्र पर भो वृत्ति लिखी थी।

6.5.6 टङ्.क

आचार्य रामानुज द्वारा वेदार्थ संग्रह में इनका उल्लेख किया गया है। ये विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। टङ्.क आचार्य को ब्रह्नन्दी नामक वेदान्ताचार्य से अभिन्न बताया जाता है, किन्तु यह मत अभो अनिर्णीत है।

6.5.7 भररूचि या भारूचि

ये एक विशिष्ट आचार्य थे। वेदार्थ–संग्रह में इनका उल्लेख अतिआदरपूर्वक हुआ है। धर्मशास्त्र के इतिहास में भो इनका नाम निर्देश हुआ है। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि वेदान्ती भररूचि तथा धर्मशास्त्रकार भररूचि भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

6.5.8 द्रविड़ाचार्य

ये एक प्राचीन वेदान्ती थे। इन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर एक अतिविस्तृत भाष्य लिखा है आचार्य शंकर ने माण्डूक्योपनिषद्भाष्य में आदर पूर्वक इनका उल्लेख किया है तथा इनके लिए आगमवित् व सम्प्रदायवित् विशेषणों का प्रयोग किया है। सम्भवतः ये अद्वैत मत के समर्थक थे, क्योंकि आचार्य शंकर द्वारा इनका उल्लेख अपने मत के समर्थन में किया गया है। रामानुजाचार्य के वेदार्थ–संग्रह में भो इनका उल्लेख है। सिद्धित्रय में आये भाष्यकृत शब्द का सम्बन्ध इन्ही द्रविड़ाचार्य से माना जाता है।

6.5.9 सुन्दरपाण्ड्य

इन्होंने एक कारिकावद्ध वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। आचार्य शंकर ने इनके कारिका–ग्रन्थ से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। (ब्र.सू. 1/1/4) ये शैव वेदान्ती थे। तन्त्र वार्तिक में इनके श्लोक उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर मीमांसा पर वार्तिक की रचना की थी।

6.5.10 ब्रह्मदत्त

ये शंकराचार्य के पूर्वकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध वेदान्ती थे। सम्भव है कि ये सूत्र के भाष्यकार रहे हों। ब्रह्मदत्त के मत में जीव अनित्य है, एक मात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव तथा जगत दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतोत होने पर भो जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इनके मत से किसी अवस्था में भो साधक के कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त भो जीव की उत्पत्ति एवं विनाष मानते हैं। आश्मरथ्य तथा इनके मत में इतना अन्तर है कि वे भदाभदवादी हैं तथा ये अद्वैतवादी हैं।

6.5.11 गौडपाद

यद्यपि अद्वैत वेदान्त की गुरुपरम्परा अत्यन्त प्राचीन है किन्तु गौड़पाद आचार्य के समय से वह परम्परा ऐतिहासिक प्रामाणिकता को प्राप्त कर लेती है। गौडपाद को शंकर के गुरु गोविन्द पाद का गुरु माना जाता है। इनका कीर्तिस्तम्भ 'माण्डूक्यकारिका है, जो उपनिषदों के बाद अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है। 'उत्तरगीता' का भाष्य भो

इन्हीं की कृति माना जाता है। सर्वप्रथम अद्वैत मत के सिद्धान्तों का क्रमबद्ध प्रतिपादन इन्हीं के द्वारा हुआ है। विद्वानों का विचार है कि गौडपाद का अद्वैतवाद बौद्धवाद पर आधारित है। डा. दासुगुप्ता का तो विचार है कि आचार्य गौडपाद सम्भवतः बौद्ध ही थे, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। गौड़पाद के मायावाद का मुख्य प्रयोजन बौद्ध दर्शन का समर्थन न होकर उपनिषद् विचारधारा का स्पष्टीकरण है, अतः इनके मायावद को बौद्ध शून्यवाद या विज्ञानवाद पर आधारित न मानकर उपनिषद् दर्शन पर ही प्रतिष्ठित मानना चाहिए।

आचार्य की प्रसिद्ध कृति माण्डूक्यकारिका में चार प्रकरण हैं, जिनमें कुल मिलाकर 215 कारिकाएं हैं। इन प्रकरणों के नाम हैं –

1. आगम–प्रकरण 2. वैतथ्य–प्रकरण 3. अद्वैत–प्रकरण4. अलातशान्ति–प्रकरण

आगम–प्रकरण में मूल माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है। वैतथ्य–प्रकरण में युक्तियों के सहारे प्रपंच का मायामयत्व सिद्ध किया गया है। जाग्रत जगत् भो स्वप्न की तरह एकदम मिथ्या है। आत्मा ही एकमात्र नित्य तत्व है। माया के कारण उसी में तरह–तरह के भावों की कल्पना होकर प्रपंच का उदय होता है। अद्वैत प्रकरण में आचार्य ने अनेक दृढ़ युक्तियों के सहारे अद्वैत–तत्व की सिद्धि की है। आत्मा में सुख–दुःख की भावना करना नितान्त असंगत है। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ नष्ट हो सकता है, न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अमृत आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्व ;विनाशद्ध दोष मानना पड़ेगा। अतः आत्मा की उत्पत्ति–जाति नहीं होती। यही गौडपाद का विख्यात 'अजातिवाद' का सिद्धान्त है। चतुर्थ–प्रकरण अलात–शान्ति में बताया गया है, कि प्रपंच की उत्पत्ति तथा लय प्रतीति तथा अप्रतीति दोनों भान्तिजनित हैं। वस्तुतः एक ही परमात्म–तत्व की पारमार्थिक सत्ता है। मन का निरोध कर लेने पर मायाजन्य जगत् का अभाव हो जाता है।

आचार्य गौडपाद का समय आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ अथवा सातवीं शताब्दी का अन्त निश्चित किया जाता है।

6.5.12 गोविन्दपाद

ये आचार्य गौडपाद के शिष्य तथा शंकर के गुरु थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में आधिक प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वर दर्शन के अन्तर्गत रसहृदय नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। श्री बलदेव उपाध्याय वहाँ उल्लेखित इस ग्रन्थ को गोविन्दपाद की कृति बताते हैं।

6.6 आचार्य शंकर

आचार्य शंकर बौद्धिक जगत् की वह महिमामयी विभ्ति हैं, जिन्हें पाकर भारत भ्मि धन्य हो गई। वे दार्शनिक नभमण्डल का ऐसा तेजोमय सूर्य सिद्ध हुए, जिसके प्रकाश को देश–काल की सीमाएं अवरूद्ध न कर सकीं। तभो तो वह विश्वव्यापी ख्याति अर्जित कर सके। पूर्व के तथा पश्चिम के सभो विद्वान उनके ज्ञान की महानता के सामने नतमस्तक हो गये। आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त को इतना अधिक समृद्ध तथा प्रभावित किया कि आचार्य शंकर का नाम अद्वैत का पर्याय हो गया। आचार्य शंकर का आविर्भाव ऐसे संघर्ष के समय हुआ था, जब नास्तिक बौद्धमत शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नषील थे और आध्यात्मिक चिन्तन का स्थान मीमांसाकों का वैदिक कमकाण्ड लेता जा रहा था। यह सम्पूर्ण हिन्दू धर्म के लिए संकट–काल था। ऐसे समय में आचार्य शंकर ने वैदिक ज्ञान–मार्ग को विकसित करने तथा हिन्दू धर्म की जर्जर नींव को मज़बूत करने का कठिन कार्य सम्पन्न किया।

6.6.1 शंकर का जीवन–परिचय

आचार्य शंकर के जीवन पर इनके शिष्यों ने शंकर दिग्विजय, शंकर–विजय तथा शंकर–विलास आदि प्रसिद्ध तथा उपयोगी काव्य गन्थ लिखे हैं, किन्तु ये काव्य ही हैं, ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं। अतः इनकी कल्पना अधिक विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। शंकर की जन्मतिथि के विषय में अनेक विवाद हैं। विल्सन तथा कोलब्रुक इन्हें 800 ई. से 900 ई. के मध्य स्थित करते हैं। तेलंग तथा तिलक महोदय 688 ई. के समर्थक हैं। प्रो. मैक्डोनल तथा मैक्समूलर एवं कृष्णास्वामी तथा पाठक 788 ई. में इनका जन्म स्वीकार करते हैं। इनके जन्मकाल के विषय में डा. के. वी. पाठक द्वारा निर्धारित 788 ई. से 820 ई का समय

अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत है। आचार्य बलदेव उपाध्याय भो इसी मत को स्वीकार करते हैं। आचार्य उमेश मिश्र ने इस मत के समर्थन में कुछ अन्तः साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं, जिनमें प्रमुख हैं शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य द्वारा तथा स्वयं शंकर द्वारा भो बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का उल्लेख। धर्मकीर्ति का समय 635 ई. से 650 ई. माना जाता है। इसलिए शंकर इसके परवर्ती हैं। शंकर ने जैनाचार्य अकलंकदेव के गुरु समन्तभद्र के मत का भो उल्लेख किया है। अकलंक राष्ट्रकूटराज साहसतुंग के समापण्डित थे। साहसतुंग का समय 753 ई. है। अतः शंकर का समय इनके बाद स्वीकार करना उचित है। इन बातों को ध्यान में रखकर शंकर को आठवीं सदी के अन्तिम भाग में रखा जाता है। जो अधिकांशतः 788 ई. से 820 ई. मान्य हैं।

शंकर के पिता का नाम शिवगुरु था। इनका वेद यजुर्वेद और शाखा तैत्तरीय थी। शंकर के जीवन के साथ अनेक चमत्कारी घटनाएं लोगों ने जोड़ दी हैं। अपने अद्भत प्रभाव के कारण ये शिव के अवतार माने जाने लगे। केवल 8 वर्ष की अवस्था में ही यह वीतराग होकर गोविन्द के शिष्य हो गये थे। उसके बाद ये वाराणसी आए और वहां से बदरिकाश्रम चले गए। कहा जाता है कि इन्होंने 12 वर्ष की आयु में ही बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर शाारीरिक भाष्य लिखा था। बदरिकाश्रम से ये पुनः वाराणसी लौटे और निश्चय किया कि ये सारे भारत में यात्रा करके अन्य मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपने मत का प्रचार करेंगें। सर्वप्रथम वे उस समय के दिग्गज विद्वान कुमारिल भट्ट के पास गये, किन्तु कुमारिल उस समय मरणासन्न थे, इसलिए उन्होनें शंकर को अपने शिष्य मण्डनमिश्र के पास भजा। शंकर से शास्त्रार्थ में परास्त होकर वे शंकर के शिष्य हो गये। उन्होनें शंकर से अद्वैत मत की दीक्षा ली तथा सन्यास ग्रहण कर शंकर के प्रथम शिष्य सुरेश्वराचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। इसके बाद शंकर ने देश के सभो महत्वपूर्ण स्थानों पर जाकर शास्त्रार्थ में अनेक विद्वानों को पराजित किया और अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठापना की।

6.6.2 शंकर की रचनाएं

प्रस्थान त्रयी के प्रथम उपलब्ध भाष्यकार आचार्य शंकर ही माने जाते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्री, आदि।

इनकी रचनाओं में भाष्य रचनाएं प्रमुख हैं किन्तु उनके ये विद्वत्तापूर्ण भाष्य किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ से अधिक महत्व के हैं। डा. थीवो शंकर के भाष्यों को उपनिषदों की भावना के अधिक समीप मानते हैं। बलदेव उपाध्याय के अनुसार, ''इनकी रचना शैली इतनी रोचक है, गम्भोर विषयों को सरल शब्दों में व्यक्त करने की इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्न गम्भोर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भो अनुपम हैं।''

इन्होंने विभिन्न हिन्दू देवी–देवताओं पर स्तोत्र ग्रन्थ भो रचे। इन ग्रन्थों में आचार्य के दार्शनिक पक्ष के स्थान पर काव्यमय पक्ष ही अधिक सबल रहा है।

आचार्य शंकर का सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। दो सत्ताओं की पृथक स्थिति को अस्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। आचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का मूल है, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये उन्होनें 'मायावाद' की स्थापना की। विद्वानों का मानना है कि शंकर का मायावाद गौडपाद के मायावाद से प्रभावित हैं। माया शंकर की वह अद्भत उद्भावना है, जिसके द्वारा वे ब्रह्म व जगत् के सम्बन्ध की पहेली को सुलझा सके हैं। शंकर जगत् को उसी प्रकार ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, जैसे रज्जु का विवर्त सर्प है।

शंकर आत्मा को स्वतः सिद्ध मानते हैं। उनका दृष्टिकोण पलायनवादी अथवा निराशावादी नहीं है। मोक्ष एक व्यावहारिक सत्य है। इसलिए उन्होंने ज्ञान, कम, उपासना आदि सभो की उपादयता स्वीकार की है। यही कारण है कि आचार्य शंकर के सिद्धान्त केवल ज्ञानियों तथा योगियों को ही नहीं अपितु साधारण मानव को भो प्रभावित करते हैं।

6.6.3 वेदान्त दर्शन में शंकर का स्थान

आचार्य शंकर का वेदान्त दर्शन में स्थान निर्धारण करने की आवश्यकता नहीं हैं। आचार्य की महनीय कीर्ति तथा उनकी उच्च प्रतिष्ठा से दर्शन के विद्यार्थी ही नहीं, सामान्य जन भो परिचित हैं।

आचार्य के समय बौद्धों का नास्तिक मत व्यापकता प्राप्त कर रहा था। वैदिक सम्प्रदाय का नाश करने में तत्पर थे। यह देखकर बौद्ध आदि नास्तिक मतो के खण्डन के उद्देश्य से तथा वैदिक सम्प्रदाय को पुनरूज्जीवित करने के लिये शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। वैदिक धर्म के समुद्धारक के रूप में शंकर का अत्यंत सम्मानित स्थान है।

दर्शन के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वेदान्त दर्शन का उल्लेख करने पर साधारण व्यक्ति भो शंकर के अद्वैत मत का ही अर्थ ग्रहण करता है। उनका अद्वैत मत तो देश–विदेश सर्वत्र भारतीय दर्शन का पर्याय बन गया है।

शंकराचार्य ने धर्म तथा दर्शन और साहित्य के लिए भो 32 वर्ष की अल्पायु में ही इतना कुछ किया तथा उन्हें जनता ने कितने सम्मानित स्थान का अधिकारी समझा। इसका प्रमाण यह है कि उन्हें भगवान शिव का अवतार मान लिया गया।

6.7 शंकरोत्तर वेदान्ताचार्य

आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त की जिस धारा को गति दी, उसे और अधिक प्रगति की ओर उनके योग्य शिष्य–प्रशिष्य ले गये। आचार्य शंकर से आगे चलने वाली वेदान्ताचार्यों की पंक्ति अत्यन्त दीघ है। उनमें से कुछ ने वेदान्त साहित्य को अत्यन्त समृद्ध किया है।

6.7.1 सुरेश्वराचार्य

ये शंकर के प्रथम शिष्य माने जाते हैं। गृहस्थाश्रम में इनका नाम मण्डनमिश्र था। ये शंकर के उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिकों की रचना करने के कारण वार्तिककार नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका बृहदारण्यकभाष्य–वार्तिक विशालकाय प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, नैश्कर्म्य सिद्धि, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक तथा पंचीकरणवार्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

6.7.2 पद्मपादाचार्य

शंकराचार्य के दूसरे शिष्य हैं, जिन्होंने शारीरकभाष्य की प्रथम वृत्ति 'पंचपादिका' नाम से लिखी, जिसमें चतुःसूत्र का ही विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त 'प्रपंचसार–टीका' और विज्ञानदीपिका' पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं।

6.7.3 सर्वज्ञात्ममुनि

सुरेष्वराचार्य के शिष्य थे। इन्होनें ब्रह्मसूत्र के ऊपर 'संक्षेपशारीरक' नामक एक विख्यात पद्यबद्ध ग्रन्थ लिखा है। जिस पर नृसिंहाश्रम की 'तत्त्वबोधिनी' तथा मधुसूदन सरस्वती का 'सारसंग्रह' प्रसिद्ध है।

6.7.4 वाचस्पति मिश्र

आचार्य शंकर के समान ही वाचस्पति मिश्र भो सर्वतोमुखी प्रतिभावाले आचार्य थे। उनके द्वारा शारीरकभाष्य पर लिखी गई 'भामती' एक भव्य टीका है। 'भामती' की अपनी विशेषता है, जिसके कारण उसकी पद्धति के अर्न्तगत आने वाले ग्रन्थ 'भामतीप्रस्थान' नाम से प्रसिद्ध है। उपाध्याय जी का मानना है कि वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सिद्धान्तों पर मण्डनमिश्र के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पडा था। 'भामती' में वाचस्पति मिश्र के 'ब्रह्मतत्वसमीक्षा' नामक वेदान्त ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अब लुप्त हो चुका है।

6.7.5 श्री हर्ष

12 वीं सदी के महान काव्यकार श्री हर्ष असाधारण वेदान्ती भो थे। इनका खण्डनखण्डखाद्य आज भो पाण्डित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वतापूर्ण खण्डन मिलना दुष्कर है। शंकर मिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना इसके गौरव का परिचायक है।

6.7.6 प्रकाशात्मयति

'पंचपादिका' के ऊपर प्रकाशात्मयति ने 'विवरण' नामक टीका लिखी। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर 'विवरण–प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकाएं हैं – 1. अखण्डानन्दमुनिकृत 'तत्त्वदीपन' और 2. विद्यारण्यकृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह'

6.7.7 अद्वैतानन्द

रामानन्दतीर्थ के शिष्य अद्वैतानन्द थे। इन्होनें शारीरकभाष्य पर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक एक उत्तम व्याख्या लिखी है।

6.7.8 चित्सुखाचार्य

चित्सुखाचार्य (13 वीं शताब्दी) अपनी ही कृति 'तत्त्वदीपिका' (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) से विख्यात हो गये हैं। इनकी अन्य रचनाएं 1. शारीरकभाष्य पर भावप्रकाशिका 2. ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका 3. नैष्कमसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका–कम महत्वशालिनी नहीं है।

6.7.9 अमलानन्द

अनुभवानन्द के शिष्य अमलानन्द थे। इनका दूसरा नाम व्यासाश्रम था। इन्होनें भामती के ऊपर 'कल्पतरू' नामक व्याख्या लिखी है। अमलानन्द ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक वृत्ति भो लिखी है।

6.7.10 विद्यारण्य

माधवाचार्य सन्यास लेकर श्रृंगेरी मठ के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित हुए तथा विद्यारण्य नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका स्थितिकाल 1296 ई. से 1386 ई. तक निश्चित किया जाता है। इनके लिखे विवरणप्रमेय संग्रह, अनुभ्तिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यकवार्तिकसार आदि ग्रन्थ वेदान्त के सिद्धान्तों की जानकारी देने के लिये विशेष उपादेय हैं। विद्यारण्य की रचना 'पंचदशी' की लोकप्रियता सर्वविदित है। यह वेदान्ततत्त्व जिज्ञासुओं के गले का हार है।

6.7.11 आनन्दगिरि

पन्द्रहवीं शताब्दी में आनन्दगिरि ने शंकराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने के लिये उन पर टीकाएं लिखीं। शारीरकभाष्य पर इनका 'न्याय–निर्णय' भाष्यार्थ को भलीभांति समझाने में सहायक है।

6.7.12 प्रकाशानन्द

आनन्दगिरि के समकालीन थे। इन्होनें वदान्तसिद्धान्त–मुक्तावली नामक 'एक जीववाद' के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की है।

6.7.13 अखण्डानन्द

आनन्दगिरि के शिष्य थे। इन्होनें पंचपादिकाविवरण पर 'तत्त्वदीपन' नामक एक सुन्दर व्याख्यान लिखा है।

6.7.14 मधूसूदन सरस्वती

16 वीं शताब्दी के वेदान्तियों में मधुसूदन सरस्वती बहुत प्रसिद्ध वेदान्ती हुए। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतरत्नरक्षण, वेदान्त कल्पलतिका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। परन्तु 'अद्वैतसिद्धि' इनका अमर ग्रन्थ है। इसके समान दूसरा ग्रन्थ प्रायः दर्शन में नहीं है। जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वत तत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है।

अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'अद्वैतचन्द्रिका' टीका की रचना की। ये बंगाल में रहने वाले थे। इनकी टीका गौड ब्रह्मानन्दी के नाम से विख्यात है।

6.7.15 नृसिंहाश्रम सरस्वती

ये मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ सन्यासियों में विशेष विख्यात हैं। वेदान्त तत्त्वविवेक अद्वैत दीपिका, भदधिक्कार, विवरणटीका आदि श्रेष्ठ ग्रन्थ इनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिये पर्याप्त हैं।

6.7.16 अप्पयदीक्षित

16 वीं शताब्दी में हुए अप्पय दीक्षित वेदान्त के एक आलौकिक विद्वान ही नहीं थे अपितु एक उच्च कोटि के साधक भो थे। श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' इनकी एक उच्चकोटि की कृति है। शंकरमत में कल्पतरू परिमल ;अमलानन्द–कृत कल्पतरू की टीकाद्ध तथा सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' अद्वैत वेदान्त के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभ्तसंग्रह है, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भो उपादेय है।

6.7.17 धर्मराजाध्वरीन्द्र

16 वीं शताब्दी के एक अन्य आचार्य हैं। इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचायक ग्रन्थ है–'वेदान्तपरिभाषा'। इसका अध्ययन वेदान्त के प्रमाण सम्बन्धी ज्ञान के लिये आवश्यक तथा उपयोगी है। इनके पुत्र रामकृष्ण ने वेदान्त परिभाषा को 'वेदान्तशिखामणि' टीका से विभूषित किया।

6.7.18 सदानन्द

सदानन्द योगीन्द्र भो 16 वी. शताब्दी के वेदान्ताचार्य हैं। इनकी ख्याति प्राप्त कृति वेदान्तसार है। इसे सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्राइमर भो कह सकते हैं और यह इसी कारण लोकप्रिय भो है। यह सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का परिचायक ग्रन्थ है।

वेदान्तसार पर नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी, आपदेव ने बाल बोधिनी तथा स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजिनी टीकाएं रची। (वेदान्तसार का वर्ण्य विषय आप विभिन्न इकाइयों में विस्तार से पढ़ रहे हैं।)

6.7.19 गोविन्दानन्द

17 वीं शताब्दी के दार्शनिक गोविन्दानन्द की 'रत्नप्रभा' शारीरकभाष्य की सरल टीका है, जो काशी में लिखी गई।

6.7.20 नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्द

इन्होंने मधुसूदन के सिद्धान्तबिन्दु पर क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा न्यायरत्नावली' नामक उपयोगी टीकांए लिखी हैं।

6.7.21 सदानन्द यति

ये ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनका 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' विषय की व्यापकता तथा सुबोध शैली के कारण वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त अद्वैतानन्द (12 वीं शताब्दी) का ब्रह्मविद्याभरण, आनन्दबोध का न्यायमकरन्द, विमुक्तात्मा की इष्टिसिद्धि आदि भो अद्वैत वेदान्त के माननीय ग्रन्थ हैं।

6.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. प्रस्थानत्रयी – प्रस्थानत्रयी बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता – दर्शन के इन तीनों महत्वपूर्ण आधार ग्रन्थों को एक साथ प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।
2. पारमार्थिक सत्ता – वह सत्ता जो देश–कालातीत हो तथा कूटस्थ नित्य हो अर्थात जिसमें किसी प्रकार का कोई वास्तविक परिवर्तन सम्भव न हो तथा किसी भी स्थान तथा काल में जिसका निषेध न किया जा सके। अद्वैत वेदान्त में ऐसा सत्ता केवल ब्रह्म की है।
3. द्वैत – जो दो चरम सत्ताओं में विश्वास करता है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, वह पुरुष तथा प्रकृति, दो नित्य सत्ताओं को स्वीकार करता है।
4. अद्वैत – वह मत जो कैवल एक ही सत्ता को स्वीकार करे। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या कहकर ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है। शेष जगदादि सत्ताओं को उन्होंने केवल व्यावहारिक सत्ता मानकर उनकी नित्यता का निषेध कर दिया। ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय सत्ता का निषेध करने के कारण इस मत का नाम अद्वैत है।
5. यजमान – यज्ञ का कर्त्ता जिसके द्वारा यज्ञ किया या करवाया जा रहा है।
6. त्विज – पुरोहित, यज्ञ को सम्पन्न करने वाला।
7. भेदाभेद – एक दार्शनिक मत जो प्रलय तथा मोक्ष की स्थिति में जीव तथा ब्रह्म में अभेद मानता है, तथा बन्धन तथा सृष्टि की दशामें दोनों में भेद स्वीकार करता है।
8. माया – अद्वैत वेदान्त का एक अतिविशिष्ट तत्त्व जिसे सद् तथा असद् दोनों रूपों से अनिर्वचनीय कहा गया है। अनिर्वचनीय किन्तु भावरूपा माया के द्वारा ही ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है।

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

अ. लगभग 20 शब्दों में उत्तर दीजिए :—

1. भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि किसे माना जाता है ?
2. वेदान्त का शाब्दिक अर्थ बताइए।
3. वेदान्त शब्द का अन्य लोकप्रिय अर्थ क्या है ?
4. शंकर के मत को अद्वैत वेदान्त क्यों कहते हैं ?
5. वेदान्त दर्शन का प्रथम ग्रन्थ क्या है ?
6. ब्रह्मसूत्र के रचनाकार कौन हैं ?
7. वेदान्त सूत्रों का समय क्या है ?
8. बादरायण के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों के नाम बताइये।
9. शंकर के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों के नामोल्लेख कीजिए।
10. गौडपाद कौन थे उनकी प्रमुख रचना का क्या नाम है?
11. शंकर का स्थितिकाल क्या माना जाता है ?
12. शंकर की प्रमुख रचनाओं के नाम बताइये।
13. शंकर के पश्चातवर्ती प्रमुख वेदान्ताचार्यों के नाम बताइये।
14. पंचदशी के रचनाकार कौन हैं ?
15. वेदान्तसार की प्रमुख टीकाओं के नाम बताइये।

ब. लगभग 150 शब्दों में उत्तर दीजिए :—

1. वेदान्त शब्द का अर्थ समझाइये।
2. आचार्य गौडपाद तथा माण्डूक्यकारिका का परिचय दीजिए।
3. वेदान्त दर्शन में आचार्य शंकर का स्थान निर्धारण कीजिए।
4. सदानन्द तथा वेदान्तसार का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

स. लगभग 500 शब्दों में उत्तर दीजिए :—

1. ब्रह्मसूत्र तथा उसके भाष्यों का विस्तार से परिचय दीजिए।
2. बादरायण के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।
3. शंकर के जीवन तथा रचनाओं पर एक लेख लिखते हुए वेदान्त दर्शन में उनका स्थान निर्धारण कीजिए।
4. शंकर के पूववर्ती वेदान्ताचार्यों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।
5. शंकर के परवर्ती वेदान्ताचार्यां का विवरण दीजिए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

अ.

1. देखिए – प्रस्तावना
2. देखिए – 6.2.1
3. देखिए – 6.2.2 , 6.2.3
4. देखिए – 6.2.3
5. देखिए – 6.3.1
6. देखिए – 6.3.2
7. देखिए – 6.3.3
8. प्रमुख आचार्यों के नाम हैं :— आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काषकृत्स्न, जैमिनी, बादरि, आदि।
9. भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, उपवर्श, बोधायन, टङ्क, भररूचि, द्रविडाचार्य, सुन्दपाण्ड्य, ब्रह्मदत्त, गौडपाद, गोविन्दपाद, आदि।
10. देखिए – 6.5.11
11. देखिए – 6.6.1
12. देखिए – 6.6.2
13. सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष, प्रकाशात्मयति, अद्वैतानन्द, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य, आनन्दगिरि, प्रकाशानन्द,

अखण्डानन्द, मधुसूदन सरस्वती, नृसिंहाश्रम सरस्वती, अप्पय दीक्षित, धर्मराजाध्वरीन्द्र, सदानन्द, गोविन्दानन्द, नारायणतीर्थ, तथा ब्रह्मानन्द, सदानन्द यति, आदि।

14. देखिए – 6.7.10
15. देखिए – 6.7.18

ब.

1. देखिए – 6.2.1, 6.2.2 तथा 6.2.3
2. देखिए – 6.5.11
3. देखिए – 6.6.3
4. देखिए – 6.7.18

स.

1. देखिए – 6.3.1, 6.3.2, 6.3.3, 6.3.4 तथा 6.3.5
2. देखिए – 6.4 तथा उसके उपभाग 1 से 7
3. देखिए – 6.6 तथा उसके उपभाग 1, 2, 3
4. देखिए – 6.5 तथा उसके उपभाग 1 से 12
5. देखिए – 6.7 तथा उसके उपभाग 1 से 21

6.10 सारांश

इस इकाई में वेदान्त का सामान्य परिचय देते हुए वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का परिचय प्रस्तुत किया है जिससे बादरायण, शंकर के परिचय के साथ उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों की भो जानकारी प्राप्त हुई है। सदानन्द योगीन्द्र रचित वेदान्तसार के विषयों के अध्ययन से पूर्व वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय लाभदायक होगा।

6.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन,आचार्य उमेशमिश्र,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,1958.
2. भारतीय दर्शन,डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1985.
3. भारतीय दर्शन,आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1942.
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा,एम. हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973.
5. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968.
6. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.

इकाई–7

अनुबन्ध चतुष्टय (वेदान्तसार)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 अनुबन्ध चतुष्टय
  7.2.1 अनुबन्ध का अर्थ
  7.2.2 अनुबन्धों के नाम
7.3 अधिकारी
  7.3.1 अधिकारी के लक्षण
  7.3.2 वेद तथा वेदांगों के विधिपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता
  7.3.3 अधिकारी द्वारा अकरणीय तथा करणीय कम
  7.3.4 अधिकारी हेतु साधन – चतुष्टय
7.4 विषय
  7.4.1 ब्रह्म
  7.4.2 जीव ब्रह्मैक्य
7.5 सम्बन्ध
7.6 प्रयोजन
  7.6.1 अज्ञाननिवृत्ति
  7.6.2 आनन्दावाप्ति
7.7 व्याख्या
  7.7.1
  7.7.2
7.8 पारिभाषिक शब्दावली
7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.10 सारांश
7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.0 उद्देश्य

संस्कृत के ऐच्छिक पाठ्यक्रम 3 के खण्ड 02 से सम्बन्धित इस इकाई में वेदान्त दर्शन के अनुबन्ध चतुष्टय का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

1. अनुबन्ध क्या है यह जान सकेंगे।
2. अनुबन्ध चतुष्टय से परिचित हो सकेंगे।
3. वेदान्त–विद्या के अधिकारी के लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
4. वेदान्त विद्या के अध्ययन का विषय तथा प्रयोजन जान सकेंगे।
5. पाठ्यक्रम में निधारित ग्रन्थ वेदान्तसार के मुख्य अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

अभो तक संस्कृत के ऐच्छिक पाठ्यक्रम में आप भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अब आपको भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों को कुछ विस्तार से जानना होगा। इसी क्रम में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों को जानने के लिये आप अद्वैत वेदान्त का लोकप्रिय ग्रन्थ वेदान्तसार पढ़ रहे हैं। इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। इस इकाई में आपको अनुबन्ध चतुष्टय की जानकारी दी

जाएगी। इकाई को पढ़कर आप समझ सकेंगे कि वेदान्त विद्या का अध्ययन हर कोई नहीं कर सकता।

वेदान्त विद्या का अध्ययन कौन कर सकता है, यह इस इकाई में विस्तार से समझाया गया है।

वेदान्त दर्शन क्यों पढ़ना चाहिए ? वेदान्त का विषय आखिर क्या है ? आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित वेदान्तसार का विषय से क्या सम्बन्ध है ? इन सब प्रश्नों के उत्तर इस इकाई में मिल जाएंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप वेदान्तसार के मुख्य अवतरणों की व्याख्या करने में भो समर्थ हो सकेंगे।

7.2 अनुबन्ध चतुष्टय

अनुबन्ध एक पारिभाषिक शब्द है। अनु उपसर्ग पूर्वक बन्ध् धातु से बना यह शब्द सामान्यतः विषय के सामान्य परिचय, प्रयोजनादि का बोध कराता है। मनुस्मृति में लगभग इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है –

अनुबन्धं च परिज्ञाय देषकालौ च तावतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येशु पातयेत्।। (मनु – 8/126)

व्याकरण प्रत्ययादि में इत्संज्ञक वर्ण जोड़े जाते हैं, जिन्हें अनुबन्ध कहा जाता है, वहाँ अनुबन्ध शब्द का अर्थ प्रयोजन है क्योंकि किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए इन अनुबन्धों की आयोजना है। दर्शन में भो इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है।

7.2.1 अनुबन्ध का अर्थ

प्रत्येक शास्त्र तथा ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धों का प्रदर्शन होता है, अनु स्वज्ञानाद् अनन्तरं बध्नन्ति–शास्त्रे ग्रन्थे वा आसज्जयन्ति प्रवर्तयन्ति ये ते अनुबन्धाः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका ज्ञान होने पर किसी शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में ज्ञाता की प्रवृत्ति होती है, उन्हें अनुबन्ध कहा जाता है।

किसी भो ग्रन्थ का अध्ययन आरम्भ करते समय – 1. इसे पढ़ने का अधिकारी कौन है ? 2. इसमें किस विषय का प्रतिपादन किया गया है ? 3. इसे पढ़ने का क्या प्रयोजन है ? 4. विषय तथा इस पुस्तक का क्या सम्बन्ध है ? इन चारों के प्रश्नों के उत्तर प्रत्येक जिज्ञासु अध्येता चाहता है। इन चारों प्रश्नों में से प्रत्येक के उत्तर को अलग–अलग अनुबन्ध तथा सम्मिलित रूप से अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है। जब तक कोई यह नहीं जानेगा, कि यह ग्रन्थ किस विषय का है, मैं इसे समझ सकता हूँ कि नहीं, इसके पढ़ने से मुझे लाभ होगा अथवा नहीं, तब तक वह पढ़ने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही प्रयोजन सहित ग्रन्थ व विषय का सम्बन्ध बता देना चाहिये। प्रयोजनादि ज्ञात होने पर ही पाठक ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होता है।

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः। (वाचस्पत्यम्)

7.2.2 अनुबन्धों के नाम

अनुबन्ध चार हैं, यह ज्ञात हो जाने पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उन चार अनुबन्धों के नाम क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तसार में दिया गया है –

'तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।' अर्थात 1. अधिकारी, 2. विषय, 3. सम्बन्ध तथा 4. प्रयोजन ये चार अनुबन्ध हैं।

1. विषय के अधिकारी में क्या विशेषता होनी चाहिए ? 2. विषय क्या है ? 3. विषय तथा अध्ययन किए जाने वाले ग्रन्थ का सम्बन्ध क्या है ? तथा 4. ग्रन्थ का अध्ययन करने पर किस प्रयोजन की सिद्धि होगी। चारों अनुबन्ध इन चारों प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करते हैं।

7.3 अधिकारी

किसी भो विशिष्ट कार्य को करने के लिए विशिष्ट योग्यताधारी व्यक्ति की आवश्यकता होती है। चिकित्सक, शिक्षक या अभियन्ता का कार्य प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी विशिष्ट स्थान या संस्थान में प्रवेश करने के लिए भो व्यक्ति को विशेष प्रपत्र दिखाना पड़ता है। तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी नहीं हो सकता। उसके लिए कुछ निर्धारित योग्यताएं प्राप्त करनी आवश्यक होती हैं। वेदान्त विद्या भो कोई सामान्य विद्या नहीं है, इसलिए स्वाभाविक है कि इस विद्या में प्रवेश के लिए भो व्यक्ति में कुछ विशेष गुण आवश्यक हैं, तथा कुछ निषेध भो इस पर लागू होंगे। तो यह अधिकारी कौन होगा, इसके क्या लक्षण या योग्यताएँ होगीं, यह देखते हैं।

7.3.1 अधिकारी के लक्षण

वेदान्त विद्या का अधिकारी कौन हो सकता है ? इस विषय में वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द का कथन है कि इस जन्म में या पूर्व जन्म में विधिवत् वेद–वेदांगों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान प्राप्त करके, काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने वाला तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से पाप मुक्त तथा शुद्ध अन्तःकरण वाला साधन चतुष्टय सम्पन्न प्रमाता ही वेदान्तविद्या का अधिकारी हो सकता है।

यहाँ अधिकारी की जो योग्यता बताई गईं हैं, उनमें से प्रत्येक अलग से स्पष्ट किए जाने की अपेक्षा रखती है।

7.3.2 वेद तथा वेदांगो के विधिपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता

विधिवदधीतवेदाड्.गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थो से तात्पर्य है कि नित्यादि कर्मों को विधिपूर्वक करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए वेद तथा वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन करना आवष्यक है। चारों वेदों तथा छः वेदांगों के स्वाध्याय द्वारा धीरे–धीरे उनका अर्थ स्पष्ट होता जाता है और यह अर्थ–ज्ञान अधिकारी की प्रथम योग्यता है।

अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा का तात्पर्य है कि श्रुति के स्वाध्याय का अधिकार जिन शूद्रादि को नहीं है, उनका भो ब्रह्म विद्या सम्बन्धी ज्ञान देखा जाता है। महात्मा विदुर इसके उपयुक्त उदाहरण हैं। दासी के गभ से उत्पन्न शूद्रवर्णी विदुर वेदों के स्वाध्याय के अधिकारी नहीं थे, फिर भो वे तत्त्वज्ञानी के रूप में विख्यात हैं। इसका समाधान यही है कि उन्होंने पूर्व जन्म में वेद–वेदांगों का स्वाध्याय किया होगा, जिसके संस्कारवश इस जन्म में वे तत्त्व ज्ञान के अधिकारी बन सके। इसलिए स्पष्ट है कि वेद–वेदांगों का स्वध्याय द्वारा अर्थज्ञान इसी जन्म में किया गया हो यह आवश्यक नहीं है। पूर्व जन्म के संस्कार के रूप में भो यदि वेदार्थ का ज्ञान है, तो व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो सकता है।

7.3.3 अधिकारी द्वारा अकरणीय तथा करणीय कम

काम्यनिषिद्धवर्जनपुरः सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितोपासनानुष्ठानेन – इस वाक्य में सदानन्द ने अधिकारी के द्वारा किये जाने योग्य तथा न किये जाने योग्य कर्मों का उल्लेख किया हैं। अधिकारी को काम्य तथा निषिद्ध कम नहीं करने चाहिए। वेदान्तसार के अनुसार काम्य कम हैं – स्वर्गादि इष्ट पदार्थों के साधनभ्त् ज्योतिष्टोमयज्ञादि (काम्यानि – स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि) काम्य का अर्थ है – किसी कामना से किया जाने वाला कम। ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि वैदिक कम किसी कामना की पूर्ति हेतु विहित हैं। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इस श्रुति के अनुसार स्वर्ग की प्राप्ति हेतु ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए। अब यज्ञ आदि उत्तम कम भो फल तो प्रदान करेंगे ही, भले ही वह फल उत्तम ही क्यों न हो और कमफल भोगने के लिए जन्म भो अवश्य लेना पड़ेगा। इस प्रकार आवागमन का चक्र चलता

रहेगा। अतः मोक्ष विद्या के अधिकारी के लिए आवश्यक है कि वह काम्य कर्मों का त्याग करे।

अधिकारी को निषिद्ध कर्मों का भो त्याग करना चाहिए। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मण हननादीनि–वेदान्तसार के इस वाक्य के अनुसार श्रुति–स्मृति आदि शास्त्रों द्वारा जिन कर्मों को करने का निषेध किया गया है, तथा जिनको करने से नरक आदि फलों की प्राप्ति होती है, वे सब निषिद्ध कम हैं। यथा ब्राह्मण हत्या का श्रुति में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' कहकर निषेध किया गया है, मनुस्मृति ने भो ब्राह्मणहनन को महापातक माना है। गोहत्या, सुरापान आदि भो इसी प्रकार के निषिद्धकम हैं। वेदान्त विद्या का अधिकारी बनने के लिए समस्त निषिद्ध कर्मों का त्याग आवश्यक है।

त्याज्य कर्मों के बाद करणीय कर्मों का उल्लेख है। करणीय कर्मों में प्रथम है – नित्य कम। सदानन्द के अनुसार नित्य कम वे हैं जिन्हें करने से तो कोई विशेष पुण्यफल प्राप्त नहीं होता, किन्तु न करने पर वे पाप का कारण अवश्य बनते हैं। नित्यानि–अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नित्यकर्मों का उदाहरण सन्ध्यावन्दनादि हैं। नित्य कर्मों को करते–करते जाने–अनजाने अनेक छोटे–मोटे पाप उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिदिन किए जाने वाले सन्ध्यावन्दन से इन पापों का क्षय हो जाता है। जैसे भोजन के क्रम में शरीर में मल एकत्र हो जाता है। शौच के द्वारा शरीर को उस मल से मुक्त कराना आवश्यक है। शौच शरीर को कोई नई उर्जा नहीं देता, किन्तु शरीर के स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है उसी प्रकार नित्य कम कोई नया पुण्य उत्पन्न नहीं करते किन्तु पापक्षय द्वारा मन की शुद्धि के लिए अनिवार्य हैं। पंच महायज्ञ को भो नित्य कम के अन्तर्गत माना गया है – ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भ्तयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ।

नैमित्तिक कम भो करणीय कम माने गये हैं। नैमित्तिकानि–पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि अर्थात् पुत्रोत्पत्ति आदि अवसरों पर किए जाने वाले जातेष्टियज्ञ आदि कम नैमित्तिक कम कहे जाते हैं। नैमित्तिक अर्थात् किसी निमित्त से किए जाने वाले। किसी कारण के होने पर शास्त्रों में जिन कर्मों को करने का आदेश दिया गया है वे नैमित्तिक कम हैं। यथा पुत्र की उत्पत्ति होने पर शास्त्रों द्वारा बताई विधि के अनुसार पिता उसका जातकम संस्कार करता है। इस अवसर पर जातेष्टियज्ञ किया जाता है। पुत्र जन्म के निमित्त को पाकर जातेष्टि करना नैमित्तिक कम है और ये नैमित्तिक कम अधिकारी को अवश्य करने चाहिए।

प्रायश्चित कम का तात्पर्य है, पाप को नष्ट करने के साधनभ्त कम – प्रायश्चितानि – पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। कभो नित्य नैमित्तिकादि कर्मों को न करने तथा निषिद्ध कर्मों को करने के कारण पाप उत्पन्न होता है। उस पाप का निवारण करने हेतु प्रायश्चित कर्मों का विधान है। अधिकारी को चाहिए कि उससे जाने–अनजाने जो पाप कम हो गए हैं। वह प्रायश्चित कर्मों द्वारा उन सब का क्षय सुनिश्चित करे। प्रायश्चित का विख्यात उदाहरण चान्द्रायण व्रत है, मनुस्मृति के अनुसार –

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंत्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।

अर्थात पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाएं। कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक–एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को पूर्ण निराहार रहें। पुनः शुक्ल पक्ष में एक–एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पुनः पन्द्रह ग्रास भोजन करें। व्रत के समय प्रातः मध्यान्ह तथा सायं तीन बार स्नान करना चाहिए।

उपासनानि – सगुणब्रह्मविषय मानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्य विद्यादीनि अर्थात सगुण ब्रह्म विषयक मानसिक–व्यापार रूपी शाण्डिल्यविद्या आदि उपासना कम हैं। उपासना चित्त को एकाग्र करने का साधन है। मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिए अधिकारी के चित्त की शुद्धि आवश्यक है। उपासना द्वारा यह कार्य सम्भव है। निर्गुण–निराकार ब्रह्म का ध्यान करना प्रारम्भिक

साधक के लिए कठिन होता है। सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा वह इस दिशामें सरलता से अग्रसर हो सकता है। यह धीरे–धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की पद्धति है।

निर्गतनिखिल कल्मशतया नितान्त निर्मलस्वान्तः का तात्पर्य है कि अधिकारी को हर प्रकार के पाप से रहित व निर्मल अन्तःकरण वाला होना चाहिए। इसीलिए क्रमशः नवीन पाप की उत्पत्ति न हो तथा किए गए पापों का क्षय हो सके। इसके लिए काम्य तथा निषिद्ध कर्मों के निषेध के साथ नित्य नैमित्तिक तथा उपासना कार्यों के अनुष्ठान की आवश्यकता बताई गई है। वेदान्त सार में सदानन्द ने कहा है, 'एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धि परं प्रयोजनम्...।' उपासनाकम की आवश्यकता चित्त की एकाग्रता के लिए है। इन समस्त कर्मों के अनुष्ठान से बुद्धि धीर–धीरे निर्मल हो जाती है, तथा निर्मल बुद्धि ही ब्रह्म का अनुभव करने की योग्यता रखती है।

7.3.4 अधिकारी हेतु साधन – चतुष्टय

अधिकारी की अगली योग्यता साधन चतुष्टयसम्पन्न होना है। साधनचतुष्टय की गणना इस प्रकार की गई है – 'साधनानि–नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफल भोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षत्वानि।'

प्रथम साधन है नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक अर्थात यह ज्ञान होना कि ब्रह्म ही नित्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपंच अनित्य है। काल तथा समय की सीमा में बंधने वाले समस्त पदार्थ अनित्य हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त सभो पदार्थ काल तथा समय द्वारा आबद्ध हैं। अतः केवल ब्रह्म ही नित्य हैं। अधिकारी में यह समझ होनी चाहिए कि क्या नित्य है तथा क्या अनित्य।

दूसरा साधन है इस लोक तथा परलोक के फलों के उपभोग से विरक्ति। इस लोक के माला चन्दन स्त्री आदि विषयभोग कमजन्य होने के कारण अनित्य हैं, उनसे विरक्ति होना तो स्वाभाविक ही है। साथ ही परलोक के अमृतादि विषयों के भोग भो कमजन्य ही (पुण्य भो कम है) है, अतः वे भो अनित्य हैं। नित्य–अनित्य वस्तु का विवेक होने के कारण अधिकारी को स्वतः ही इस लोक तथा परलोक के फलभोग से वैराग्य हो जाता है।

शमादिशट्कसम्पत्ति के अर्न्तगत शम, दम, उपरति, तितिक्षा समाधान तथा श्रद्धा माने गए हैं – 'शमादयस्तु–शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः।'

आत्मतत्त्व के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य सांसारिक विषयों की ओर बार–बार प्रवृत्त होते हुए मन को अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा रोकना ही शम है।

चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों को श्रवण, मनन आदि के अतिरिक्त विषयों से हटा लेना दम है।

भोतिक विषयों से रोकी गई इन्द्रियों का निरोध ही उपरति है। शास्त्रों द्वारा विहित कर्मों का शास्त्रोक्त रोति से त्याग उपरति है। उपरति मन का वह कार्य है जो दमित इन्द्रियों को उनके विषयों में पुनः जाने से रोकता है।

तितिक्षा सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहन करना ही तितिक्षा है। सर्दी–गर्मी, मान–अपमान, हानि–लाभ, जय–पराजय आदि शरीर के धर्म हैं, ये सब आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं, यह जानकर राग–द्वेष रहित होकर समान रूप से सबकुछ सहन कर लेने का नाम तितिक्षा है।

निगृहीत अर्थात बाह्य विषयों से हटाए गए मन को आत्म–तत्त्व के श्रवण मनन व निदिध्यासन में लगाने को समाधान कहते हैं। 'निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।' तदनुगुण से तात्पर्य है वेदान्तविद्या का ज्ञान कराने वाले गुरु की भक्ति व उनके प्रति विनयपूर्ण आचरण आदि।

'गुरुपदिष्ट वेदान्तवाक्येशु विश्वासः – श्रद्धा अर्थात गुरु जो वेदान्त वाक्यों का उपदेश करता है, यथा 'तत्त्वमसि' आदि उन पर विश्वास करना ही श्रद्धा है।

अन्तिम साधन है – मुमुक्षत्व, 'मुमुक्षत्वं–मोक्षेच्छा।' मोक्ष की इच्छा का होना ही मुमुक्षत्व है। मोक्ष की इच्छा होने पर ही व्यक्ति की वेदान्त विद्या में प्रवृत्ति होगी। अतः अधिकारी को मुमुक्षु होना ही पडेगा।

अधिकारी का अन्तिम विशेषण है – प्रमाता। प्रमाता का तात्पर्य है प्रमाणों द्वारा जो लौकिक तथा वैदिक दोनों ही प्रकार के व्यवहार में भमरहित होकर समर्थ होता है, वही व्यक्ति साधन चतुष्टय से युक्त होकर वेदान्त का प्रमाता अधिकारी कहला सकता है।

7.4 विषय

किसी भो दिशा में अग्रसर होने से पहले व्यक्ति मार्ग तथा उसके अवरोधादि के विषय में पता करना चाहता है। कोई भो विद्या सीखने से पहले व्यक्ति पता करता है कि उस विद्या का क्षेत्र क्या है ? विद्या सीख कर वह किस विषय का ज्ञाता बन सकेगा। वेदान्तविद्या की बात चलने पर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इस विद्या का विषय क्या है। इस प्रश्न का उत्तर है कि वेदान्त विद्या का विषय ब्रह्म है।

7.4.1 ब्रह्म

ब्रह्म ही एकमात्र नित्य पदार्थ है। वही सत् है, चित् है, आनन्द है। उस ब्रह्म को जानना ही वेदान्त विद्या का विषय है। बादरायण ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र में ही अथातो ब्रह्म जिज्ञासा कहकर वेदान्तविद्या के विषय के रूप में ब्रह्म का निर्देश करते हैं।

7.4.2 जीवब्रह्मैक्य

आचार्य शंकर वेदान्तविद्या के विषय के रूप में जीव ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। शंकर के अनुयायी सदानन्द का भो यही मानना है– 'विषयः – जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं. ....।' जीव तथा ब्रह्म दो पृथक सत्ताएँ नहीं हैं। जीव तथा ब्रह्म दोनों एक ही हैं। दोनों में आत्यन्तिक अभद है। 'तत्त्वमसि' अहं ब्रह्मास्मि' आदि वेदान्त वाक्य इसी ऐक्य का निर्देश करते हैं। जीव तथा ब्रह्म का भिन्नत्व मिथ्या है। वेदान्त विद्या का विषय इस मिथ्या भिन्नत्व को हटा कर पारमार्थिक ऐक्य का अनुभव कराना है।

7.5 सम्बन्ध

जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य वेदान्त विद्या का विषय है। तत्त्वमसि आदि वेदान्त वाक्य उस विषय के बोधक हैं। विषय बोध्य है। स्पष्टतः बोध्य विषय तथा उसके प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों में बोध्यबोधक सम्बन्ध है। इसे प्रतिपाद्य–प्रतिपादक सम्बन्ध भो कहा जा सकता है।

7.6 प्रयोजन

अकारण ही किसी भो कार्य में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मूर्ख व्यक्ति भो कार्य का प्रयोजन जाने बिना सरल कार्य में भो प्रवृत्त नहीं होता, फिर विद्वान का तो कहना ही क्या ? ब्रह्म विद्या का अभ्यास तो अत्यन्त परिश्रम साध्य है, तो इस विद्या के प्रयोजन को जाने बिना प्रवृत्ति होना कठिन है। आइये ब्रह्मविद्या के प्रयोजन को जानें। वेदान्तसार के अनुसार–'प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च' अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति और आनन्दावाप्ति प्रयोजन है।

7.6.1 अज्ञाननिवृत्ति

जीव ब्रह्म ही है। अज्ञानवश वह अपने स्वरूप को भ्ला रहता है तथा माया द्वारा आरोपित जगत प्रपंच को सत्य मान बैठता है। इस अज्ञान के कारण ही वह मिथ्या शोक का भागी बनता है। वेदान्तविद्या के अभ्यास से स्वरूप ज्ञान होने पर इस अज्ञानजन्य मिथ्या प्रपंच तथा षोकादि का भो नाश हो जाता है। वेदान्तसार में श्रुतिवाक्य का उल्लेख किया गया है – तरति शोकमात्मवित् अर्थात अज्ञाननिवृत्ति हो जाने पर, आत्मज्ञान हो जाने पर शोक नष्ट हो जाता है।

7.6.2 आनान्दावाप्ति

वेदान्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु स्वरूपानन्द की उपलब्धि भो इस ब्रह्मविद्या का प्रमुख प्रयोजन है। सौभाग्य से सद्गुरू की प्राप्ति होने पर गुरु कृपापूर्वक तत्त्वमसि आदि उपदेश देते हैं। जिससे अज्ञान की निवृत्ति होकर अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार का स्वरूपज्ञान अनुभव होता है। ब्रह्म स्वरूपतः सच्चिदानन्द है। स्वरूप विषयक अज्ञान का निवारण होते ही स्वरूपगत अखण्डानन्द की अवाप्ति हो जाती है। इस अद्भत असीम आनन्द की अनुभ्ति वेदान्त विद्या का प्रमुख प्रयोजन है।

7.7 व्याख्या

वेदान्तसार पुस्तक से इस इकाई से सम्बन्धित कुछ प्रमुख व्याख्याएं निम्नलिखित हैं :–

7.7.1 अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोंऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जन पुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्ततिर्मलस्वान्तः साधन चतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

संदर्भ

उपर्युक्त पंक्तियां सदानन्द प्रणीत वेदान्तसार नामक ग्रन्थ से उद्धृत हैं। वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शंकर वेदान्त के प्रमुख सि़द्धान्तों का सरलतापूर्वक तथा संक्षेप में परिचय दिया गया है।

प्रसंग

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वेदान्तविद्या के अनुबन्ध चतुष्टय का विचार किया गया है। प्रथम अनुबन्ध अधिकरी है अर्थात वेदान्तविद्या के अधिकारी में क्या–क्या योग्यताएँ होनी अभोष्ट हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में वेदान्तविद्या के अधिकारी की योग्यताओं का ही कथन किया गया है।

व्याख्या

वेदान्त विद्या का अधिकारी वह व्यक्ति हो सकता है, जिसने विधिपूर्वक वेद तथा वेदांगों का अध्ययन किया हो। यहाँ केवल अध्ययन करना ही पर्याप्त नहीं है, समस्त वेदार्थ का ज्ञान होना भो आवश्यक है। वेदार्थ का ज्ञान इसी जन्म में प्राप्त किया जाये यह जरूरी नहीं है। पूर्व जन्मों में भो वेदों के स्वाध्याय का संस्कार यदि इस जन्म में बना हुआ है, तो वर्तमान में वेदादि के स्वाध्याय के बिना भो व्यक्ति शुद्ध चित्त वाला, वेदान्तविद्या का अधिकारी हो सकता है। अधिकारी को काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देना चाहिए तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मो को आवश्यक रूप से करना चाहिए। इस प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान द्वारा व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध हो जाती है। काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने से नये पापों का उदय रूक जाता है तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से पूर्व पापों का क्षय होता है। इस प्रकार समस्त कालुष्य से मुक्त पूर्णतः निर्मल अन्तःकरण वाला व्यक्ति वेदान्तविद्या का अधिकारी हो सकता है। अधिकारी को साधन चतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिए। ये साधन – नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्राफलभोग–विराग, शमादि षट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व हैं। उपर्युक्त समस्त योग्यताओं से सम्पन्न प्रमाता वेदान्त विद्या का अधिकारी माना गया है।

टिप्पणी

वेद – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद चार वेद है।

वेदांग – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त छन्द, ज्योतिष छः वेदांग हैं।

अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरेवा – 7.3.2 में देखिए

काम्य कम 7.3.3 में देखिए

निषिद्ध कम 7.3.3 मे देखिए

नित्य कम 7.3.3 में देखिए

नैमित्तिक कम 7.3.3 में देखिए

उपासना7.3.3 में देखिए

साधन चतुष्टय 7.3.4 में देखिए

प्रमाता 7.3.4 में देखिए

7.7.2 प्रयोजनं तु – तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृतिः, स्वरूपानन्दावप्तिश्च' तरति शोकम् आत्मवित्'इत्यादि श्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतेश्च।

सन्दभ – 7.7.1 के समान है।

प्रसंग

अनुबन्ध चतुष्टय के सन्दभ में चर्चा करते हुए सदानन्द ब्रह्मविद्या के अधिकारी, विषय व सम्बन्ध इन तीनों अनुबन्धों के विषय में बता चुके हैं। इन पंक्तियों में वे अन्तिम व चतुर्थ अनुबन्ध प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

व्याख्या

वेदान्तविद्या का प्रयोजन तो इस विद्या के विषय जीव–ब्रह्मैक्य सम्बन्धी अज्ञान का निवारण करना तथा स्वरूपानन्द की प्राप्ति करना है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र नित्य पदार्थ ब्रह्म ही है। जीव तथा ब्रह्म दो अलग–अलग पदार्थ नहीं हैं। अज्ञान अथवा माया के कारण जीव ब्रह्म से अलग प्रतिभासित होता है। इस अज्ञान को दूर करना ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। गुरु कृपापूर्वक तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्यों का उपदेश करता है, जिससे जीव स्वरूप का अनुभव करता है, यथा–अहं ब्रह्मास्मि। ब्रह्म स्वरूपतः आनन्दमय है। स्वरूप का बोध होते ही असीम आनन्द की अनुभ्ति स्वाभाविक है। यह आनन्द कहीं बाहर से नहीं आता, वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। अज्ञानवश इस स्वरूप को भ्ला हुआ जीव अज्ञान की निवृत्ति होते ही स्वरूप में स्थित हो जाता है। स्वरूप में स्थिति ही आनन्द की प्राप्ति है। अज्ञान की निवृत्ति कि तुम ब्रह्म से अलग नहीं हो, तुम ही ब्रह्म हो तथा स्वरूपानन्द की प्राप्ति अर्थात 'मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' वेदान्तविद्या के प्रयोजन हैं।

स्वरूपानन्द की प्राप्ति को एक लौकिक उदाहरण से समझा जा सकता है। यथा कोई स्त्री अपना बहुमूल्य आभ्षण रखकर भ्ल जाती है। यहाँ–वहाँ खोजकर आभ्षण को खोया जानकर वह बहुत दुःखी हो जाती है। तभो उसका कोई हितैषी उसकी मदद को आगे आता है, और खोजने के बाद निर्देश करता है कि यह तुम्हारा आभ्षण सामने ही तो है, यह खोया कहाँ था। पहले से ही प्राप्त उस आभ्षण के ज्ञात होते ही वह स्त्री अत्यंत हर्षित हो उठती है। वस्तुतः आभ्षण खोया ही नहीं था। स्त्री का दुःख मिथ्या तथा अज्ञान पर आधारित था। इसी प्रकार जीव तो आनन्दमय है, उसका समस्त दुःख अज्ञान के कारण है। अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही मिथ्या दुःख का भो निवारण हो जाता है। आनन्द कहीं बाहर से नहीं आता, आनन्द तो जीव का स्वरूप है। जैसे खिडकी खोलते ही धूप व उजाला दिखाई देते हैं, वे उत्पन्न नहीं होते, वे तो पहले से ही थे। उसी प्रकार अज्ञान का कपाट हटते ही आनन्द अनुभव होता है, वह उत्पन्न नहीं होता वह तो पहले से ही था।

'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात आत्मज्ञानी शोक के पार पहुँच जाता है तथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो होता है, इत्यादि श्रुतियां इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।

टिप्पणी – तदैक्य – 7.4.2 में देखिए।
प्रमेय – प्रमा का आधार, प्रमाणों से जाना जाने योग्य विषय प्रमेय है। किन्तु प्रमाण केवल भोतिक विषयों को जानने के साधन हैं। ब्रह्म अभोतिक है, अतः वह प्रमाणों का विषय या प्रमेय नहीं हो सकता। वस्तुतः ब्रह्म केवल अनुभ्तिगम्य है। समाधि की अवस्था में जीव अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है या स्वरूप का अनुभव करता है।
प्रयोजन – अनुबन्ध चतुष्टय में चतुर्थ अनुबन्ध

अज्ञान – सद्सद् से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी, भावरूप तत्त्व अगली इकाई में आप इसे विस्तार से पढ़ सकेंगे।
ब्रह्म – अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य एकमात्र नित्य पदार्थ है जो सच्चिदानन्द स्वरूप है।

7.8 पारिभाषिक शब्दावली

वेदान्त – 'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदों का अन्तिम भाग वेदान्त है। सामान्यतः वेदान्त से वेद शब्द से वाच्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् अर्थ ग्रहण किया जाता है। ग्रन्थों में इसकी रचना सबसे अन्त में हुई।
इस काल तक वेदों का अध्ययन–अध्यापन मौखिक रूप से ही किया जाता था। वैदिक शिक्षा के क्रम में गुरुजन उपनिषद् या वेदान्त को सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये कठिन प्रतीत होते थे।
वेदों का ज्ञान उपनिषदों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। वैदिक ज्ञान का चरम होने से भी उपनिषद् वेदान्त वेद + अन्त है।
वेदान्त का अर्थ महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र पर आधारित दार्शनिक विचारधारा भी किया जाता है। ब्रह्मसूत्र के अनेक व्याख्याकारों में आचार्य शंकर अत्यन्त लोकप्रिय हुए और वस्तुस्थिति यह है कि जन सामान्य वेदान्त का अर्थ शंकर का अद्वैत वेदान्त ही समझता है।
उपनिषद् – उप और नि उपसर्ग पूर्वक शद् धातु से क्विप प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द निष्पन्न हुआ है। इसमें 'शद्लृ विशरण – गत्यवसादनेशु' इस वचन के अनुसार शद् धातु का अर्थ है – विशरण अर्थात विशीर्ण करना, नष्ट करना, गति अर्थात प्राप्ति कराना और अवसादन अर्थात शिथिल करना। जो विद्या मोक्षेच्छुओं की संसारबीज रूपी अविद्या नष्ट करे ;विशरणद्ध ब्रह्म की प्राप्ति कराए ;गतिद्ध तथा गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख शिथिल करें ;अवसादनद्ध। आचार्य शंकर के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या तथा अप्रधान अर्थ ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थ विशेष है।
उपनिषद् का अर्थ समीप बैठना भी है। उपनिषद् का भाव है – वह विद्या जो गुरु के समीप बैठकर ग्रहण की जातो थी।
शारीरक सूत्र – विद्वन्मनोरंजिनी टीका में कहा गया है – 'शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूच्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरक–सूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि।' शारीरक सूत्रों को ब्रह्मसूत्र भी कहा जाता है, इनके रचियता महर्षि बादरायण हैं।
प्रकरण – शास्त्रैकदेषसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।। इस कथन के अनुसार जो ग्रन्थ किसी शास्त्र के एक भाग से सम्बद्ध होता है तथा शास्त्र का ही कार्य अंशतः करता है, उसे प्रकरण कहते हैं। 'वेदान्तसार' वेदान्तशास्त्र के एक भाग जीब्रह्मैक्य से सम्बद्ध है और वेदान्त के ही कार्य जीव की मुक्ति के उपाय का प्रतिपादन करता है। अतः यह ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र का प्रकरण है।
अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन – चारों को इकाई में विस्तार से बता दिया गया है। आवश्यक होने पर संक्षिप्त कर लें।
विधिवद् – वेद–वेदांगो का विधिवत् अध्ययन करन का तात्पर्य है – ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा उपनयन संस्कार के बाद वेदवेदांगविद्, चारित्र्य–सम्पन्न गुरु के निकट रहकर, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए वेद–वेदांग का अध्ययन।
ज्योतिष्टोम – वेदों में सोमयाग का विधान है, जिस यज्ञ के साधक द्रव्यों में सोम नाम की लता और उसके प्राप्त न होने पर उसकी प्रतिनिधी पूतीक नाम की लता का रस प्रधान होता है, उस यज्ञ को सोमयाग कहा जाता है। त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश और एकविंश ये ज्योतिष नामक चार स्तोम जिस सोमयाग में प्रयुक्त होते हैं, उसे ज्योतिष्टोम याग कहते हैं। 'ज्योतींशिस्तोमा यत्र' यह व्युत्पत्ति है। स्तोम का अर्थ है – सामवेद के मन्त्रों से की जाने वाली स्तुति।
प्रायश्चित – मनुस्मृति में कहा गया है –
अकुर्वन् विहतं कम निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चान्द्रियार्थेशु प्रायश्चित्तीयते नरः। (मनुस्मृति, 11, 44)

उपासना – उप–समीपे, आस्यते–स्थीयते अनेनिति उपासनम् – इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना उस कम को कहा जाता है जिसके अनुसार उपासक उपास्य के समीप अवस्थित होता है। उपासक के उपास्य के समीप अवस्थित होने का तात्पर्य है – उपास्य के स्वरूप में उपासक के चित्त को स्थैर्य–लाभ होना। इस प्रकार उपासना का अर्थ है – मन का वह व्यापार जिससे मन उपास्य सगुण ब्रह्म में स्थिर होता है।

शांडिल्य विद्या – शांडिल्य विद्या का अर्थ है – शांडिल्य ऋषि द्वारा उपदिष्ट विद्या। जिस क्रिया से उपासक उपास्य में अपने चित्त को स्थिर कर पाता है, उसे विद्या कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में महर्षि शांडिल्य ने कहा है कि यह जगत ब्रह्मरूप है तथा उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश किसी भी काल में यह ब्रह्म से पृथक नहीं होता, अतः शान्तभाव से जगत् के किसी जड़ या चेतन से राग–द्वेष न रखते हुए ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

सगुण ब्रह्म – ब्रह्म जो कि उत्पत्ति, पालन एवं विनाशादि से युक्त है, सगुण कहलाता है। उपासना पद्धति में परम सत्ता की जिस रूप में साधना की जाती है, वह सगुण रूप में ही होती है।

अवान्तरफल – नित्यादि कर्मों का प्रमुख प्रयोजन बुद्धिशुद्धि तथा उपासना का चित्त की एकाग्रता माना गया है। इन कर्मों का अवान्तर फल पितृलोक, सत्यलोक आदि की प्राप्ति कहा गया है। जिस प्रकार वृक्षारोपण का प्रधान फल फलों की प्राप्ति है, छाया, गन्धादि की प्राप्ति अवान्तर फल है। इसी प्रकार नित्यादि कर्मों का मुख्य फल बुद्धि–शुद्धि तथा चित्त की एकाग्रता है तथा अवान्तर या गौण फल पितृलोकादि की प्राप्ति है। व्यक्ति प्रयास तो मुख्य फल हेतु ही करता है। अवान्तर फल तो अनायास ही प्राप्त होता ह।

बाह्येन्द्रिय – दस होती हैं – पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय,

कमेन्द्रिय – पाणि, वाद, पायु, उपस्थ एवं जिह्वा।

ज्ञानेन्द्रिय – चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण एवं रसना।

7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

अ. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर अधिकतम 20 शब्दों में दीजिए :–

1. अनुबन्ध शब्द का व्युत्पत्तिलम्य अर्थ बताइये।
2. चारों अनुबन्धों के नाम बताइए।
3. चारों वेदों के नाम बताइए।
4. छः वेदांग कौन से हैं ?
5. अधिकारी की प्रमुख विशेषता का उल्लेख कीजिए।
6. अधिकारी को कौन–कौन से कम नहीं करने चाहिए ?
7. अधिकारी को कौन–कौन से कम करने चाहिए ?
8. निषिद्ध कम से क्या तात्पर्य है ?
9. काम्य कम किसे कह सकते हैं ?
10. नित्य कम किसे कह सकते हैं ?
11. नैमित्तिक कम का तात्पर्य बताइये।
12. प्रायश्चित कम का क्या अभिप्राय है ?
13. उपासना किसे कहते हैं ?
14. नित्य नैमित्तिक व प्रायश्चित कर्मों का मुख्य प्रयोजन क्या है ?
15. उपासना कम का मुख्य प्रयोजन क्या है ?
16. साधन चतुष्टय क्या है ?
17. नित्यानित्य वस्तु विवेक में नित्य तथा अनित्य वस्तु क्या है ?
18. इहामुत्रफल भोग विराग में इह तथा अमुत्र का अर्थ बताइये।
19. शमादिषट्क सम्पत्ति कौन–कौन सी है ?
20. तितिक्षा किसे कहते हैं ?
21. श्रद्धा क्या है ?
22. समाधान किसे कहते हैं ?
23. प्रमाता का क्या अर्थ है ?

24. आचार्य शंकर ने वेदान्त का विषय क्या स्वीकार किया है ?
25. वेदान्तशास्त्र तथा उसके विषय में क्या सम्बन्ध है ?
26. वेदान्तविद्या का प्रयोजन बताइये।

ब. लगभग 150 शब्दों में उत्तर दीजिए :–

1. अनुबन्ध चतुष्टय के बारे में आप क्या जानते हैं ?
2. विधिवदधीत वेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थों–ऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा – पंक्ति को समझाइये।
3. अधिकारी द्वारा करणीय तथा अकरणीय कर्मों को संक्षेप में बताइये।
4. साधन चतुष्टय का वर्णन कीजिए।
5. वेदान्त विद्या के प्रयोजन के विषय में बताइये।
6. वेदान्त का क्या तात्पर्य है ?
7. प्रकरण किसे कहते हैं ? प्रकरण का एक उदाहरण दीजिए।

स. विस्तार से उत्तर दीजिए :– (लगभग 500 शब्दों में)

1. अधिकारी की विशेषताएं बताइए।
2. अनुबन्ध चतुष्टय का वर्णन कीजिए।
3. व्याख्या कीजिए :–

1. अधिकारी तु .... साधन चतुष्टय सम्पन्नः प्रमाता।
2. प्रयोजनं तु .... इत्यादि श्रुतेश्च।

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

अ.

1. देखिए 7.2.1
2. देखिए 7.2.2
3. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अर्थवेद।
4. देखिए 7.2.1 की टिप्पणी।
5. देखिए 7.3.1
6. देखिए 7.3.3 का पूर्वार्ध।
7. नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना
8. नरकादि के साधनभूत ब्राह्मण हननादि
9. किसी कामना से किया जाने वाला कम यथा स्वर्गादि की कामना से किया जाने वाला ज्योतिष्टोम यागादि।
10. न करने पर प्रत्यवाय (विघ्न) के साधन सन्ध्यावन्दनादि।
11. पुत्र जन्मादि निमित्त से किये जाने वाले जातेष्ट्यादि।
12. पाप को क्षय करने के साधनभूत चान्द्रायण व्रत आदि।
13. सगुण ब्रह्मविषयक मानसिक व्यापार रूपी शाण्डिल्य विद्या आदि।
14. बुद्धि–शुद्धि इन सबका मुख्य प्रयोजन है।
15. चित्त की एकाग्रता उपासना का मुख्य प्रयोजन है।
16. देखिए – 7.3.4
17. ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य हैं तथा ब्रह्म एकमात्र नित्य पदार्थ है।
18. इह – इस लोक के माला, चन्दन, स्त्री, आदि, अमुत्र – परलोक के अमृतादि।
19. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।
20. सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करना।
21. गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्यों मे विश्वास ही श्रद्धा है।
22. निग्रह किए गए मन को श्रवण, मनन, निदिध्यासन व उसके अनुकूल विषयों में लगाना समाधान है।
23. देखिए – 7.3.4 में अन्तिम पंक्तियां।
24. जीवब्रह्मैक्य शंकर के अनुसार वेदान्त शास्त्र का विषय है।
25. दोनों में प्रतिपादक–प्रतिपाद्य सम्बन्ध है। इसे बोध्यबोधक सम्बन्ध भी कह सकते हैं।

26. अज्ञाननिवृत्ति तथा स्वरूपानन्द की प्राप्ति वेदान्तविद्या का प्रयोजन है।

ब.

1. देखिए – 7.2 तथा 7.2.1 व 7.2.2
2. देखिए – 7.3.2
3. देखिए – 7.3.3
4. देखिए – 7.3.4
5. देखिए – 7.6, 7.6.1 व 7.6.2
6. देखिए – शब्दावली 7.9.1
7. देखिए – 7.9.4

स.

1. देखिए – 7.3.1 से 7.3.4 तक
2. देखिए – 7.2 से 7.6 (7.6.2) तक
3. 1. देखिए – 7.7.1
   2. देखिए – 7.7.2

7.10 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से वेदान्तसार नामक प्रकरण ग्रन्थ के अनुसार अधिकारी विषय सम्बन्ध प्रयोजन रूप अनुबन्ध चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त किया ।वेदान्त–विद्या के अधिकारी के लक्षणों का विशद ज्ञान प्राप्त किया ।वेदान्त विद्या के अध्ययन का विषय तथा प्रयोजन को जाना। इस इकाई के अध्ययन के क्रम में वेदान्तसार के मुख्य अंशों की व्याख्या भी कर पाये ।

7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन,आचार्य उमेशमिश्र,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,1958.
2. भारतीय दर्शन,डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1985.
3. भारतीय दर्शन,आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1942.
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा,एम. हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973.
5. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968.
6. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.

इकाई–8

अज्ञान, अध्यारोप, अपवाद (वेदान्तसार)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 अध्यारोप
8.2.1 अध्यारोप का अर्थ
8.2.2 वस्तु
8.2.3 अवस्तु
8.3 अपवाद
8.3.1 अपवाद का अर्थ
8.3.2 वेदान्त का कारण – कार्य सिद्धान्त–विवर्तवाद
8.3.2.1 पारमार्थिक सत्ता
8.3.2.2 प्रातिभासिक सत्ता
8.3.2.3 व्यावहारिक सत्ता
8.4 अज्ञान
8.4.1 अज्ञान का स्वरूप
8.4.1.1 सदसद्भ्यामनिर्वचनीय
8.4.1.2 त्रिगुणात्मक
8.4.1.3 ज्ञानविरोधी
8.4.1.4 भावरूपम्
8.4.1.5 यत्किंचित्
8.4.2 अज्ञान के रूप
8.4.2.1 समष्टि अज्ञान
8.4.2.1.1. समष्टि अज्ञान की विशुद्ध सत्त्वप्रधानता
8.4.2.1.2. ईश्वर
8.4.2.1.3. कारण शरीर, आनन्दमय कोष, सुषुप्ति तथा स्थूल–सूक्ष्म–प्रपंचलयस्थान
8.4.2.2 व्यष्टि अज्ञान
8.4.2.2.1. मलिन सत्त्वप्रधानता
8.4.2.2.2. प्राज्ञ
8.4.2.2.3. कारणशरीर, आनन्दमयकोष, सुषुप्ति, स्थूल–सूक्ष्म प्रपंचलयस्थान
8.5 अज्ञान की शक्तियां शक्ति
8.5.1 आवरण शक्ति
8.5.2 विक्षेप शक्ति
8.6 अज्ञान द्वारा ब्रह्म की निमित्त तथा उपादानकारणता
8.7 व्याख्या
8.8 पारिभाषिक शब्दावली
8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
8.10 सारांश
8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.0 उद्देश्य

इससे पूर्व की इकाइयों में आप अद्वैत वेदान्त के सामान्य परिचय के साथ उसके प्रमुख ग्रन्थ व ग्रन्थकारों से परिचित हो चुके हैं। वेदान्त विद्या के अनुबन्ध चतुष्टय का ज्ञान भो

आप प्राप्त कर चुके हैं। इस इकाई में वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का विचार प्रारम्भ करते हैं। इस इकाई के उद्देश्य हैं :–

1. आप अध्यास के बारे में जान सकें।
2. अपवाद क्या है, इसे समझ सकें।
3. अज्ञान क्या है, उसका स्वरूप क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त कर सकें।
4. अज्ञान की शक्तियों तथा उसके समष्टि व व्यष्टि स्वरूपों को जान सकें।

8.1 प्रस्तावना

शंकर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अन्य समस्त सत्ताओं का
निषेध कर देने पर जगत् व जीव क्या है, क्या हमारा अनुभव असत्य है, इस प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अद्वैत वाद का विवर्तवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत होता है। वस्तुतः पारमार्थिक सत्ता तो ब्रह्म की ही है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। अज्ञानवश जीव ब्रह्म पर जगत् का 'अध्यास' या 'अध्यारोप' कर लेता है, तथा ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रतिभासित होने लगता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप ज्ञान होता है, तथा जगत् रूपी मिथ्या आरोप का 'अपवाद' हो जाता है। जीव स्वरूप में स्थित होकर सच्चिदानन्द रूप से सुशोभित होता है।

वेदान्त के इस समाधान में अनेक पारिभाशिक शब्द आए हैं, जिन्हें विस्तार से समझे बिना अद्वैत वेदान्त को समझ पाना कठिन है। इस इकाई में अध्यारोप, अपवाद व अज्ञान इन तीनों महत्वपूर्ण शब्दों के अर्थ को विस्तार से समझने का प्रयास करते हैं।

8.2 अध्यारोप

वेदान्तसार में सदानन्द अधिकारी, विषय, प्रयोजन, आदि अनुबन्ध चतुष्टय का वर्णन करने के अनन्तर बताते हैं कि वेदान्तविद्या का अधिकारी संसाराग्नि से संतप्त होकर विनम्र भाव से गुरु की शरण में आ जाता है तथा हर प्रकार से गुरु का अनुकरण करता है, तब गुरु कृपा करके उसे अध्यारोप व अपवाद के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश देता है। अध्यारोप वेदान्तदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। सर्वप्रथम इसके अर्थ को समझना आवश्यक है।

8.2.1 अध्यारोप का अथ

इस संसार में जन्म लेकर हम जगत् के विभिन्न विषयों का उपभोग करते हैं। इस नामरूपात्मक प्रत्यक्ष जगत् को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता। जगत् के विभिन्न पदार्थ निरन्तर नवीन रूपाकारों को धारण करते रहते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर प्रतीत होता है कि मूल द्रव्य ही सत्य है। आकार की सत्ता तो मूल द्रव्य पर ही आश्रित है। आकार कोई नई चीज नहीं है जिसके कारण मूल द्रव्य में वास्तविक परिवर्तन स्वीकार किया जा सके। चलता हुआ, लेटा हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ व्यक्ति रूपाकार की भिन्नता होने पर भो एक ही व्यक्ति रहता है, बदल नहीं जाता। वस्तुतः मिट्टी ही एक वास्ताविक द्रव्य है। कुम्हार के व्यापार से वह कभो घड़े, कभो कढ़ाई और कभो कसोरे के रूप में दिखाई देती है। ये विविध रूपाकार मिथ्या हैं, क्योंकि इन रूपाकारों के नष्ट हो जाने पर अन्त में फिर मिट्टी ही शेष रहती है। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि कारण ही एक मात्र वास्ताविक सत्ता है। कार्यों के रूप में हम जो परिर्वतन देखते हैं, वह केवल मानसिक आरोप हैं, वास्ताविक नहीं।

सीपी में भमवश जैसे चांदी भासित होने लगती है अथवा रस्सी में सांप की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान के कारण संसार की भमात्मक प्रतीति हो रही है, वही 'अध्यारोप' कहलाता है। वेदान्तसार में 'अध्यारोप' की परिभाषा देते हुए कहा गया है, ''असर्पभ्तायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।'' अर्थात सांप की सत्ता से रहित रस्सी में जिस प्रकार सर्प का आरोप कर लिया जाता है तथा सर्प की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार वस्तु पर अवस्तु के आरोप को 'अध्यारोप' कहते हैं। इसे ही मिथ्याज्ञान या अध्यास कहा जाता है।

8.2.2 वस्तु

भत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में अबाधित रहने वाली, कभो विनाश को न प्राप्त करने वाली सत्ता वस्तु है। इस प्रकार की सत्ता अद्वैत वेदान्त में एक ही है और वह है – आत्मा या ब्रह्म, ''कालत्रयानपायी आत्मैव वस्तु।'' सदानन्द ने स्पष्टतः बताया है, 'वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म।' अर्थात सच्चिदानन्द–स्वरूप, अनन्त तथा अद्वितीय ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है। अन्य समस्त गोचर पदार्थ ब्रह्म में अज्ञानवश किया जाने वाला आरोपमात्र है।

8.2.3 अवस्तु

अवस्तु का तात्पर्य है अनिर्वचनीय। जिसका सत् अथवा असत् किसी भो रूप में कथन न किया जा सके, वह अनिवर्चनीय है। यह अवस्तु 'सदसद्भिन्न' तथा 'अज्ञानम्' नाम से भो कही गई हैं। सदानन्द ने कहा है, 'अज्ञानादिसकलजड़समूहोऽवस्तु। अज्ञान तथा उसके प्रभाव से प्रतिभासित होने वाला समस्त जड जगत् अवस्तु है।

वस्तु ब्रह्म पर अवस्तु अज्ञान तथा जडजगत् का आरोप कर देना ही 'अध्यारोप' कहलाता है। 'विवेक चूडामणि' में अध्यारोप का विवेचन करते हुए कहा गया है –

''अतस्मिंस्तद् बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद् वै स्फुरति भ़जड़्गे रज्जुधिष्णा।
ततोऽनर्थवातो निपतति समादातुरधिक
स्तोतयोऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः श्रृणु सखे।''

अर्थात अज्ञानान्धकार से मोहित व्यक्ति विवेक के अभाव में वस्तु में अवस्तु का आभास करता है। जैसे रस्सी में अन्धकार के कारण सर्प का मिथ्या ज्ञान हो जाता है। इस मिथ्या ज्ञान या अध्यास से ही अनर्थ श्रृंखला बढती जाती है, और यही बन्धन कहलाता है।

8.3 अपवाद

'अध्यारोप' तो वस्तु पर अवस्तु का आरोप है तथा इसी कारण ब्रह्म समस्त जड़ जगत् के रूप में आभासित होता है, किन्तु अन्तिम सत्ता तो ब्रह्म की ही है, अध्यारोप तो एक निश्चित समय के लिये ही हो सकता है। यह समय सीमा क्या है। इसका उत्तर है, ''गुरु द्वारा कृपापूर्वक अध्यारोप का स्वरूप बताकर अपवाद का उपदेश किया जाता है और अपवाद को समझने के साथ ही अध्यारोप या मिथ्या ज्ञान समाप्त हो जाता है।''

8.3.1 अपवाद का अर्थ

अन्धकार के कारण वस्तु रस्सी अवस्तु सर्प के रूप में प्रतीत होती है, किन्तु दीपक आदि का प्रकाश होने पर रस्सी में सर्प का ज्ञान मिथ्या है, यह निश्चय हो जाता है। व्यक्ति जान जाता है सामने केवल एक रस्सी है। सर्प नहीं है। इसके साथ ही मिथ्या ज्ञान पर आधारित उसका भय भो समाप्त हो जाता है। सर्प का अस्तित्व तो कभो था ही नहीं, केवल रस्सी का स्वरूप छिपा हुआ था। अब प्रकाश होने पर रस्सी का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। रस्सी में सर्प के मिथ्या ज्ञान के समान ही ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, किन्तु अज्ञानान्धकार के कारण व्यक्ति उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जड़जगत के रूप में अनुभव करता है, तथा आरोपित दु:ख–दैन्य का अनुभव करके दु:खी रहता है। सद्गुरू के उपदेश से ज्ञान का प्रकाश फैलने पर वह ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप से परिचित हो जाता है। जड़जगत् की सत्ता तो कभो थी ही नहीं। ज्ञानोदय के साथ ही यह मिथ्या जगत् लुप्त हो जाता है, तथा उस पर आधारित दु:ख तथा बन्धन भो नष्ट हो जाते हैं। निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति यह भो जान लेता ह कि मैं ब्रह्म से पृथक नहीं हूँ। वस्तुतः दो सत्ताएँ नहीं हैं। मैं ही ब्रह्म हूँ। मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। वस्तु ब्रह्म पर अवस्तु जगत् का जो आरोप किया गया था। उसका ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाना ही अपवाद है। वस्तु का वस्तुमात्र शेष रहना अर्थात सच्चिदानन्द–स्वरूप ब्रह्म का ही शेष रह जाना अपवाद है। वेदान्तसार में अपवाद को समझाते हुए सदानन्द कहते हैं – अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तु–विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपंचस्य वस्तुमात्रत्वम्।

विद्वन्मनोरंजिनी' के अनुसार, 'कार्यस्य कारणमात्रसत्ताविशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्य असत्तावधारणं वापवादः।'' अर्थात समस्त कार्य समूह का कारण में लय हो जाना तथा कारण रूप से स्थित रहना अथवा कारण के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर कार्य की असत्ता को समझ जाना ही अपवाद है। अपवाद को समझने के लिये शंकर के विवर्तवाद को संक्षेप में जानना आवश्यक है।

8.3.2 वेदान्त का कारण–कार्य–सिद्धान्त – विवर्तवाद

अपवाद को समझने के लिए वेदान्त के कारण–कार्य–सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करते हैं। वस्तुतः तो कारण ही सत्य है, किन्तु कार्य भो व्यवहारिक रूप से अवश्य सत्य है। वास्तव में सत्ता को तीन रूपों में समझा जा सकता है।

8.3.2.1 पारमार्थिक सत्य

जिस वस्तु का स्वरूप त्रिकाल में अबाधित हो, वही पारमार्थिक सत्ता है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म की है।

8.3.2.2 प्रातिभासिक सत्ता

अन्धकार के कारण जब रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है तो रस्सी का स्वरूप नहीं बदलता। सत्ता तो रस्सी की ही होती है, सर्प की असत्ता होती है, किन्तु प्रतीति रस्सी की न होकर सर्प की होती है। सर्प की असत्ता होने पर भो व्यक्ति कुछ देर के लिए इस प्रतीति या आभास के कारण भयभोत रहता है तथा सर्प से बचने की चेष्टाएं भो करता है। रस्सी का ज्ञान प्राप्त होने पर सर्प की प्रतीति नष्ट हो जाती है तथा भय भो नष्ट हो जाता है, किन्तु जितनी देर प्रतीति या आभास रहता है, उतनी देर के लिये तो व्यक्ति के समक्ष सर्पकी सत्ता रहती है, उस समय सर्प का अस्तित्त्व वह व्यक्ति स्वीकार करता ही है। इस अस्तित्त्व या सत्ता को प्रातिभासित सत्ता कहते हैं। यह सत्ता अल्पकालिक है। प्रतिभास मात्र के लिए इसका अस्तित्त्व है।

8.3.2.3 व्यावहारिक सत्ता

सृष्टिकाल में हम समस्त जड़जगत् को सत्य समझ कर व्यवहार करते हैं। बन्धन की दशामें व्यक्ति संसार के समस्त सुख–दुःख को सत्य ही मानकर व्यवहार करता है। यहाँ तक कि स्वरूप ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाला जीवन्मुक्त भो भोतिक शरीर की स्थिति रहने तक व्यावहारिक जगत् के धर्मों का निर्वाह करता ही है। व्यवहार मात्र के लिए जगत् की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः इसे हम व्यावहारिक सत्ता कह सकते हैं। समस्त प्रपंच व्यावहारिक सत्तावान है। मोक्ष के साथ ही इस प्रपंच की सत्ता नष्ट हो जाती है।

सत्ता के तीन रूपों को देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता अल्पकालिक ह। व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता पर आधारित है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का आभास होने पर रस्सी अपने स्वरूप को छोड़ती नहीं है। जिस समय हम रस्सी को सर्प समझते हैं, उस समय भो वह रस्सी ही रहती है किन्तु अन्धकार रस्सी के वास्वतविक स्वरूप को छिपा देता है, तथा आकृति की समानता तथा आशंका वश उसमें सर्प का आभास होने लगता है। रस्सी वास्तविक रूप से सर्प के रूप में परिवर्तित नहीं होती है। वह सर्प के रूप में केवल भासित ;प्रतीतद्ध होती है। इस प्रतीति मात्र को विवर्त कहा जाता है। सर्प रस्सी का विवर्त है।

प्रकाशादि की उपलब्धि होने पर रस्सी अपने वास्तविक स्वरूप में ज्ञात होने लगती है तथा सर्प की प्रतीति नष्ट हो जाती है। रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञात होना ही अपवाद है।

रस्सी व सर्प के रूपक के समान ही ब्रह्म कूटस्थ नित्य है। उसके स्वरूप में कभो कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। ना ही उसमें किसी प्रकार का परिणाम या कार्य सम्भव ह। फिर उसका जगद्कारणत्व कैसे सम्भव है। इसका उत्तर है कि अज्ञान ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेता है तथा भमवश वह ब्रह्म ही जड़ जगत् के रूप में प्रतीत होने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ब्रह्म जगत् के रूप में आभासित होता है। ज्ञान का उदय होते ही समस्त जड़ जगत् की सत्ता समाप्त हो जाती है। केवल ब्रह्म की ही सत्ता रहती है। अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप को छिपाने के साथ अपनी विशेष शक्ति के द्वारा उस पर समस्त जड़–प्रपंच

का आरोप कर देता है, इस कारण ब्रह्म जगत के रूप में नहीं बदलता, वह तो यथावत् ही रहता है, जगत्–प्रपंच सर्प के समान अज्ञान व कल्पना पर आधारित है।

सांख्य जगत् को प्रकृति का परिर्वतन या परिणाम मानता है, प्रकृति जगत् के रूप में परिणत हो जाती है, जैसे दूध, दही के रूप में परिणत होता है। वेदान्त परिणाम को स्वीकार न करके विवर्त को स्वीकार करता है। ब्रह्म के स्वरूप में कभो कोई परिर्वतन नहीं होता। वह जगत् के रूप में केवल प्रतीत होता है। सांख्य परिणामवादी है तथा वेदान्त विवर्तवादी। सदानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है –

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।'

अर्थात तात्विक रूप से परिवर्तित हो जाना विकार या परिणाम है, जैसे दही दूध का परिणाम है। तात्विक परिर्वतन के बिना मिथ्या प्रतीति विवर्त है जैसे सांप रस्सी का विवर्त है। विवर्त का समाप्त हो जाना, रस्सी का रस्सी के रूप में तथा ब्रह्म का ब्रह्म के रूप में ज्ञान ही अपवाद है।

8.4 अज्ञान

वेदान्त के अनुसार अध्यारोप ही जगत् की प्रतीति का कारण है तथा अध्यारोप का निराकरण या अपवाद ही मोक्ष है। इस अध्यारोप का जो कारण है, वह है अज्ञान। शंकर वेदान्त में अज्ञान एक अद्भुत तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। शंकर के अद्वैत का पूरा ढांचा इस अज्ञान के स्वरूप पर ही आधारित है। अज्ञान ही वह तत्त्व है जो ब्रह्म की कूटस्थता को अक्षुण्ण रखते हुए भो उसकी कारणता को सिद्ध करता है।

8.4.1 अज्ञान का स्वरूप

वेदान्त सार में अज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए सदानन्द कहते हैं, ''अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्ति ....'' अर्थात् अज्ञान सत् तथा असद् दोनों प्रकार से अवर्णनीय, त्रगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी तथा भाव रूप है। यह अज्ञान इस प्रकार का है, इस रूप में अवर्णनीय होने के कारण वेदान्ती उसे यत्किंचित् के अनिश्चयबोधक नाम से कहते हैं।''

8.4.1.1 सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं

अज्ञान का सत् तथा असत् के रूप में वर्णन करना सम्भव नहीं है। यदि अज्ञान को सत् कहा जाता है तो उसे ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित मानना पड़ेगा, किन्तु तत्त्वज्ञान का उदय होने पर अज्ञान बाधित हो जाता है। अतः वह सत् नहीं है। अज्ञान को असत् मानने पर बन्ध्यापुत्र अथवा शशविषाण के समान किसी भो काल में उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, किन्तु संसार के बंधन में बंधे हुये प्राणी को, 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः अज्ञान की सत्ता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। सत् तथा असत् दोनों श्रेणियों से भिन्न होने के कारण उसे 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीय' कहा गया है। शंकराचार्य ने भो कहा है, 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, ...। .... महदद्भुतानिर्वचनीयरूपा।''

8.4.1.2 त्रिगुणात्मकम्

अज्ञान अनिर्वचनीय है, सद्–असद् रूप में किन्तु उसके कार्य, इस त्रिगुणात्मक प्रपंच को देखकर समझा जा सकता है कि कारण भो त्रिगुणात्मक ही होगा, क्योंकि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। ''अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः।'' इस श्रुतिवचन से प्रमाणित है कि अज्ञान त्रिगुणात्मक है। सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण हैं। शुक्ल सत्व का, लोहित रजस् का तथा कृष्ण तमस् का बोधक है।

8.4.1.3 ज्ञानविरोधि

ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाना अज्ञान का लक्षण है। अज्ञान का ज्ञान द्वारा बाधित हो जाना श्रुति तथा लोक में सर्वविदित है। ब्रह्मैक्य के ज्ञान द्वारा निवृत्त होने वाला जगत् प्रपंच अज्ञानजन्य होने के कारण अज्ञान से भिन्न नहीं है। अतः प्रपंच में अज्ञान के इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं मानी जा सकती। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है तथा ज्ञान के उदय होते ही

नष्ट हो जाता है। वैसे ही जैसे अन्धकार प्रकाश का विरोधी है। प्रकाश का उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है।

8.4.1.4 भावरूपम्

अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है। इस प्रकार उसे अभावरूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसे भावरूप कहने पर उसकी निवृत्ति सम्भव न हो सकेगी। वस्तुतः अज्ञान तभो तक भावरूप माना जा सकता है, जब तक आत्म–ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार न हो। आत्मसाक्षात्कार होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। पूरी तरह भावरूप न कह पाने पर भो अज्ञान अभावरूप तो कदापि नहीं है। उसे ज्ञान का अभाव मानने पर यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान का किसी काल में अभाव भो हो सकता है, किन्तु ज्ञान का अभाव सम्भव नहीं है। अतः सृष्टि व बन्धन दशा में अज्ञान भावरूप ही है। मोक्ष दशामें अज्ञान का निराकरण हो जाता है।

8.4.1.5 यत्किंचित्

अज्ञान को सद्रूप अथवा असद्रूप से निरूपित नहीं किया जा सकता, इसलिए उसे यत्किंचित् कहा गया है। अन्धे व्यक्ति द्वारा सूर्य में अन्धकार की कल्पना करने के समान ही अज्ञान है। अज्ञान के यथार्थ स्वरूप को जानना असम्भव होने पर भो उसकी सत्ता में अनुभ्ति तथा श्रुतिवचन दोनों ही प्रमाण हैं। हम सत्य को खोजने का प्रयत्न करते हैं, इस प्रकार हम सत्यविषयक अपने अज्ञान को स्वीकार करते हैं। हमारा यह अनुभव अज्ञान को सिद्ध करता है। बृहदारण्यक वार्तिक में कहा गया है, ''अविद्याया अविद्यात्वं इदमेव तु लक्षणम् यद् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथाऽवस्तु सा भवेत्।'' अज्ञान कोई अनिर्वचनीय पदार्थ है। इस विषय में श्रुति को उद्धृत किया गया है, 'देवात्मशक्तिस्वगुणैर्निगूढ़ाम्'' अज्ञान ब्रह्म की शक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान् भिन्न नहीं होते, इसलिये द्वैत की आपत्ति नहीं होती। इस श्रुति से अज्ञान की त्रिगुणात्मकता भो सिद्ध होती है।

वस्तुतः अज्ञान के स्वरूप को जानना अत्यंत कठिन है, क्योंकि जानने के लिए ज्ञान उपस्थित होगा और ज्ञान की उपस्थिति में अज्ञान टिक नहीं सकता। ज्ञान द्वारा अज्ञान को जानने की चेष्टा वैसी ही है, जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा अन्धकार को जानने का प्रयास। हिरियन्ना कहते हैं ,

"Really this ignorance can never be properly explained. It is absurd to seek for its proof. To prove ignorance by knowledge is like to see darkness by the blazing light."

नैषकर्म्यसिद्धिकार का भो यही कहना है –

'सेयं भान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।

सहते न विचारं सा तमोदयवत् दिवाकरम्।''

अज्ञान के स्वरूप को जानने की इस कठिनाई के कारण ही उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। विवेक चूडामणि में अज्ञान या माया का वर्णन करते हुए कहा गया है –

''अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणत्मिका या।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नेत्युभयात्मिका नो।

सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महदद्भताऽनिर्वचनीयरूपा।''

8.4.2 अज्ञान के रूप

अज्ञान का स्वरूप वर्णन कठिन है। अज्ञान एक है अथवा अनेक इस विषय में भो दुविधा उत्पन्न होती है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर अधिक कठिन नहीं है। श्रुतियों में अज्ञान के विषय में एकत्वबोधक तथा अनेकत्वबोधक दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं। उन दोनों मे किसी प्रकार का विरोध नहीं है। समष्टि रूप में अज्ञान को एक तथा व्यष्टिभावना से उसे अनेक कहा जाता है।

8.4.2.1 समष्टि अज्ञान

सम् उपसर्ग पूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है सबको व्याप्त करने वाली। यहाँ समष्टि शब्द का प्रयोग समुदाय, समूह, सामान्य अथवा संघात के अर्थ में हुआ है। स्वामी निखिलानन्द के अनुसार, 'डरीीिंळ ाशरपी रप रससीशसरींश.'

स्वामी रामतीर्थ ने समष्टि को सामान्य का वाचक माना है। वस्तुतः समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान दोनों में अभद है। वेदान्त में समष्टि अज्ञान के लिए 'माया' तथा व्यष्टि अज्ञान के लिये अविद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदान्तसार में समष्टि अज्ञान का वर्णन करते हुए कहा गया है, ''यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः ....।'' अर्थात जिस प्रकार वृक्षों की समष्टि के दृष्टिकोण से 'वन' इस प्रकार एकत्व सूचक व्यवहार किया जाता है अथवा जैसे जल की असंख्य बूंदो को समष्टि के अभिप्राय से 'जलाशय' इस एकत्वबोधक नाम से कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक रूप में प्रतिभासित होते हुए जीवों में विद्यमान अज्ञान को समष्टि की दृष्टि से एकत्वसूचक विशेषणों से अभिहित किया जाता है। इस एकत्व की बोधक श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है – 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्..........।'

8.4.2.1.1. समष्टि अज्ञान की विशुद्ध सत्व प्रधानता

यह समष्टि अज्ञान उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्वप्रधान है। 'इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना।'' जब कोई वस्तु से भिन्न रूप में प्रकाशित हो तो भासित होने का जो प्रयोजक हेतु होता है, उसे उपाधि कहते हैं। वाचस्पत्यम् में उपाधि का लक्षण है, अन्यथास्थितस्य वस्तुनः अन्यथा प्रकाशनरूपः।' तर्कभाषा के अनुसार उपाधि की परिभाषा है, प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते।' उत्कृष्ट उपाधि होने का तात्पर्य है कि समष्टि अज्ञान व्यष्टि अज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है। सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से उसमें अधारभ्त अज्ञान की एकता बनी रहती है। किन्तु व्यष्टिगत अज्ञान में आधारभ्त एकता नष्ट हो जाती है। अथवा उत्कृष्ट उपाधि होने का अर्थ समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर की व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य अल्पज्ञ प्राज्ञ की अपेक्षा उत्कृष्टता भो किया जा सकता है।

यह समष्टि अज्ञान विशुद्ध सत्त्वप्रधान कहा गया है। ईश्वर स्थित अज्ञान में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता होती है। सत्त्व गुण की प्रधानता का तात्पर्य यह नहीं है कि समष्टि अज्ञान में रजस् व तमस् गुण बिल्कुल नहीं रहते। ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञान स्वरूपतः त्रिगुणात्मक है।

प्रधानता का तात्पर्य है कि सत्वगुण रजस् व तमस् को अभिभ्त किये रहता है। विशुद्ध सत्त्व का भो यही तात्पर्य है कि सत्त्व गुण अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रहता है, रजस् व तमस् से अभिभ्त होकर उनसे सम्मिश्रित नहीं होता। विद्वन्मनोरंजिनी में कहा गया है, 'विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभ्तं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा।'

8.4.2.1.2. ईश्वर

इस उत्कृष्ट समष्टि उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञता, सबका इश्वर होना, सर्वनियन्ता होना आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्यामी, संसार का कारणरूप तथा ईश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है। सदानन्द के शब्दों में, 'एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादि – गुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति व्यपदिश्यते, सकलाज्ञानावभासकत्वात् .... ।'' उपहित का अर्थ है – उपाधि से युक्त अर्थात् समष्टि अज्ञान रूपी उपाधि वाला चैतन्य। स्थावर व जंगम ;चलद्ध समस्त प्रपंच का साक्षी होने के कारण यह ईश्वर 'सर्वज्ञ' है। सब जीवों को उनके कार्यानुसार फल देने के कारण यह 'सर्वेश्वर' है। सभो जीवों के अन्तर्हृदय में स्थित होकर उन्हें नियन्त्रित करने के कारण यह –अन्तर्यामी' है तथा समस्त चराचर जगत् का विवर्त रूप में अधिष्ठान होने के कारण यह 'जगत–कारण' भो हैं।

ईश्वर समस्त अज्ञान को प्रकाशित करता है, इसलिए उसकी सर्वज्ञता आदि विशेषताएँ हैं। अज्ञान जड़ तथा स्वतः प्रकाश्यता से रहित है। जैसे चन्द्रमा प्रकाश स्वरूप सूर्य के प्रकाश से चमकता है उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप, प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही अज्ञान को प्रकाशित करता

है। जब सम्पूर्ण रूप से अज्ञान में ब्रह्म प्रकाशित होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। वैसे ही जैसे शान्त जल में सूर्य का एक प्रतिबिम्ब दिखाई दे। जैसे जल की असंख्य लहरों में सूर्य के असंख्य प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, वैसे ही व्यष्टि अज्ञान में चैतन्य भो अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रतीत होता है।

8.4.2.1.3 कारण शरीर, आनन्दमय कोष, सुषुप्ति तथा स्थूल–सूक्ष्म प्रपंचलयस्थान–

ईश्वर की इस समष्टि को सबका कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्द की प्रचुरता होने के कारण आनन्दमयकोष, सब शान्त रहने के कारण सुषुप्ति एवं स्थूल–सूक्ष्म प्रपंच का लयस्थान कहा जाता है।

सांख्य आदि दर्शन केवल सूक्ष्म व स्थूल दो शरीरों को मानते हैं, किन्तु वेदान्ती स्थूल व सूक्ष्म शरीरों का विलय–स्थान कारण–शरीर को मानते हैं। इस स्थिति में तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है। यही समस्त प्रपंच का मूल कारण है, अतः 'कारण शरीर' कहलाता है।

इस समष्टि अज्ञान को आनन्दमय कोष भो कहा जाता है। वेदान्त के अनुसार पांच कोष हैं – आनन्दमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय। समष्टि अज्ञान से उपहित ईश्वर आनन्द की प्रचुरता वाला कहा गया है। 'आनन्द की प्रचुरता' इस विशेषण से ईश्वर का अज्ञानोपाधि से उपहित होना स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है क्योंकि उपाधिविहीन ब्रह्म तो साक्षात् आनन्द स्वरूप है।

यह समष्टि अज्ञान थैली की तरह चैतन्य को घेरे हुए है या ढके हुए है। अतः इसे कोष कहा गया है। इस विषय में ब्रह्म तथा अज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रपंच की प्रतीति नहीं होती है। इस अवस्था के बाद ही सृष्टि के विकास की स्थिति आती है। अतः यह कारण शरीर है। शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण आनन्द का प्राचुर्य रहता है। इस अवस्था में ही प्रलय व मोक्ष के समय समस्त स्थूल व सूक्ष्म प्रपंच लय को प्राप्त होता है। अतः स्थूलसूक्ष्मप्रपंचलयस्थान भो कहलाता है। यहाँ आकर व्यष्टिगत सम्पूर्ण सृष्टि शान्त हो जाती है, उपराम को प्राप्त होती है। अतः यह अवस्था सुषुप्ति है।

8.4.2.2 व्यष्टि अज्ञान

जब अज्ञान का अनेक रूप में कथन करना होता है, तब उसे व्यष्टि अज्ञान कहा जाता है। जैसे वन के वृक्षों की व्यष्टि का कथन करने की इच्छा होने पर उसे 'अनेक वृक्ष' तथा जलाशय का व्यष्टि रूप में कथन करने की अभिलाषा होने पर 'अनेक जल' इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार अज्ञान को अनेक रूप से कहने की इच्छा से उसे व्यष्टि रूप 'अनेक अज्ञान' कहा जाता है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि श्रुति द्वारा अज्ञान के इसी अनेकत्व का संकेत किया गया है।

जिस प्रकार जलाशय तथा जल में तथा वन तथा वृक्षों में कोई स्वरूपगत भद नहीं होता, उसी प्रकार समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान में भो कोई स्वरूपगत अन्तर नहीं होता। व्याष्टि अज्ञान का स्वरूप भो समष्टि अज्ञान के समान ही है।

8.4.2.2.1. मलिनसत्त्वप्रधानता

अज्ञान की यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान है। इस व्यष्टि अज्ञान को निकृष्ट उपाधि कहने का कारण है :– 1. इसमें अज्ञान का एकत्व तिरोहित हो जाता है तथा अनेकत्व का भास होता है। 2. इसमें अहंकार स्थित रहता है। 3. आत्मा के अतिरिक्त समस्त प्रपंच का अध्यास इसी उपाधि के कारण होता है। व्यवहार की दृष्टि से जीव ईश्वर की तुलना में निकृष्ट है। ईश्वर उपाधिभ्त् अज्ञान का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न आदि कहा जाता है, जबकि जीव अपने उपाधिभ्त् अज्ञान के अधीन होने के कारण अल्पज्ञ अल्पसामर्थ्यवान आदि कहा जाता है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार ज्ञान पर अविद्या का आवरण पड़ जाने के कारण जीव निकृष्ट कहा गया है –

'ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितया।' ईश्वर व जीव के भद को विद्यारण्य स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद् वैचित्र्यादनेकधा।''

यह व्यष्टि अज्ञान मलिन सत्त्व प्रधान है। मलिन सत्त्व से तात्पर्य है कि यहाँ सत्त्व गुण अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं रहता बल्कि रजस् तथा तमस् से सम्मिश्रत रहता है। जैसे स्वच्छ दर्पण पर धूल पड़ जाने से उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार सत्त्वगुण के रजस् व तमस् से पराभ्त हो जाने के कारण मलिन हो जाने से उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब भली प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होता। जीव की अल्पज्ञता का कारण उपाधि की मलिनसत्त्वप्रधानता तथा ज्ञानरूप चैतन्य के प्रतिबिम्ब को सुस्पष्ट रूप से ग्रहण न कर पाना ही है।

8.4.2.2.2. प्राज्ञ

व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य केवल एक ही अज्ञान को प्रकाशित करता है। इसलिए अल्पज्ञता, अनीश्वरता आदि गुणों से युक्त 'प्राज्ञ' कहलाता है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार प्राज्ञ का अर्थ है – 'प्रायेण अज्ञः' वेदान्तसार में कहा गया है, ''अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात्।'' इस व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य का अस्पष्ट उपाधि वाला तथा इसलिए अल्प प्रकाशक होने से प्राज्ञ नाम है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है तथा उस सूर्य का प्रकाश परावर्तित होकर दर्पण के सामने रखे पदार्थों को भो प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार शुद्ध सत्त्व गुण में चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है तथा उस प्रतिबिम्ब के प्रकाश से समस्त जड जगत् प्रकाशित हो जाता है। किन्तु व्यष्टि अज्ञान मलिन सत्त्व–गुण–प्रधान होता है। सत्त्व गुण की मलिनता के कारण चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट नहीं बनता। जब वह स्वयं ही प्रकाशमय चैतन्य को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाता तो उससे परावर्तित प्रकाश जड् जगत् को भो पूर्णतः प्रकाशित नहीं कर पाता। अतः उन पदार्थों का अल्प ज्ञान ही हो सकता है। यही कारण है कि व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य अल्पज्ञानी 'प्राज्ञ' है।

8.4.2.2.3. कारण शरीर, आनन्दमयकोश, सुषुप्ति, स्थूलसूक्ष्मप्रपंचलयस्थान

यह व्यष्टि उपाधि भो अहंकारादि का कारण होने से 'कारण–शरीर', आनन्दाधिक्य तथा कोश के समान आवृत करने वाली होने के कारण आनन्दमयकोश, सबका उपरमण होने के कारण सुषुप्ति तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपंच के लीन होने का आधार होने के कारण लयस्थान कहलाती है।

अहंकार से यहाँ तात्पर्य अन्तःकरण से है। अन्तःकरण सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लय हो जाता है तथा स्वप्न व जागरण अवस्था में अज्ञान से हो उत्पन्न होता है। इसलिए अज्ञान को अहंकार का कारण तथा कारणशरीर कहा गया है।

इस अवस्था में अहंकारादि सभो तत्त्व केवल संस्कार मात्र जीव में रहते हैं। इस स्थिति में न तो इन्द्रियाँ हैं, न इन्द्रियों का विषय है। अतः शान्ति है, आनन्द का आधिक्य है। व्यष्टि अज्ञान से भो एक थली की तरह चैतन्य घिरा हुआ है। अतः इसे आनन्दमयकोश कहते हैं। पंचीकृत स्थूल शरीर अपने कारण, अपंचीकृत शरीर में लय हो जाता है। इसलिये सब शान्त तथा लय हो जाने के कारण इसे सुषुप्ति तथा 'लय स्थान' कहते हैं।

ईश्वर तथा प्राज्ञ दोनों में कोई स्वरूपगतभद नहीं है। समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान में भो कोई भद नहीं है। जैसे वन तथा वृक्षों में, एकत्व व अनेकत्व का व्यवहार मात्र भिन्न है अन्यथा अभद है या जैसे जलाशय व जल में कोई स्वरूपगत भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार अज्ञान समष्टि व व्यष्टि दो रूप होने पर भो एक हैं। वन व वृक्षों से अविच्छन्न आकाश एक ही रहता है। जलाशय व जल में प्रतिबिम्बत आकाश भो एक ही रहता है। वह प्रतिबिम्ब रूप से व्यवहार की दृष्टि से, भिन्नतया कथित होता है। तात्विक रूप से वह सदैव एक व एक सा ही रहता है। उसमें कभो कोई परिवर्तन नहीं होता। अज्ञान से उपहित चैतन्य के ईश्वर, प्राज्ञ आदि रूप केवल व्यवहार की दृष्टि से ही हैं। तत्त्वतः तो वह कूटस्थ नित्य ब्रह्म एक तथा निर्विकार है। वह निरूपाधि शुद्ध चैतन्य है। उसे 'तुरीय' नाम से पुकारा जाता है।

8.5 अज्ञान की शक्तियां

अज्ञान के स्वरूप को समझने का प्रयास करने के बाद उसकी शक्तियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। यह अज्ञान किस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप को ढककर समस्त जडप्रपंच का दर्शन कराता है। इसे जानने के लिये अज्ञान की शक्तियों से परिचित होना आवश्यक है। अज्ञान की दो शक्तियां हैं – आवरण तथा विक्षेप 'अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्तिशक्तिद्वयम्।''

8.5.1 आवरण शक्ति

आवरण का अर्थ है ढकना, पर्दा डालना। अज्ञान की यह शक्ति जीव की बुद्धि पर पर्दा डालकर सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को ओझल कर देती है। सुबोधिनी टीका के अनुसार, ''सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरण शक्तिः।'' अज्ञान अपनी आवरण शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को ओझलकर विक्षेप शक्ति द्वारा उसमें समस्त प्रपंच का दर्शन करा देता है। सामान्य व्यवहार में भो देखा जा सकता है, एक जादूगर जब जादू का खेल दिखाता है तो दर्शक की दृष्टि पर जादू का आवरण डालकर कंकड का स्वरूप ढक देता है तथा अपनी जादू की शक्ति के बल से कंकड में सिक्कों के दर्शन करा देता है। जादू पहले कंकड के वास्तविक स्वरूप को ओझल करता है, तब उस कंकड में सिक्कों के दर्शन होते हैं। स्वरूप को ढकने का कार्य आवरण शक्ति करती है। कंकड के स्वरूप में कोई परिर्वतन नहीं होता है वह यथावत ही रहता है, केवल उनका स्वरूप दर्शक की दृष्टि से ओझल हो जाता है। वे सिक्कों में भो नहीं बदलते। केवल जादू के प्रभाव म पड़े हुए दर्शकों को ही वे सिक्कों के रूप में दिखाई देते हैं। जादू समाप्त होने पर कंकड ही शेष रहते हैं, क्योंकि सिक्के तो कभो थे ही नहीं। वस्तु के स्वरूप को ढक देना ही जादू के खेल की पहली सीढी है। ठीक इसी तरह अज्ञान या माया भो ब्रह्म के असली स्वरूप को ढक देती है। स्वरूप को ढकने का कार्य आवरण शक्ति करती है। और फिर ब्रह्म में समस्त प्रपंच का दर्शन करा देती है। ब्रह्म तो जैसे का तैसा बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आता है, माया के कारण ही सम्पूर्ण जडजगत् का आभास होता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि अज्ञान की आवरण शक्ति भला अनन्त ब्रह्म को कैसे ढक सकती है। इसका उत्तर है कि जैसे छोटा सा मेघ का टुकडा अत्यंत विशाल सूर्य को ढककर दर्शक की दृष्टि से ओझल कर देता है। वह मेघ सूर्य को आवृत करने में समर्थ नही होता केवल दर्शक के दृष्टिपथ को ढक देता है और वह प्रकाशस्वरूप सूर्य को देखन में असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञान आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म को नहीं ढकता बल्कि बुद्धि को ढक लेता है। वस्तुतः मेघ सूर्य को ढकता नहीं है, ढकने का आभास होता है, ऐसे ही सीमित अज्ञान असीमित ब्रह्म को ढकता नहीं है, बल्कि उसे ढकने का आभास होता है। यह ढकने का आभास कराने वाली शक्ति ही आवरण शक्ति है।

8.5.2 विक्षेप शक्ति

वस्तु ब्रह्म के स्वरूप के ढक जाने पर उसमें समस्त नामरूपात्मक जगत् का आरोप कर देने वाली शक्ति विक्षेप शक्ति है। सुबोधिनी टीका कहती है –
''ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुद्वत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजति इति विक्षेपशक्तिः।''
जादू के खेल की दूसरी सीढ़ी है–आवृत स्वरूप वाले कंकडों में सिक्कों का दर्शना करा देना। जो शक्ति कंकडों को सिक्कों के रूप में दिखा सकती है, वही विक्षेप शक्ति है। यह शक्ति वस्तु के स्वरूप में यथार्थ परिवर्तन नहीं करती, केवल दूसरी वस्तु का आभास कराती है।

आवरण शक्ति द्वारा वस्तु रज्जु का स्वरूप ढक जाने पर जो उसमें सर्प की उद्भावना करती है, वह विक्षेप शक्ति है। अज्ञान अथवा माया की आवरण शक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को ढक देती है। इसके बाद विक्षेप शक्ति का कार्य प्रारम्भ होता है। वह आवृत स्वरूप वाले ब्रह्म में ही आकाशादि समस्त प्रपंच की उद्भावना करती है। कहा भो गया है, ''विक्षेपशक्तिर्लिड़्.गादिब्रह्माण्डान्तं जगतसृजेदिति।''

आवरण का अर्थ है 'असली स्वरूप पर परदा डालना तथा विक्षेप का अर्थ है, 'दूसरी वस्तु का आरोप कर देना।' इन दोनों शक्तियों के बल पर ही अज्ञान ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैसे जादू के खेल में जादू का प्रभाव दर्शकों पर पडता है जादूगर पर नहीं। वह अपने जादू के रहस्य को जानता है। इसी प्रकार अज्ञान या माया पर भो यह बात लागू होती है। ब्रह्म के लिये माया केवल इच्छा मात्र है, वह इससे प्रभावित नहीं होता, किन्तु हम अज्ञानियों को ब्रह्म के बदले नाना प्रकार के पदार्थ दिखने लगते हैं। वास्तव में परदा हमारी बुद्धि पर पड़ता है, तरह–तरह के नामरूपात्मक जगत् की कल्पना भो हमारी बुद्धि ही करती है। ब्रह्म तो न आवृत होता है न किसी का कारण बनता है।

ये हैं अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप शक्ति, जिन के द्वारा वह समस्त सृष्टि का कारण है। सृष्टि अनादि है, अतः अज्ञान भो अनादि है।

8.6 अज्ञान द्वारा ब्रह्म की निमित्त तथा उपादानकारणता

दो शक्तियों ;आवरण तथा विक्षेपद्ध वाली अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य अपनी प्रधानता से निमित्त तथा उपाधि की प्रधानता से उपादानकारण बनता है।

इन दोनों शक्तियों से आच्छादित चैतन्य या आत्मा में क्रिया होती है। यह ध्यान में रखना है कि वस्तुतः आत्मा में क्रिया नहीं होती, क्रिया तो रजोगुण की स्थिति के कारण माया या अज्ञान में होती है, किन्तु अज्ञान के प्रभाव से अज्ञान का धर्म क्रिया आत्मा में आरोपित प्रतीत होता है। इस कारण आत्मा भो क्रियाशील मालूम पड़ती है। और इसी क्रिया के द्वारा सृष्टि होती है, अर्थात मायावच्छिन्न चैतन्य जगत् का कारण है।

इस चैतन्य में दो रूप हैं – एक तो चैतन्य व दूसरा अज्ञान या मायारूप उपाधि। इन दोनों से आकाशादि की सृष्टि होती है। जब इस सृष्टि के लिये प्रधानता उपाधि से युक्त चैतन्य को दी जाती है, तब चैतन्य सृष्टि का निमित्त कारण है, जब चैतन्य की मायारूप उपाधि को प्रधानता दी जाती है, तब माया उपाधि विशिष्ट चैतन्य सृष्टि का उपादान कारण है।

वेदान्तसार में चैतन्य की माया द्वारा निमित्त तथा उपादानकारणता को मकडी के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है। एक हो मकडी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्त कारण होती है तथा अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण भो होती है। यदि मकडी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नही बन सकता, यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य से ही तन्तु नहीं बन सकता। इस प्रकार जाल रूपी कार्य में मकडी की चेतना तथा उसका विशिष्ट शरीर दोनो ही कारण हैं। चेतना की प्रधानता के कारण मकडी निमित्तकारण है, वही मकडी शरीर की प्रधानता के कारण उपादानकारण भो है। इसी प्रकार चैतन्य भो अपने चैतन्य स्वरूप के कारण चराचर संसार का निमित्तकारण है तथा अज्ञान रूपी उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण भो है। संसार अज्ञान से उपहित है। अतः अज्ञान संसार का उपादानकारण है। चैतन्य अज्ञान से उपाहित है। अतः अज्ञानोपाधि युक्त चैतन्य को परम्परया संसार का उपादान कारण कह सकते हैं।

यह समस्त कारणता अज्ञानोपहित चैतन्य की है। शुद्ध चैतन्य ब्रह्म तो किसी का कारण नहीं है। किसी संसार की सत्ता ही नहीं है तो कारणता का तो प्रश्न ही नहीं है। वास्ताविकता में तो केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही शोभायमान है।

8.7 व्याख्या

इस इकाई में व्याख्या योग्य अधिकांश अंश अपवाद, अध्यारोप व अज्ञान की व्याख्या करते समय व्याख्यात हो चुके हैं, फिर भो कुछ अंशों की व्याख्या संक्षेप में करने योग्य है।

व्याख्या 1

सः गुरुः परमकृपया 'अध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति, 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः। असर्पभ्‌तायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्तं अद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।

संदर्भ

प्रस्तुत पंक्तिया सदानन्द द्वारा लिखित लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थ वेदान्तसार से ली गई हैं। सदानन्द 16 वीं शताब्दो के प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य रहे हैं। उनका ग्रन्थ वेदान्तसार अपनी सरल प्रतिपादन शैली के कारण अद्वैत वेदान्त का प्राइमर कहा जा सकता है और इसी कारण यह प्रकरण ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय भो है।

प्रसंग

वेदान्तविद्या का अधिकारी संसार की दुःखाग्नि से सन्तप्त होकर उपहार हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में आता है तथा मन, वचन व कम से, हर प्रकार से गुरु का अनुसरण तथा सेवा करता है। तब कृपालु गुरु उसे स्वरूप ज्ञान कराने के क्रम में अध्यारोप अपवाद आदि का स्वरूप बताते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में इसी अध्यारोप के बारे में बताते हुए सदानन्द कहते हैं –

व्याख्या

वह गुरु परमकृपापूर्वक अध्यारोप व अपवाद न्याय से उस अधिकारी को उपदेश देता है। 'उस आए हुए अधिकारी को वह ब्रह्मज्ञानी उपदेश देता है' इत्यादि श्रुतिवचन भो हैं।

असर्पभ्त रस्सी में सर्प के आरोप के समान वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं और सच्चिदानन्द अद्वितीय बह्म ही एकमात्र वस्तु हैं। अज्ञानादि समस्त जड़ समूह अवस्तु हैं।

अधिकारी जो अज्ञान से उपहित होने के कारण स्वरूप को भ्ला हुआ है, गुरु उसे क्रमशः स्वरूप ज्ञान कराने का प्रयास करता है। इस क्रम में सबसे पहले गुरु अध्यारोप का वर्णन करते हैं। वे अधिकारी को बताते हैं कि जिस प्रकार अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी को व्यक्ति भमवश सर्प समझ लेता है तथा अकारण ही भयभोत हो जाता है। उसी प्रकार अज्ञान के कारण व्यक्ति सच्चिदानन्द ब्रह्म पर समस्त जड जगत् का आरोप कर लेता है तथा अकारण ही दुःखी रहता है। जैसे रस्सी की ही सत्ता है, सर्प की सत्ता आभास मात्र है तथा सर्प मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म की ही सत्ता है, जगत् की सत्ता आभास मात्र है, जगत् मिथ्या है। जैसे प्रकाश होने पर रस्सी मात्र शेष रहती है, मिथ्या सर्प तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश से ज्ञान का उदय होने पर ब्रह्म की ही सत्ता शेष रहती है, मिथ्या जगत् का आभास नष्ट हो जाता है। वस्तुतः सत्ता तो केवल ब्रह्म की ही है। समस्त जडप्रपंच तो अज्ञानवश होने वाली प्रतीति मात्र है। इसलिए ब्रह्म को एकमात्र वस्तु तथा अज्ञान तथा उससे उत्पन्न समस्त जडप्रपंच को अवस्तु कहा गया है।

टिप्पणी –

1. अध्यारोप – देखिए – 8.2.1
2. अपवाद – देखिए – 8.3.1
3. परमकृपया – अतिशय रहस्यमय आत्मज्ञान की विद्या का उपदेश करने में संकोचभाव न होने का कारण करूणा है। शरणागत जन के क्लेशों का अवलोकन कर ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य का कोमल चित्त द्रवीभ्त होकर उनका निवारण करने के लिए अज्ञानान्धकार से आच्छादित बुद्धि को ज्ञानरूपी प्रकाश से धोरे–धीरे प्रकाशित व विकसित करता है। संक्षेपशारीरक में आया है, गुरु कृपालुता से शिष्य को शिक्षित करता है,

   ''एतदेव हि दयालुलक्षणं यत् विनेयजनबुद्धिविवर्धनम्।''
4. वस्तु – भ्त, भविष्य, वर्तमान समस्त कालों में विद्यमान रहने वाली। ऐसी सत्ता या पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की है। अतः ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है। सुबोधिनी टीका में कहा है, ''कालत्रयानपायी आत्मैव वस्तु।''
5. अवस्तु – जो सद् तथा असद् दोनों रूपों में अनिवर्चनीय है – वह अवस्तु है। यह अवस्तु अज्ञान तथा उससे उत्पन्न समस्त जडप्रपंच है।
6. सच्चिदानन्द – ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित एकमात्र सत्ता है, अतः सत् है। वह चैतन्य स्वरूप है, जैसे सूर्य प्रकाश स्वरूप है। सूर्य तथा प्रकाश अलग नहीं हैं, उसी प्रकार ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है। ब्रह्म तथा चैतन्य अलग नहीं हैं। ब्रह्म

आनन्दस्वरूप भो है। ब्रह्म शुद्ध आनन्द है। त्रिगुणातीत होने के कारण इस आनन्द में किसी प्रकार के सुख–दुःख का सम्मिश्रण नहीं है।

7. अद्वयम् – ब्रह्म एक ही है। उसका अनेकत्व उपाधि के कारण है तथा केवल व्यवहार की दृष्टि से है। अनेक लहरों पर प्रतिबिम्बित, सूर्य बिम्ब एक ही होता है, उसी प्रकार अनेक अज्ञानों से उपहित चैतन्य बिम्ब भो एक ही है। वह अनेक रूप में केवल प्रतीत होता है।

व्याख्या 2

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्, ''देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'' इत्यादि श्रुतेश्च।

संदभ – व्याख्या संख्या 1 के अनुसार।

प्रसंग – वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता हैं, जगत् मिथ्या है। ब्रह्म पर जगत् प्रपंच का आरोप किया जाता है। इस आरोप का कारणभ्त् तत्त्व अज्ञान है। शंकर वेदान्त में अज्ञान एक अद्भत् तथा महत्वपूर्ण तत्त्व है। शंकर के अद्वैत का पूरा भवन इस अज्ञान के स्वरूप पर टिका है। अज्ञान ही वह तत्त्व है जो ब्रह्म की कूटस्थता तथा अद्वैतता के सिद्धान्त की रक्षा करते हुए जगत् की पहेली को हल करता है। इस अज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए सदानन्द कहते हैं –

व्याख्या

अज्ञान सत् तथा असत् दोनों प्रकार से अवर्णनीय त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी तथा भावरूप है। 'यह अज्ञान ऐसा है' – यह वर्णन सम्भव न होने के कारण वेदान्ती अज्ञान को यत्किंचित् कहते हैं। अज्ञान अनिर्वचनीय होने पर भो कुछ है, इस विषय में 'मैं अज्ञानी हूँ'' इस प्रकार का अपना अनुभव प्रमाण हैं 'आत्मा की शक्ति अपने गुणों से आवृत है, यह श्रुतिवाक्य भो इस विषय में प्रमाण है।

किसी पदार्थ का वर्णन या तो सत् रूप में किया जाता है, जैसे ब्रह्म या असत् रूप में जैसे आकाश कुसुम, किन्तु अज्ञान का वर्णन दोनों ही प्रकार से करना सम्भव नहीं हैं। यदि उसे सत् कहें तो उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान का उदय होते ही अज्ञान का बाध हो जाता है, यदि असत् कहें तो भो संगत नहीं है, क्योंकि सृष्टि की दशामें जगत् तथा उसके विषयों का अनुभव किया ही जाता है। इसलिए उसे सदसद्भ्यामनिर्वचनीय कहा गया है।

अज्ञान इस समस्त प्रपंच का कारण हैं। प्रपंच के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक दिखाई देते हैं। कार्य के गुणों के आधार पर समझा जा सकता है कि कारण अज्ञान भो त्रिगुणात्मक होगा। अज्ञान को हम अभावरूप नहीं मान सकते। वह केवल ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु ज्ञान का विरोधी कुछ विशिष्ट तत्त्व है, जिसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। अज्ञान के स्वरूप की यह अनिर्वचनीयता इसलिए है कि ज्ञान के बिना कुछ भो जानना सम्भव नहीं है तथा ज्ञान की उपस्थिति में अज्ञान का रहना सम्भव नहीं है। अज्ञान को ज्ञान द्वारा जानने का प्रयास ऐसा ही है, जैसे प्रकाशात्मक सूर्य की सहायता से अन्धकार को जानने का प्रयास।

टिप्पणी

टिप्पणियों के लिए देखिए 8.5.1 तथा उसके उपखण्ड।

देवात्मशक्तिम् – इस श्रुति से तथा उस पर शंकर भाश्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञान परमात्मा की शक्ति है, इसलिए द्वैत की सम्भावना का भो निराकरण हो जाता है, क्योंकि शक्ति तथा शक्तिशाली में ऐक्य माना जाता है।

व्याख्या 3

यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां सपष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्व व्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः।

संदभ – व्याख्या संख्या 1 के अनुसार।

प्रसंग

अज्ञान के स्वरूप की अनिर्वचनीयता को बताने के बाद सदानन्द अज्ञान के एकत्व तथा अनेकत्व की समस्या पर विचार करते हैं। उनका कथन है कि समष्टिरूप से व्यवहार करने पर अज्ञान एक कहा जाता है तथा व्यष्टि रूप से व्यवहार करने पर अनेक व्यवहृत होता है। प्रस्तुत पंक्तियों के उदाहरण के माध्यम से समष्टि अज्ञान के विषय में बताते हुऐ वे कहते हैं –

व्याख्या

जिस प्रकार वृक्षों को समूह या समष्टि के अभिप्राय से 'वन' इस एकत्वसूचक नाम से कहा जाता है या जैसे अनेक जलकणों को समष्टि के अभिप्राय से जलाशय कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक रूपों में प्रतीत होने वाले जीवगत अनेक अज्ञानों को समष्टि के अभिप्राय से एक कहा जाता है। 'अजामेकाम्' अर्थात जो अजन्मी तथा एक है ऐसी माया, इत्यादि श्रुति भो इस विषय में प्रमाण है।

अनेक वृक्षों का समूह एक साथ वन कह दिया जाता है। अनेक जलकणों का समूह एक साथ जलाशय कह दिया जाता है। अज्ञान भो अलग–अलग प्रतिभासित होने वाले जीवों की अलग–अलग उपाधि बनता है। अलग–अलग जीवों में स्थित यह अज्ञान समष्टि की दृष्टि से एक कहा जाता है। वास्तव में तो जीव ब्रह्म से अलग है ही नहीं, उनकी व्यवहार मात्र के लिये सत्ता है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह अनेक दिखाई देते हैं। उन सबमें स्थित अज्ञान भो अनेक प्रतीत होता है, किन्तु समूह की दृष्टि से उस अज्ञान को एक कहा जाता है। जैसे वृक्ष व वन में अभद है तथा जैसे जल व जलाशय में अभद है वैसे ही समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान में अभद है।

टिप्पणी – समष्टि – देखिए 8.4.2.1

नानात्वेन – व्यवहार की दृष्टि से अनेक जीव दिखाई देते हैं तथा उनके अलग अन्तःकरण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि दिखाई देती हैं।

प्रतिभासमानानां – ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ प्रातिभासिक है। अन्ततः केवल ब्रह्म शेष रहता है। जीव भो ब्रह्म ही है। स्वरूप ज्ञान होते ही वह ब्रह्मरूप से ही शेष रहता है। इस व्याख्या के लिए 8.4.2.1 तथा उसके उपखण्डों को देखिए।

व्याख्या 4

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति, तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्व व्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते'' इत्यादि श्रुतेः।

संदभ – व्याख्या सं0 1 के समान है।

प्रसंग – अज्ञान के एकत्व तथा अनेकत्व के प्रश्न पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि अज्ञान के एकत्व को दर्शाने वाले श्रुतिवाक्य सुनाई पड़ते हैं, तो उचित हो है, क्योंकि समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान को एक कहा जाता है। तो क्या अज्ञान के अनेकत्व को कहने वाली श्रुतियां असंगत हैं, ऐसा भो नहीं है। व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के अनेकत्व का कथन किया जाता है। अज्ञान के व्यष्टिरूप के विषय में सदानन्द कहते हैं –

व्याख्या

जिस प्रकार एक वन को व्यष्टि या ;व्यक्तिगतसत्ताद्ध के अभिप्राय से अनेक वृक्ष कह दिया जाता है अथवा जैसे जलाशय के लिए व्यष्टि का कथन करने के लिए 'अनेक जल' इस प्रकार का व्यवहार होता है, उसी प्रकार अज्ञान के विषय में व्यष्टि के अभिप्राय से उसकी अनेकता का कथन किया जाता है। इन्द्र अनेक मायाओं ;अज्ञानोद्ध से अनेक रूपों से युक्त प्रतीत होता है – इत्यादि श्रुति इस विषय में प्रमाण हैं।

यह उदाहारण स्पष्ट ही है। यदि 5000 वृक्षों के समूह को हम वन कहते हैं और कभो विशेष अध्ययन आदि की दृष्टि से अलग–अलग वृक्षों का उल्लेख किया जाता हैं, कि ये वट है, ये पीपल, ये अशोक, ये नीम, आदि। तब भो वे वृक्ष तथा वन के अर्न्तगत परिगणित वृक्ष एक ही रहते हैं। अलग–अलग कथन करने से वन तथा वृक्षों में कोई अन्तर नहीं आता। समूह रूप में जो वन हैं, पृथक–पृथक वे ही अनेक वृक्ष हैं। जलाशय अनेक

जलकणों का समूह है। एकसाथ कहना है तो जलाशय कहेगें, पृथक–पृथक व्यवहार करने की आवश्यकता हो तो जलकण कहेगें। अज्ञान जब एक साथ समस्त चैतन्य से प्रकाशित होता है तब वह समष्टि बुद्धि से एक अज्ञान कहलाता है। वही अज्ञान जब अलग–अलग चैतन्य प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने लगता है तो अनेक कहलाने लगता है। समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। जैसे पत्तों के बीच से आता हुआ एक प्रकाश ही अनेक रेखाओं में विभाजित जान पडता है। उसी प्रकार अनेक अज्ञानों से उपहित चैतन्य बिम्ब भो अनेक जीव–प्रतिबिम्बों के रूप में भासित होता है जैसे एक सूर्य अनेक लहरों पर अनेक प्रतिबिम्बों के रूप में दिखाई देता है। सूर्य तो एक है किन्तु उसके बिम्ब को ग्रहण वाली उपाधि रूप लहरें अनेक हैं। अतः सूर्य भो प्रतिबिम्ब रूप से अनेक भासित होता है। जैसे एक सरोवर के समूहबद्ध जल को हम अनेक लहरों के रूप में देखते हैं, वैसे ही एक अज्ञान को हम व्यष्टि रूप से अनेक रूपों में देखते हैं। अलग–अलग लहर तुल्य अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान अनेक जीवों के रूप में भासता है।

टिप्पणी –

व्यष्टि

वि उपसर्ग पूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके व्यष्टि शब्द निष्पन्न होता ह, जिसका तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाला। निखिलानन्द के अनुसार व्यष्टि है –

"The seperate unit which constitutes the aggregate."

अर्थात वह पृथक इकाई जो मिलकर समूह बनाती है।

व्याख्या 5

एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वन वृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय जलगत प्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि श्रुतेः।

संदभ – पूर्ववत्।

प्रसंग – अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि अवस्थाओं को स्पष्ट करने के बाद सदानन्द ने समझाया कि समष्टि व व्यष्टि अज्ञान में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। यहाँ इन पंक्तियों में वे स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि समष्टि अज्ञान स उपहित चैतन्य ईश्वर तथा व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य प्राज्ञ दोनों में कोई स्वरूपगत अन्तर नहीं है। दृष्टान्त से इस अभद को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं –

व्याख्या

इन समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान रूपी उपाधियों से युक्त चैतन्य ईश्वर तथा प्राज्ञ में भो उसी प्रकार भद नहीं है जिस प्रकार वन तथा वृक्षों से अवच्छिन्न आकाश में या जलाशय या जल में प्रतिबिम्बित आकाश में अभद है। 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि श्रुति इस विषय में प्रमाण है।

समष्टि अज्ञान में चैतन्य एक रूप में प्रतिबिम्बित होता है, व्यष्टि अज्ञान में वही चैतन्य अनेक रूपों में दिखाई देता है। वास्तव में न समष्टि व्यष्टि अज्ञान में भद हैं, न ही उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर तथा प्राज्ञ में भद है। जैसे आकाश अनन्त तथा सर्वव्यापक है। वन भो उसी आकाश को अवच्छिन्न करके ;घेरकर, रोककरद्ध स्थित है तथा अलग–अलग वृक्ष भो उसी आकाश को अविच्छन्न किए हुए हैं। चाहे वनावच्छिन्न आकाश को देखें या वृक्षावच्छिन्न आकाश को दोनों में कोई भद नहीं है, इसी प्रकार समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य हो या व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य, उस सर्वव्यापक, अनन्त चैतन्य में कोई भद नहीं होता। जैसे व्यक्ति जमीन पर चारदीवारी बनाकर उसके टुकडे कर देता है, पर क्या जमीन वास्तव में बंट जाती है, पूरी पृथ्वी तो सदा एक ही है। यह सब विभाजन तो व्यवहारगत सुविधा के लिए हैं। एक भ्कम्प या बाढ़ पुनः सबकुछ एक रूप में दर्शाने के लिए पर्याप्त है। बस चैतन्य रूपी भ्मि पर अज्ञान रूपी दीवारें हैं। ज्ञान का धक्का सब दीवारें गिरा देता है। उन दीवारों पर टिकी जगत् प्रपंच की छत भो नीचे आ गिरती है। केवल चैतन्य रूपी भ्मि ही शेष रहती है।

जलाशय में सम्पूर्ण आकाश एक रूप में प्रतिबिम्बित होता है। जलाशय का जल अनेक पात्रों में अलग–अलग रखें तो उन सबमें आकाश अलग–अलग प्रतिबिम्बित होगा तथा प्रतिबिम्ब रूप में अनेक प्रतीत होगा। न तो जलाशय या पात्रों के जल में कोई भद है, न ही उनमें प्रतिबिम्बित आकाश में। अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होने पर भो आकाश एक ही रहता है। जल की अनेकता भो पात्रों के कारण है। पुनः जलाशय में डाल देने पर वह जल पुनः एकाकार दिखाई देता है। इस दृष्टान्त से भो स्पष्ट है कि समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान तथा ईश्वर व प्राज्ञ का भद केवल प्रतीति मात्र है। वस्तुतः तो दोनों में अभद है।

टिप्पणी

ईश्वर – देखिए 8.4.2.1.2

प्राज्ञ – देखिए 8.4.2.2.2

समष्टि – देखिए 8.4.2.1

व्यष्टि – देखिए व्याख्या सं0 4 की टिप्पणी

अज्ञान – देखिए 8.5.1

व्याख्या 6

वन

वृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽधारभ्तानुपहिताकाशवदनयोरज्ञान तदुपहित – चैतन्ययोरा – धारभ्तं यदनुपहितचैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादि श्रुतेः।

संदभ – पूर्ववत।

प्रसंग – समष्टि अज्ञान व व्यष्टि अज्ञान तथा उससे उपहित चैतन्य ईश्वर तथा प्राज्ञ के अभद को स्पष्ट करने के बाद इन पंक्तियों में ईश्वर तथा प्राज्ञ का उनके आधारभ्त उपाधि रहित शुद्ध चैतन्य से अभद बताते हैं। इस अभद को स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं –

व्याख्या

जिस प्रकार वन व वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न आकाश, जलाशय व जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश सबका आधार उपाधि रहित महाकाश है, उसी प्रकार समष्टि अज्ञान व व्यष्टि अज्ञान तथा इन दोनों उपाधियों से उपहित चैतन्य ईश्वर तथा प्राज्ञ का आधार निरूपाधि शुद्ध चैतन्य है। उस शुद्ध चैतन्य को ही तुरीय नाम से कहा जाता है। श्रुतिवचन भो है, 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' अर्थात अद्वैत ब्रह्म को चतुर्थ या तुरीय मानते हैं।

आकाश सर्वत्र व्याप्त है तथा उसका विभाजन सम्भव नहीं है। वन व वृक्ष उसकी उपाधियां मात्र हैं, जो उसे अवच्छिन्न करती हुई प्रतीत होती हैं। आकाश तो सदा एक ही रूप में रहता है। वन–वृक्ष रूपी उपाधि के हट जाने पर शुद्ध आकाश शेष रह जाता है। इसी प्रकार जलाशय व जल में प्रतिबिम्बित आकाश का बिम्बाकाश एक ही है। जलाशयजल रूपी उपाधि के हट जाने पर बिम्बरूप वह माहाकाश ही शेष रहता है। इन उपाधियों तथा उनसे अवच्छिन्न तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश का आधार महाकाश है। इसी प्रकार समष्टि अज्ञान तथा व्यष्टि अज्ञान व इन उपाधियों से युक्त ईश्वर तथा प्राज्ञ का आधार शुद्ध निरूपाधि चैतन्य है। ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान रूपी उपाधि तिरोहित हो जाती है तथा उपाधि के कारण जो शुद्ध चैतन्य ईश्वर तथा प्राज्ञ रूप में प्रतीत होता है, वह अपने शुद्ध सच्चिदानन्द रूप से शेष रह जाता है। इस शुद्ध चैतन्य को तुरीय कहा गया है। यही ईश्वर तथा प्राज्ञ का आधार है। वस्तुतः ईश्वर तथा प्राज्ञ अज्ञानोपाधि के कारण प्रतीत होने वाली सत्ताएं मात्र हैं।उपाधि के हटते ही शुद्ध चैतन्य मात्र सुशोभित होता है।

टिप्पणी – वनवृक्षावच्छिन्नाकाश – देखिए व्याख्या संख्या 5

जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाश – देखिए व्याख्या संख्या 5

आधरभ्तानुपहिताकाशवद् – अनुपहिताकाशवद् का अर्थ है घटाकाश जलाशयाकाशादि उपाधियों से रहित आकाश के समान। इसे आधारभ्त इसलिए कहा गया है क्योंकि यद्यपि आकाश न तो जल–जलाशयों का तथा न वन–वृक्षों का आधार है, फिर भो आकाश के

बिना इन सबकी स्थिति नहीं हो सकती। अतः व्यावहारिक दृष्टि से वह इन सबका आधार है।

समष्टि, व्यष्टि, ईश्वर, प्राज्ञ इन सब पर पहले टिप्पणी की जा चुकी है।

तुरीयम् – 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' वार्तिक से चतुर शब्द से तुरीय शब्द बनता है तथा 'चतुर्थ' अर्थ का बोधक होता है। प्राज्ञ, तैजस् तथा विश्व की अपेक्षा चतुर्थ होने के कारण ब्रह्म को तुरीय कहते हैं। किन्हीं के अनुसार सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत तीनों अवस्थाओं से पृथक चतुर्थ होने के कारण तुरीय कहलाता है।

8.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. **जीवन्मुक्त** – जिसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो गया हो, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने के कारण शरीर धर्म का निर्वाह करना पड़ रहा हो। जीवन्मुक्त कमफल समाप्त होने पर शरीर त्यागकर विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है।
2. **कूटस्थ** – का तात्पर्य है – जिसमें कभी कोई परिर्वतन नहीं होता।
3. **सांख्य** – एक अत्यन्त प्राचीन आस्तिक दर्शन है। अद्वैत वेदान्त से भिन्न यह दर्शन दो पारमार्थिक सत्ताओं प्रकृति तथा पुरूश में विश्वास करता है। अतः द्वैतवादी दर्शन है।
4. **त्रिगुणात्मक** – सत्व, रजस्, तथा तमस् से बना हुआ। ये तीन अज्ञान के गुण नहीं हैं, अपितु स्वरूप हैं। तीनों गुणों को मिला देने पर सम्मिलित रूप से उन्हें अज्ञान कहते हैं।
5. **अतिव्याप्ति** – जिसका लक्षण किया जा रहा है, उसके अतिरिक्त पदार्थों पर भी लक्षण का लागू हो जाना अतिव्याप्ति है। यदि गाय का लक्षण किया जाए 'सींग वाला पशु गाय होता है'' तो यह लक्षण सींग वाले सभी पशुओं पर लागू हो जाएगा। यह इसकी अन्य पशुओं में अतिव्याप्ति है।
6. **आत्मसाक्षात्कार** – वस्तुतः आत्मा का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। यह केवल व्यवहारिक प्रयोग है। द्रष्टा तथा दृष्य एक ही होने के कारण आत्मा की केवल अनुभूति सम्भव है, साक्षात्कार नहीं।
7. **प्रमाण** – प्रमाकरणं प्रमाणम् जो प्रमा अर्थात यथार्थ ज्ञान का करण अर्थात सार्वोत्कृष्ट साधन है उसे प्रमाण कहते हैं।
8. **माया** – समष्टि अज्ञान को माया कहते हैं।
9. **अविद्या** – व्यष्टि अज्ञान को अविद्या कहते हैं।
10. **उपादानकारण** – उपादानकारण उसे कहते हैं जो कार्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, कार्य की स्थिति जिस पर निर्भर होती है या जिससे कार्य का निर्माण होता है। जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण है।
11. **निमित्तकारण** – वह है जो उपादान कारण से कार्य उत्पन्न करने में सहायक होता है। जैसे कुम्हार घड़े का निमित्तकारण है।
12. **तैजस्** – व्यष्टि सूक्ष्म शरीर उपाधि से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने के कारण तैजस् कहलाता है।
13. **विश्व** – व्यष्टि स्थूल शरीर उपाधि से उपहित चैतन्य सूक्ष्म शरीरों को त्यागे बिना ही स्थूल शरीरों में प्रवेश करने क कारण विश्व कहलाता है।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

क. लगभग 20 शब्दों में उत्तर दीजिए :–

1. ब्रह्म जगत् के रूप में कैसे प्रतिभासित होने लगता है ?
2. ब्रह्म गुरु अधिकारी को क्या उपदेश देता है ?
3. अध्यारोप किसे कहते हैं ?
4. वस्तु किसे कहते हैं ?
5. अवस्तु क्या है ?
6. अपवाद का क्या अर्थ है ?

7. पारमार्थिक सत्ता किसे कहते हैं ?
8. प्रातिभासिक सत्ता किसे कहते हैं ?
9. व्यावहारिक सत्ता का क्या तात्पर्य है ?
10. विवर्त किसे कहते हैं ?
11. विकार या परिणाम किसे कहते हैं ?
12. अज्ञान क्या है ?
13. समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को क्या कहते हैं ?
14. व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को क्या नाम दिया है ?
15. अज्ञान की दोनों शक्तियां कौन सी हैं ? उनका संक्षिप्त परिचय दीजिए।

ख. लगभग 150 शब्दों में उत्तर दीजिए :–

1. अध्यारोप के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. अपवाद किसे कहते हैं ?
3. वेदान्त के कारण कार्य–सिद्धान्त का परिचय दीजिए।
4. अज्ञान की शक्तियों का परिचय दीजिए।

ग. लगभग 500 शब्दों में उत्तर दीजिए :–

1. अध्यारोप व अपवाद को विस्तार से समझाइये।
2. अज्ञान के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. ईश्वर तथा प्राज्ञ पर टिप्पणी लिखिए।

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

क.

1. देखिए – प्रस्तावना
2. देखिए – 8.2
3. देखिए – 8.2.1 का दूसरा पैरा
4. देखिए – 8.2.2
5. देखिए – 8.2.3
6. देखिए – 8.3.1
7. देखिए – 8.3.2.1
8. देखिए – 8.3.2.2
9. देखिए – 8.3.2.3
10. देखिए – 8.3.2.3
11. देखिए – 8.3.2.3
12. देखिए – 8.4.1
13. देखिए – 8.4.2.1.2
14. देखिए – 8.4.2.2.2
15. देखिए – 8.5, 8.5.1, व 8.5.2

ख.

1. देखिए – 8.2, 8.2.1, 8.2.2, 8.2.3
2. देखिए – 8.3, 8.3.1
3. देखिए – 8.3.2, 8.3.2.1, 8.3.2.2, 8.3.2.3
4. देखिए – 8.5 व 8.5.1 व 8.5.2

ग.

1. देखिए – 8.2, 8.2.1, 8.2.2, 8.2.3, 8.3.1, 8.3.2 च उसके उपभाग।
2. देखिए – 8.4 व उसके भाग व उपभाग।
3. देखिए – 8.4.2.1.2, 8.4.2.1.3, 8.4.2.2.2, 8.4.2.2.3

8.10 सारांश

इस इकाई में हमने वेदान्तसार के अनुसार अज्ञान अद्यारोप अपवाद आदि के विषय में विशद ज्ञान प्राप्त किया है ।अध्यारोप' तो वस्तु पर अवस्तु का आरोप है तथा इसी कारण ब्रह्म समस्त जड़ जगत् के रूप में आभासित होता है, किन्तु अन्तिम सत्त तो ब्रह्म की ही है, इस संसार में जन्म लेकर हम जगत् के विभिन्न विषयों का उपभोग करते हैं। इस नामरूपात्मक प्रत्यक्ष जगत् को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता। जगत् के विभिन्न पदार्थ निरन्तर नवीन रूपाकारों को धारण करत रहते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर प्रतीत होता है कि मूल द्रव्य ही सत्य है। वेदान्त के अनुसार अध्यारोप ही जगत् की प्रतीति का कारण है तथा अध्यारोप का निराकरण या अपवाद ही मोक्ष है। इस अध्यारोप का जो कारण है, वह है अज्ञान। समष्टि रूप में अज्ञान को एक तथा व्यष्टिभावना से उसे अनेक कहा जाता है।

8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन,आचार्य उमेशमिश्र,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,1958.
2. भारतीय दर्शन,डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1985.
3. भारतीय दर्शन,आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1942.
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा,एम. हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973.
5. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968.
6. सदानन्द योगीन्द्रकृत वेदान्तसार – (सम्पादक) डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.

इकाई–9

सृष्टि प्रक्रिया एवं पंचीकरण (वेदान्तसार)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 सृष्टि प्रक्रिया
9.2.1 जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण ईश्वर
9.2.2 पंचतन्मात्र की उत्पत्ति
9.3 पंचतन्मात्र से सूक्ष्म शरीर– सृष्टि
9.3.1 सूक्ष्म शरीर के 17 अवयव
9.3.1.1 पंचज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि एवं मन
9.3.1.2 पंचकर्मेन्द्रिय
9.3.1.3 पंचवायु
9.4 सूक्ष्मशरीर
9.4.1 समष्टिसूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य सूत्रात्मा
9.4.2 व्यष्टिसूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य तैजस
9.4.3 समष्टि–व्यष्टि उपाधि तथा उपहित चैतन्यों में अभद
9.4.4 सूक्ष्मशरीर के त्रिविधकोश
9.5 पंचीकरण
9.5.1 पंचस्थूलभ्त की उत्पत्ति
9.5.2 पंचीकरण का प्रामाण्य
9.5.3 स्थूलभ्तों में गुणों की अभिव्यक्ति एवं नामकरण
9.6 पंचीकृतभ्तों से स्थूल– सृष्टि
9.6.1 सप्त ऊर्ध्वलोक
9.6.2 सप्त अधोलोक
9.6.3 चतुर्विधस्थूल शरीर
9.7 स्थूल शरीर
9.7.1 समष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य वैश्वानर
9.7.2 व्यष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य विश्व
9.7.3 स्थूल शरीर का अन्नमयकोश
9.7.4 समष्टि–व्यष्टि उपाधि तथा उपहित चैतन्यों में अभद
9.8 पारिभाषिक शब्दावली
9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.10 सारांश
9.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 उद्देश्य

एम.ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन की नवीं इकाई में आप वेदान्तसार पर आधारित सृष्टिप्रक्रिया एवं पंचीकरण का अध्ययन करेंगे। इससे पूर्व की इकाईयों में आप वेदान्त का सामान्य परिचय एवं प्रमुख ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं तथा वेदान्तसार में प्रतिपादित अनुबन्धचतुष्टय, अज्ञान, अध्यारोप, अपवाद का ज्ञान भो प्राप्त कर चुके हैं। समष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर तथा व्यष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य प्राज्ञ की जानकारी कर चुके हैं। विशुद्ध सत्त्वप्रधान समष्टि अज्ञान रूप कारण शरीर ;आनन्दमयकोश, सुषुप्ति, स्थूलसूक्ष्मप्रपंचलयस्थानद्ध उपाधि के बारे में समझ चुके हैं साथ ही मलिन सत्त्वप्रधान व्यष्टि अज्ञान रूप कारणशरीर ;आनन्दमयकोश, सुषुप्ति, स्थूलसूक्ष्मप्रपंचलयस्थानद्ध

उपाधि का निरूपण पढ चुके हैं। इस इकाई में वेदान्त सम्मत सृष्टि प्रक्रिया एवं पंचीकरण प्रक्रिया पर विचार किया जाएगा। इस इकाई के उद्देश्य हैं –

1. आप पंचतन्मात्र की उत्पत्ति के सिद्धान्त को जान सकें।
2. आप सूक्ष्मशरीर और उसके 17 अवयवों को समझ सकें।
3. कोशत्रय का ज्ञान प्राप्त कर सकें।
4. पंचीकरण प्रक्रिया के तहत पंचतन्मात्र से पंचस्थूलभ्तों की उत्पत्ति का विवरण जान सकें।
5. स्थूलशरीर की सृष्टि को विस्तार से समझ सकें।

9.1 प्रस्तावना

वेदान्तदर्शन में ब्रह्म को अनुपहित चैतन्य कहा गया है अर्थात् ब्रह्म का कोई औपाधिक शरीर नहीं है। वह सत्–चित्–आनन्दरूप है यही उसका स्वरूप लक्षण है किन्तु ब्रह्म जगत् का कारण है यह उसका तटस्थ लक्षण है अर्थात् अज्ञान या माया की उपाधि से उपहित होने पर ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होना ही जगत् की सृष्टि है। अंधकार के कारण रस्सी की प्रतीति नहीं होने से उसमें सर्प की सृष्टि होती है और उससे भय का व्यवहार भो होता है तथैव अज्ञान उपाधि ;माया, कारणशरीरद्ध के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति जगत् की सृष्टि है जो सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर के रूप में व्यवहृत होती है।

वास्तव में ब्रह्म न तो ईश्वर या प्राज्ञरूप अज्ञानोपहित चैतन्य है न सूत्रात्मा और तैजसरूप सूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य है, न ही वैश्वानर और विश्वरूप स्थूलशरीरोपहित चैतन्य है इसलिये उसे इन तीनों से परे चतुर्थ तुरीय संज्ञा से जाना जाता है किन्तु सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत तीनों अवस्थाओं में उपर्युक्त उपहित चतन्यों के अनुभव का आधार चेतन ब्रह्म ही रहता है अतः सृष्टि का कारण ब्रह्म को मान लिया जाता है जैसे रस्सी को ;उसमें दिखने वालेद्ध सर्प का कारण मान लिया जाता है।

पूर्व इकाईयों में इस प्रस्तावना को आप भलीभाँति पढ चुके हैं। अब इस नवीं इकाई में आप सदानन्द योगीन्द्र विरचित वेदान्तसार पर आधारित ''सृष्टि प्रक्रिया एवं पंचीकरण'' का अध्ययन करेंगे।

9.2 सृष्टिप्रक्रिया

ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ईश्वर सविशेष ब्रह्म भो कहा जाता है। ईश्वर सर्वज्ञ है। सर्वव्यापक, स्वतन्त्र, एक व अन्तर्यामी है। ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया में पडता है तब वह ईश्वर हो जाता है। शंकर के अनुसार मायोपहित ब्रह्म ईश्वर है। ईश्वर माया के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है। माया ब्रह्म की शक्ति है, जिसके कारण वह विश्वप्रपंच की सृष्टि करता है। ईश्वर विश्व का प्रथम कारण है, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। वेदान्त में इस निर्गुण, निरवयवी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, नित्य, चैतन्य, ब्रह्म का दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है– व्यावहारिक दृष्टि से तथा पारमार्थिक दृष्टि से–

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते– नामरूपविकारभेदोपाधि–
विशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।।

व्यावहारिक दृष्टि अथवा तटस्थ लक्षण से तात्पर्य है– ब्रह्म के उस स्वरूप से जिसमें ब्रह्म को जगत् का उत्पन्नकर्ता, पालक तथा संहारक आदि रूपों में देखा जाता है। यह लक्षण उसके केवल अवस्थागत गुणों का निर्देश करता है– यथा कोई व्यक्ति रंगमंच पर किसी पात्र के अभिनय करने से कुछ काल तक उसी पात्र विशेष के रूप में सम्बोधित किया जाता है किन्तु अभिनय अवधि के उपरान्त वह अपने यथार्थ रूप में सम्बोधित किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भो अपने यथार्थ स्वरूप में निर्गुण सत् चित् तथा आनन्द रूप है। वास्तव में तो

ब्रह्म के वास्तविक रूप का वर्णन असम्भव है। वह अति विलक्षण है, मन और वाणी की सीमा से परे है। श्रुति कहती है–

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।।

अर्थात् जिसे वाणी और मन से नहीं जाना जा सकता या जिसका वर्णन करने में वाणी और मन असमर्थ हैं। ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानकर जीव भयभोत नहीं होता। अज्ञान से आवृत्त ब्रह्म ईश्वर संज्ञा प्राप्त करता है। वही सृष्टि का निमित्त व उपादान कारण बनता है। अज्ञान की आवरण शक्ति से आवृत्त सच्चिदानन्द ब्रह्म आत्मा में अज्ञान की विक्षेप शक्ति सेआकाशादि सूक्ष्म तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। उनसे सूक्ष्मशरीर व स्थूलशरीर निर्माण की प्रक्रिया का विवेचन विस्तार से किया गया है। हम इस इकाई में इन सब पर चर्चा करेंगे।

9.2.1 जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण ईश्वर

इश्वर रूप ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि करता है। वेदान्त में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म पर विचार किया गया है और पारमार्थिक ब्रह्म परब्रह्म एवं व्यावहारिक ब्रह्म अपरब्रह्म कहा जाता है। परब्रह्म वेदान्त का निर्गुण निरूपाधिक ब्रह्म है किन्तु अपरब्रह्म उपाधिकृत सगुण है। उपाधियुक्त सगुण सविशेष ही ईश्वर कहा जाता है। स्वयं में निष्क्रिय, निरवयवी, निःप्रपंच ब्रह्म जिस क्षण अपनी वर्णनातीत, विलक्षण, माया नाम्नी शक्ति से उपहित हो जाता है उसी क्षण वह ईश्वर संज्ञा वाला हो जाता है। माया की समष्टि उपाधि उत्कृष्ट व विशुद्धसत्त्वप्रधान कही गई है। इससे उपहित चतन्य ही ईश्वर कहा जाता है। सदानन्द कहते हैं–

एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात् यः सर्वज्ञः सर्ववित्। इति श्रुतेः।।

अर्थात् माया (अज्ञान) की इस उत्कृष्ट उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञता, सबका ईश्वर तथा सर्वनियन्ता आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्यामी, संसार का कारणरूप तथा ईश्वर आदि नामों से कहते हैं। जो सर्वज्ञाता, सर्ववित् है श्रुति कहती है कि यह सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशयिता है।

समष्टिगत अज्ञान की उत्कृष्ट उपाधि से युक्त परमात्मा के लिये ष्उपहितम्ष यह विशषण प्रयुक्त हुआ है। वह ईश्वर सब पर नियन्त्रण करने वाला है इसी को श्रुति भो कहती है– एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। अर्थात् वह आत्मा भोतर से नियन्त्रण करने वाला है।

ईश्वर की यह समष्टि सबका मूल कारण होने से कारणशरीर, आनन्द का प्राचुर्य होने के कारण तथा समष्टिभत् अज्ञानात्मा का कोश के समान आच्छादक होने के कारण आनन्दमयकोश तथा सूक्ष्म एवं स्थूल जगत्प्रपंच के लयस्थान होने के कारण सुषुप्ति कहलाती है।

सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण दोनो ही ईश्वर है। अपने चैतन्य अंश की प्रधानता से निमित्त कारण और माया (अज्ञान) की सहायता से जगत् का स्रष्टा होने से उपादान कारण भो है। वेदान्त में मकडी के उदाहरण के माध्यम से समष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण सिद्ध किया गया है–

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरं प्रधानतयोपादानं च भवति।

जिस प्रकार अपने शरीर की प्रधानता के कारण मकडी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है तथा अपने चैतन्यांश की प्रधानता से निमित्त कारण। उसी प्रकार अज्ञान की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर अपनी प्रधानता से तो जगत् का निमित्त कारण बनता है तथा माया की प्रधानता से उपादान कारण। जब ब्रह्म जगत् का उपादान कारण बनता है तो उसकी ईश्वर संज्ञा होती है। यदि

मकडी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नहीं बन सकता और शरीर न हो तो केवल चैतन्य से भो तन्तु नहीं बन सकता। अतः जाल रूपी कार्य में मकडी की चेतनता व उसका शरीर दोनों ही कारण हैं। लेकिन चैतन्यांश से वह निमित्त कारण व शरीर प्राधान्य से उपादान कारण है। इसी प्रकार ईश्वर भो अपने चैतन्य प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण है तथा अज्ञानरूप उपाधि की प्रधानता क कारण उपादान कारण भो है। संसार अज्ञानोत्पन्न है अतः अज्ञान संसार का उपादान कारण है। मकडी की भाँति ईश्वर बिना किसी साधन के ही अपनी माया के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक स्थूल जगत् की सृष्टि कर देता है। अतः ईश्वर उपादान कारण है।

9.2.2 पंचतन्मात्र की उत्पत्ति

जैसा कि आप जानते हैं अज्ञान की दो शक्तियां है– आवरण व विक्षेप। सदानन्दयोगीन्द्र ने कहा है– अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्मित शक्तिद्वयम्। ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत्त करने वाली शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। यह उसी प्रकार असीमित, अजन्मा और असांसारिक आत्मा को आवृत्त करती है जैसे छोटे से मेघ का टुकडा द्रष्टा की दृष्टि को ढककर सैकडों योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को आच्छादित कर लेता है। जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है, उसी भांति वह मुक्त ब्रह्म भो अज्ञानी लोगों को जन्म मरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है। वास्तविक रूप से वह अज्ञान आत्मा के स्वरूप को नहीं ढकता अपितु प्रमाता की बुद्धि को ढकता है और अज्ञान की आवरण शक्ति के प्रभाववश वह मुक्त भो आत्मा बद्ध सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आत्मा बन्धन व मोक्ष से परे है। विक्षेप शक्ति के द्वारा अज्ञानावृत्त आत्मा में ही आकाशादि प्रपंच की उद्भावना होती है जैसे अज्ञानाच्छादित रज्जु में सर्प की उद्भावना। अतः विक्षेपशक्ति ही लिंग शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त संसार की रचना करती है। इसी को सदानन्द योगीन्द्र भो कहते हैं– विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपंचादिमुद्भावयति तादृश सामर्थ्यम्।

अर्थात् विक्षेप शक्ति तो वह है जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादित रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि की उद्भावना करती है उसी के समान अज्ञान भो अज्ञानावृत्त आत्मा में ही अपनी विक्षेप शक्ति से आकाशादि प्रपंच की उद्भावना करता है। श्रुतिवचन भो है– विक्षेपशक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति। अर्थात् विक्षेपशक्ति ही लिंगशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् की सृष्टि करती है।

आकाशादि सूक्ष्म तन्मात्राओं के कारणभ्त अज्ञान में तमोगुण का प्राधान्य होता है किन्तु सत्व व रजोगुण भो विद्यमान रहते है और तमोगुण इन दोनों को अभिभ्त किये रहता है। इसी से इसे तमः प्रधान कहा जाता है। वेदान्ती आकाशादि को नित्य नहीं मानते अपितु उत्पद्यते के द्वारा उत्पन्न होने वाला मानते हैं। और अपने प्रमाण में श्रुति उपस्थित करते हैं– तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भ्त। पृथ्वो आदि के समान आकाश भो महत् युक्त होने से भ्त है इसलिये उत्पन्न होता है।

पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति का कारण अज्ञान की विक्षेपशक्ति है। तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान की उपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। जैसा कि वेदान्तसार में कहा गया है–
तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायो –रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते।

उन आकाशादि में जड़ता या चैतन्य का अभाव अधिक साक्षात् दिखाई देता है, अतः उनके कारणस्वरूप अज्ञान में भो जड़ता होना स्वाभाविक है। उपादान कारण के सत्व, रजस् व तमोगुण कार्य में विद्यमान रहते हैं लेकिन तीनों गुण न्यूनाधिक्य रूप से विद्यमान रहते हैं। आकाशादि में तमोगुण की प्रधानता के कारण अन्य गुण अभिभ्त रहते हैं। जैसा कि कहा

है– तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते।

अर्थात् उसमें जड़ता अधिक दिखाई देने के कारण तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य ही उसका कारण है। उस समय उन्हीं आकाशादि पंचतन्मात्र में अपने कारण के गुणों के आधार पर सत्त्व, रजस् और तम को उत्पत्ति होती है।

यहाँ कारणगुणप्रक्रमेण से तात्पर्य है कि कारण ही भिन्न कार्यों की आकृति में स्थित होता है, इसलिये कारण स्थित गुण कार्य में भो अनुविद्यमान रहते हैं। कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।

विक्षेप शक्ति से उपहित चैतन्य द्वारा उत्पन्न ये आकाशादि सूक्ष्मभ्त, तन्मात्रा और अपंचीकृत कहे जाते है। सदानन्दयोगीन्द्र कहते हैं– एतान्येव सूक्ष्मभ्तानि तन्मात्राण्यपंचीकृतानि चोच्यन्ते।

जो स्थूलभ्तों की अपेक्षा सूक्ष्म कहे जाते हैं तथा जाग्रत अवस्था में व्यवहारोचित नहीं होते, वे सूक्ष्मभ्त कहलाते हैं। ये दूसरे भ्तों में सम्मिश्रित नहीं होते तथा अपने विशुद्ध स्वरूप में होते हैं। सूक्ष्मदशा में आकाश में केवल शब्द तन्मात्र, वायु में केवल स्पर्श, तेज में केवल रूप, जल में केवल रस और पृथ्वी में केवल गन्ध ही रहता है। जब इन पाँचों सूक्ष्मभ्तों का पंचीकरण हो जाता है तब ये स्थूलत्व को प्राप्त कर प्रत्येक पंचात्मक हो जाते हैं।

9.3 पंचतन्मात्र से सूक्ष्मशरीर सृष्टि

जैसा कि आप समझ चुके हैं कि अज्ञान की विक्षेप शक्ति से उपहित चैतन्य से आकाशादि पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से ही सूक्ष्मशरीर निर्मित होता है। यह सूक्ष्म शरीर ही लिंग शरीर कहलाता है क्योंकि इनके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है। इसकी लिंगशरीर संज्ञा होने का कारण बताते हुए लिखा है–

लिङ्ग्यतें ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि।
लिङ्गानि च तानि शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि।।

अर्थात् इनके द्वारा प्रत्यगात्मा का ज्ञापन होता है। ये उसे ज्ञापित करते हैं इसलिए ये लिंगशरीर कहलाते हैं।

9.3.1 सूक्ष्म शरीर के 17 अवयव

वेदान्त के अनुसार इस लिंगशरीर के सतरह (17) अवयव कहे गए हैं– सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि। अर्थात् सूक्ष्मशरीर के सतरह अवयव हैं, ये ही लिंगशरीर हैं। वेदान्त लिंग शरीर में सतरह अवयव मानता है जबकि सांख्य अठारह अवयव मानते हैं। वे वेदान्त के सतरह अवयवों के अतिरिक्त अहंकार को भो इसके अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। ये सतरह अवयव हैं– अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं, बुद्धिमनसो, कर्मेन्द्रियपंचकं, वायुपंचकञ्चेति।

अर्थात् वे अवयव हैं– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण।

9.3.1.1 पंचज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि एवं मन

पंचज्ञानेन्द्रिय

पंचज्ञानेन्द्रियां आकाशादि में स्थित सत्त्वगुणांश से क्रमानुसार अलग अलग उत्पन्न होती हैं। अर्थात् आकाश के सत्त्वगुणांश से श्रोत्र, वायु के सत्त्वगुणांश से त्वक्, तेज के सत्त्वगुणांश से चक्षु, जल के सत्त्वगुणांश से रसना तथा पृथ्वी के सत्त्वगुणांश से घ्राण उत्पन्न होती है। सदानन्द योगीन्द्र ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि ये ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि के सात्विक अंशों से पृथक् पृथक् उत्पन्न होती हैं– **एतान्याकाशादीनां सात्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् –पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।**

ये ज्ञानेन्द्रिया पाँच कही गई हैं– **ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि।**

श्रोत्र का कार्य श्रवण, त्वक् का स्पर्श, चक्षु का दर्शन, जिह्वा का स्वाद, घ्राण का गन्ध ग्रहण करना है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इनके विषय हैं। ये इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं किन्तु कभो कभो आन्तरिक विषयों को भो ग्रहण करती हैं।

बुद्धि व मन

निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि है। सदानन्द के अनुसार बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। आन्तरिक विचारों की करणभ्त इन्द्रिय अन्तः इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहलाती है। इसी अन्तरिन्द्रिय में मैं ब्रह्म हूँ जब इस भाँति निश्चययुक्त वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे बुद्धि कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति के दो रूप हैं– निश्चयात्मक एवं संशयात्मक। निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि है और संशयात्मक वृत्ति मन। जैसा कि कहा है– मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। अर्थात् संकल्प और विकल्प करने वालो अन्तःकरण की वृत्ति मन है। आन्तरिक भावनाओं की करणभ्त इन्द्रिय अन्तःकरण में जब मैं चिद्रूप हूँ या मैं देह हूँ इस प्रकार संशयात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तो इसे मन कहते हैं।

इसके अतिरिक्त चित्त एवं अहंकार को मानने वालों के लिए सदानन्द योगीन्द्र कहते हैं कि चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव बुद्धि एवं मन में ही हो जाता है। उनके अनुसार अनुसन्धानकर्त्री अन्तःकरण की वृत्ति चित्त है– अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्। आन्तरिक विषयों के ग्रहण कर्त्ता अन्तःकरण में जब अनुसन्धानयुक्त अर्थात् स्मरणात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है तो वह चित्त कहलाती ह। स्मरणात्मिका चित्तवृत्ति निश्चयरूप ही होती है, अतः इसका अन्तर्भाव बुद्धि में होता है और अभिमान करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार कहलाती है। यथा– अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः। अन्तःकरण में जब मैं निपुण हूँ इस प्रकार की गर्वयुक्त वृत्ति उत्पन्न होती है तो अहंकार कहलाती है। अहंकार के संकल्परूप होने से इसका अन्तर्भाव मन के अन्तर्गत हो जाता है। ये चारों आकाशादि के सात्त्विकांशों के मिश्रित अंशों से उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा है– एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।

मन, बुद्धि और इनमें अन्तभ्त चित्त व अहंकार ये सभो ज्ञानेन्द्रियों के साथ आवश्यक हैं इनके सहयोग के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होतीं। इसलिये ये पाँचों भ्तों के मिले हुए अंशों से उत्पन्न कहे गए हैं। इन चारों का कार्य विषयों को प्रकाशित करना है अतः ये सात्त्विक अंशों से उत्पन्न कही जाती हैं– एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्। सत्त्वगुण का कार्य प्रकाशन कहा गया है, अतः प्रकाशन करने के कारण ही इन्हें सत्त्वांश से उत्पन्न कहा गया है। पंचज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि विज्ञानमयकोश कहलाती है। इसे कतृत्व– भोक्तृत्व–सुखी–दुःखी आदि का अनुभवकर्ता होने से इहलोक– परलोकगामी 'जीव' कहा जाता है तथा मन ज्ञानेन्द्रियों सहित मनोमयकाश कहलाता है।

9.3.1.2 पंचकर्मेन्द्रिय

कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं– वाक्, पाणि, पाद, पायु व उपस्थ। इनका नामतः उल्लेख करते हुए सदानन्द कहते हैं– कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। ज्ञानेन्द्रिया पंचभ्तों के सत्त्वांश से उत्पन्न होती है जबकि कर्मेन्द्रियां पंचभ्तों के रजोऽश से पृथक् पृथक् क्रमशः उत्पन्न होती हैं।

वेदान्तसार में कहा है एतानि पुनराकाशादीनां रजोऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। अर्थात् इन इन्द्रियों में आकाशादि के रजोगुणांशों से क्रमशः अलग अलग आकाश के रजो अंश से वाक्, वायु के रजो अंश से हाथ, अग्नि के रजो अंश से पैर, जल के रजो अंश से पायु और पृथिवी के रजो अंश से उपस्थ इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है।

इन कर्मेन्द्रियों में वाणी का विषय वचन, हाथ का आदान, पैर का गमन, पायु का विसर्ग एवं उपस्थ का आनन्द है। ये दश इन्द्रियाँ भोतिक होने से अनित्य हैं।

9.3.1.3 पंचवायु

वेदान्त के अनुसार पाँच वायु हैं– प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। वेदान्तसार में इनका विवेचन करते हुए कहा गया है– वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। ये पाँच वायु आकाशादि में स्थित रजोगुणमिश्रित अंशों से उत्पन्न होते हैं। सदानन्द ने इनका पृथक्–पृथक् स्वरूप भो स्पष्ट किया है–प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः।समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।।

अर्थात् सामने गमन करने वाली नाक के अग्रभाग में वर्तमान रहने वाली वायु प्राण है। नासिका के अग्रभाग में ध्यान करने से इसकी उपलब्धि साक्षात् रूप से होती है। इसी से इसे नासाग्रवर्ती कहा गया है। निम्न गमन वाली पायु अर्थात् गुदादि स्थानों में रहने वाली अपान वायु है। सब ओर गमन करने वाली सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान रहने वाली वायु व्यान है। इसे प्राण और अपान की सन्धि कहा गया है। इसे प्राण और अपान को रोक कर ही किया जाता है। व्यान वायु प्राण और अपान का नियमन करता है। ऊपर की ओर गमन करने वाली कण्ठ में रहने वाली वायु उदान है। ऊपर की ओर जाने वाली वायु आँख, शरीर या अन्य किसी शरीर के अवयव से निकाली जाने वाली होने के कारण किसी भो द्वार से जाते समय कण्ठ से अवश्य निकलेगी, अतः इसे कण्ठस्थानीय कहा गया है। ये जीवात्मा को ऊपर की ओर ले जाने का कार्य करता है। शरीर में खाये पीये हुए अन्नादि का अच्छी प्रकार परिपाक करने वाली वायु समान है। रस, रक्त और शरीर के अन्य पदार्थों में परिवर्तन करना और भोजनादि का पाचन करना समीकरण कहलाता है। वस्तुतः उदर में गए अन्न के सार अंश को अलग करके रस, रक्त आदि सप्तधातुओं के रूप में पचाकर परिवर्तित कर देना तथा वर्जित अंश को मलादिरूप में बाहर निकाल देना ही समीकरण है और यह कार्य समान नामक वायु का है।

सदानन्द ने पूर्वपक्ष के रूप में इनके अतिरिक्त अन्य पंचवायुओं का वर्णन भो किया है। वे कहते हैं कि कुछ लोग नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय नामक पाँच अन्य वायु है ऐसा कहते हैं– केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति तत्र नागउद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भकरः। धनञ्जयः पोषणकरः।

अर्थात् वमनादि कराने वाली वायु नाग, पलकों को खोलने और बन्द करने वाली कूर्म, बुभक्षा उत्पन्न करने वाली कृकल, जम्भाई उत्पन्न करने वाली देवदत्त तथा शरीर का पोषण करने वाली धनंजय है। वेदान्त दर्शन के अनुयायी प्राण अपानादि में ही इनका अन्तर्भाव कर लेते हैं। यथा– एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्। वेदान्त के अनुसार तो वायु पाँच ही हैं। ये पाँच प्राणादि वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमयकोश होता है।

9.4 सूक्ष्मशरीर

वेदान्त के अनुसार एक ही ब्रह्म अज्ञान की विविध उपाधियों से उपहित होकर नाना प्रकार की संज्ञाओं से अभिहित होता है। अज्ञान से आवृत हुआ ब्रह्म कारणशरीर में समष्टि व्यष्टि उपाधि से उपहित होकर अथवा एकत्व व अनेकत्व व्यवहार से ईश्वर व प्राज्ञ कहलाता है और वही ब्रह्म सूक्ष्मशरीर की समष्टि व्यष्टि उपाधि से उपहित होकर एकत्व व्यवहार में सूत्रात्मा व अनेकत्व व्यवहार में तैजस कहलाता है। य सूक्ष्म शरीर भो एकत्व ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि, अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वृक्ष या जल के समान व्यष्टि भो होते हैं।

9.4.1 समष्टिसूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य सूत्रात्मा

इस समष्टि सूक्ष्मशरीर उपाधि से युक्त चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगभ तथा प्राण कहते हैं क्योंकि सर्वत्र व्याप्त तथा तीनों कोश क्रमशः ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया से सम्पन्न है। यथा–

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगभः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। वस्तुतः ज्ञानशक्तिमान् विज्ञानमयकोश ही हिरण्य अण्डा है, उससे ढका होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगभ कहा जाता है। श्रुतिवाक्यों में यह सूत्रात्मा हिरण्यगभ आदि नामों से कहा गया है। जागरण अवस्था के विषयानुभवों रूपी वासनाओं से बने होने के कारण चित्त में वासनायें ही स्वप्न को उत्पन्न करती हैं। इसी कारण स्वप्न केवल वासनामय होता है। इसी कारण सूत्रात्मा का सूक्ष्मशरीर उपाधि को भो जागरणावस्था के विषयानुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण स्वप्न कहा जाता हैय इसी कारण स्थूलप्रपंच के लय का स्थान कही जाती है, यह स्थूल प्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर कहलाती है।

9.4.2 व्यष्टिसूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य तैजस

जैसा कि आप पढ चुके हैं कि अज्ञान की समष्टि एवं व्यष्टि दो उपाधियां हैं। सूक्ष्मशरीर की समष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा कहलाता है और व्यष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य तैजस संज्ञा को प्राप्त करता है। यह व्यष्टि की उपाधि से युक्त चैतन्य तेजोमयान्तःकरण की उपाधि से युक्त होने के कारण तैजस कहलाता है– एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्।

इसकी भो यह व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर, त्रिविध कोशों से सम्पन्न, चैतन्यानुभ्त वासना से युक्त होने के कारण स्वप्न तथा इसी कारण स्थूल शरीर के लय का स्थान कहलाती है।

सूत्रात्मा और तैजस स्वप्नावस्था में मनोवृत्तियों से सूक्ष्मविषयों की अनुभ्ति करते हैं। निद्रादि दोषों के कारण अन्तरिन्द्रिय में अदृष्यादि जागरित संस्कारों के सहयोग से तदनरूप वृत्तियां चैतन्यगत अविद्याशक्ति से विषयाकार धारण करती है और उसी से दोनों सूक्ष्मविषयों की अनुभ्ति करते हैं। यथा– एतौ सूत्रात्मतैजसो तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः प्रविविक्तभक्ततैजस इत्यादिश्रुतेः।

9.4.3 समष्टि व्यष्टि उपाधि तथा उपहित चैतन्यों में अभेद

समष्टि शब्द समुदाय, समूह, संघात आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्यष्टि को विशेष व समष्टि को सामान्य कहा गया है। वस्तुतः दोनों में अभद है, केवल व्यवहार के लिए ही भद कल्पना की गई है। जैसे वृक्ष एव जल का संघात ही समष्टि की दृष्टि से वन या जलाशय कहलाता है और व्यष्टिरूप में वही वृक्ष या जल कहलाता ह किन्तु दोनों में अभद है वृक्ष ही वन है और वन कहने से भो वृक्ष का बोध हो जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर की समष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा तथा व्यष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य तैजस नाम से कहा जाता है लेकिन वस्तुतः दोनों में उसी प्रकार अभद है जैसे वन और वृक्ष में कोई भद नहीं है। जैसे वन से अवच्छिन्न आकाश या वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश एक ही है यथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश या जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही है उसी भाँति सूत्रात्मा व तैजस भो एक ही हैं केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपाधिगत भद ही है। इन दोनों के अभद का प्रतिपादन करते हुए सदानन्द कहते हैं–

अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत – प्रतिबिम्बाकाशवच्चाऽभदः।

9.4.4 सूक्ष्मशरीर के त्रिविध कोश

वेदान्तसार में आत्मा के आच्छादक पंचकोशों का विवेचन किया है। जिनमें से आनन्दमयकोश के सन्दभ में आप पूर्व अध्यायों में पढ चुके हैं। आनन्दमयकोश कारणशरीर मात्र में स्थित रहता है। अज्ञान से आवृत्त ब्रह्म ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है। उसमें आनन्द की प्रचुरता होने से उसे आनन्दमय एवं समष्टिभ्त अज्ञानात्मा को कोश के समान आच्छादित करने के कारण कोश कहते हैं। यह कारणशरीर से सम्बद्ध है पंचज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं पंचप्राण इन सतरह अवयवों का समूह सूक्ष्म शरीर निर्मित करते हैं

इन अवयवों का अलग–अलग समूह कोश कहलाता है। सूक्ष्मशरीर के विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय इन कोशत्रय से युक्त होने से इसमें ज्ञान, इच्छा व क्रिया तीनों शक्तियों का योग रहता है। ये तीनों कोश सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध है।

1. विज्ञानमयकोश

ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाता है– इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। इस कोश से आवृत्त हुआ चैतन्य ही जीव है। यही व्यावहारिक कार्यों का कर्ता है। विज्ञानमयकोश से युक्त चैतन्य कर्ता, भोक्ता, सुख, दुःख आदि से सम्पन्न होने के कारण अभिमानस्वरूप होने से इस लोक और परलोक का आवागमन कर्ता व्यावहारिक अवस्था में जीव कहलाता है। कतृत्व, भोक्तृत्व जीव के द्विविध अभिमान हैं। चिदात्मा वस्तुतः कर्ता भोक्ता नहीं है एवं नित्यानन्दरूप अपरिच्छिन्न निष्क्रिय है पर विज्ञानमयकोश अभिमानी होने के कारण इहलोक परलोक में गमन करने वाले व्यावहारिक जीव के लोक परलोक गमनरूप व्यवहार का हेतु बन जाता है।चैतन्य के परम सन्निकष के कारण ज्ञानशक्ति सम्पन्न होता है तथा वर्तमान भोक्ताभाव आदि का अभिमानी होने के कारण कर्तारूप है। यथा– ऐतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कतृरूपः। बृहदारण्यकोपनिषद् में इसे ज्योतिस्वरूप कहा है।

2. मनोमयकोश

ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन मनोमयकोश कहलाता है– मनस्तु ज्ञानेन्द्रियै सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन को मनोमय कोश कहते हैं। विमर्शात्मक मन महाभ्तों के सत्त्वांश से उत्पन्न श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त होकर मनोमयकोश कहलाता है। यह कोश इच्छाशक्ति से युक्त होता है। विवेक का साधनभ्त होने से इच्छा का करण होना सिद्ध होता है। आत्मा, इन्द्रिय एवं विषय के सन्निकट होने पर भो ज्ञान हो या न हो यह मन पर निभर करता है। जैसा कि श्रुतिवचन प्राप्त होता है कि मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैनें देखा नहीं, मेरा मन अन्यासक्त था अतः सुन नहीं सका, वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है– अन्यत्रमना अभ्वम् नादर्शमन्यत्रमना अभ्वनाश्रोषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। मन के साथ न होने पर इन्द्रियां विषय का ज्ञान नहीं कर पाती यही मन को करणरूप सिद्ध करता है। अतः मनोमयकोश इच्छाशक्तियुक्त होने से करणरूप है। जैसा कि वेदान्तसार में लिखा है– मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः।

3. प्राणमयकोश

कर्मेन्द्रियों के साथ पंचप्राण मिलकर प्राणमय कोश कहलाते हैं– इदं प्राणादिपंचकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्। ये प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणमय कोश कहलाती है। इनके क्रियात्मक होने के कारण इन्हें रजोगुण के अंशों से उत्पन्न कहा है। सांख्य एवं गीता के अनुसार रजोगुण का धर्म प्रेरक तथा क्रियाशीलता है। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। यह क्रियाशक्तिमान् होने से कार्यरूप है। पारस्परिक संसर्गयुक्त वाणी और मन से उत्पन्न होने से प्राणमय कोश कार्यरूप सिद्ध होता है।

ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।

सृष्टि के प्रथम चरण में जीव कारण शरीर में आश्रित रहता है। अविद्या निर्मित अवतरण ही कारण शरीर कहलाता है। यह कारणशरीर व्यष्टि का अवभासक है तथा आनन्द की प्रचुरता रहने से यह आनन्दमयकोश कहलाता है। कारण शरीर के बाद द्वितीयावस्था सूक्ष्मशरीर है। इसमें ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रिया, पंचप्राण, बुद्धि व मन ये सतरह अवयव हैं। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर नवीन स्थूल शरीर की प्राप्ति तक जीव इस सूक्ष्म शरीर के आश्रित रहता है। तृतीयावस्था स्थूलशरीर है। यह अन्नमयकोश भो कहलाता है, क्योंकि माता पिता द्वारा खाये गये अन्न द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के ये पाँच कोश वाला आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय होते हैं।

9.5 पंचीकरण

सूक्ष्मतन्मात्रों से स्थूलभ्तों की उत्पत्ति कही गई है। ये स्थूलभ्त पंचीकृत कहलाते है। सूक्ष्म तन्मात्रों से स्थूलभ्त की निर्माण प्रक्रिया पंचीकरण कहलाती है। पंचीकरण अद्वैत वेदान्त की स्थूल सृष्टि निर्माण की विशिष्ट प्रक्रिया है। आकाशादि पंचतन्मात्राओं के संयोग से स्थूल महाभ्तों की उत्पत्ति होती है। अतः स्थूल महाभ्तों में प्रत्येक सूक्ष्म तन्मात्र के अतिरिक्त अन्य तन्मात्राओं के गुण भो समाविष्ट रहते हैं।

9.5.1 पंचस्थूलभूत की उत्पत्ति

पंचीकरण की प्रक्रिया के अनुसार आकाशादि पाँच सूक्ष्मभ्तों के दो समान अंश करके उन दस भागों में से प्रत्येक भ्त का आधा भाग पृथक् करके पुनः आधे भाग को चार भागों में बांटे और इन चार भागों को अपने अतिरिक्त अन्य सूक्ष्मभ्तों के आधे भाग से मिला दें तो पंचीकृत महाभ्तों का निर्माण होता है। जैसा कि वेदान्तसार में उल्लिखित है–

पंचीकरणं त्वाकाशादिपंचस्वेककं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पंचभागान प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णा भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्।। अर्थात् आकाशादि पाँच महाभ्तों में से प्रत्येक को समान दो भागों में बांटकर उन दस भागों में से प्रथम पाँच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनकी अपने अपने द्वितीयार्ध भाग को छोडकर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पंचीकरण है।

यथा –

आकाश महाभूत मेंवायु तन्मात्रअग्नि तन्मात्रजल तन्मात्रपृथ्वी तन्मात्र½आकाश तन्मात्र।

वायु महाभूत मेंआकाश तन्मात्रअग्नि तन्मात्रजल तन्मात्रपृथ्वी तन्मात्र½वायु तन्मात्र।

अग्नि महाभूत मआकाश तन्मात्रवायु तन्मात्रजल तन्मात्रपृथ्वी तन्मात्र ½अग्नि तन्मात्र।

जल महाभूत मेंआकाश तन्मात्रवायु तन्मात्रअग्नि तन्मात्रपृथ्वी तन्मात्र ½ जल तन्मात्र।

पृथ्वी महाभूत मेंआकाश तन्मात्रवायु तन्मात्रअग्नि तन्मात्रजल तन्मात्र ½पृथ्वी तन्मात्र।

9.5.2 पंचीकरण का प्रामाण्य

उपनिषदों के 'त्रिवृत्करण' के पंचीकरण का उपलक्षण होने के कारण इस के प्रामाण्य में शंका नहीं करनी चाहिये। त्रिवृत्करण का अर्थ है भ्तों में तीन भ्तों का ही सम्मिश्रण है। ग्रन्थकार के अनुसार तीनों भ्तों का सम्मिश्रण बताने वाली श्रुति केवल निदर्शन मात्र है वस्तुतः यह पंचीकरण की ओर संकेत है। उपनिषदों में तीन भ्तों का ही वर्णन मिलता है जो भारतीय दर्शन की विकास की आद्यावस्था का सूचक है। छान्दोग्योपनिषद् में इसका विवेचन आया है– तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। अतः पंचीकरण केवल वेदान्त की कल्पना नहीं अपितु उपनिषदों में प्रतिपादित है। यह पंचीकरण की प्रक्रिया आचार्य शंकर द्वारा भो प्रतिपादित है। शंकराचार्य स्वयं कहते हैं– पंचमहाभ्तानाम् एकैकं द्विधा विभज्य चतुर्धा कृत्वा स्वार्धभागं विहाय इतरेषु पंचधा पंचीकृतेष् पंचीकरणम् भवति। सदानन्द ने अपने मत के समर्थन में पंचदशीकार का मत उद्धृत किया है–

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते।।

इस प्रक्रिया द्वारा अपने आधे भाग में अन्य सूक्ष्म तन्मात्रा का आठवां भाग मिल जाने से पुनः एक भ्त पूरा हो जाता है।

9.5.3 स्थूलभूतों में गुणों की अभिव्यक्ति एवं नामकरण

इन पंचीकृत महाभूतों में अपने अपने गुणों का बाहुल्य होने के बावजूद अन्य भूतों के गुण भी विद्यमान होते हैं लेकिन स्वयं की प्रधानता के कारण उनका नामकरण आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी होता है। सदानन्द ने इनके नामकरण का आधार प्रतिपादित करते हुए कहा है– पंचानां पंचात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। अर्थात् पाँचों भूतों में पाँचों के भाग मिश्रित होने पर भी प्रत्येक में विशेषांक के आधार पर ही उनके लिए आकाशादि व्यवहार न्यायसंगत है। जैसा कि हम पंचीकरण प्रक्रिया में समझ चुके हैं कि प्रत्येक महाभूत में स्वयं का ग भाग होता है शेष भूतों का भाग, अतः अपने भाग के आधिक्य के कारण ही उनका नामकरण किया जाता है। जैसे आकाश महाभूत में ग भाग आकाश तन्मात्र का होता है और अन्यों के भाग अतः आकाश की प्रधानता होने से उसका नामकरण आकाश किया जाता है। पंचीकृत दशा में आकाश में शब्द, वायु में शब्द स्पर्श, अग्नि में शब्द स्पर्श व रूप, जल में शब्द,स्पर्श, रूप व रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध अभिव्यंजित होते हैं।

9.6 पंचीकृत भूतों से स्थूल सृष्टि

पंचीकृत महाभूतों के द्वारा ही स्थूल सृष्टि होती है। चौदह लोकों को चारों ओर से घेरे हुए लोकालोक पर्वत के भी बाहर पृथ्वी तथा उससे भी बाहर समुद्रादि को मिलाकर ब्रह्माण्ड कहा जाता है। इन पंचीकृत महाभूतों से ही सारे लोक व शरीर उत्पन्न होते हैं। इनमें सात ऊपर के लोक व सात नीचे के लोक तथा चार प्रकार के स्थूल शरीर आते हैं। रामतीर्थ ने ब्रह्माण्ड का लक्षण करते हुए कहा है– एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथ्वीतद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते। अर्थात् अपने आवरण से आवृत्त लोक, पवत, उससे बाह्य पृथ्वी और उससे बाहर समुद्र के साथ मिलाकर ब्रह्माण्ड कहलाता है। वास्तविकरूप से तो जगत् की सत्ता है ही नहीं, एक मात्र ब्रह्म ही है लेकिन व्यावहारिक रूप से विद्यमान जगत् माया के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है। अब तक आनन्दमयकोशरूप कारणशरीर, विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोशरूप सूक्ष्मशरीर का विवेचन पढ चुके हैं। अब सूक्ष्मशरीर के बाद स्थूल शरीर की उत्पत्ति का क्रम बताते हुए सदानन्द चौदह लोकों व चार स्थूलशरीरों की उत्पत्ति का विधान करते हैं।

9.6.1 सप्त ऊर्ध्वलोक

पंचीकृत आकाशादि भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् इस प्रकार सात ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण होता है। मनुष्य अपने कर्मों के उत्कष व अपकष के आधार पर उपरि उपरि लोकों अथवा अधो अधो लोकों को प्राप्त करता है। इन सात ऊपर विद्यमान लोकों का नामतः उल्लेख करते हुए कहते हैं– एतेभ्यः पंचीकृतेभ्यः भूतेभ्यो भूभुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानाम्................

अर्थात् इनसे ऊपर विद्यमान भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् इन लोकों का निर्माण होता है। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही इन लोकों को प्राप्त करता है। इन लोकों का निर्माण करने वाले ये पंचीकृत महाभूत हैं।

9.6.2 सप्त अधोलोक

जिस प्रकार ऊपर के सात लोकों का निर्माण होता है, उसी प्रकार नीचे के सात लोक भी इन्हीं महाभूतों से प्रादुर्भूत होते हैं। ये लोक हैं अतल, वितल, सुतल,रसातल, तलातल, महातल एवं पाताल। ये क्रमशः अधोऽधो लोक कहे गए हैं। सदानन्द कहते हैं– अतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तवर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिभवति।

अर्थात् अतल, वितल आदि ये नीचे के सात लोक और ब्रह्माण्ड में विद्यमान चार प्रकार के शरीर व उनके पोषण के लिए अन्न पानादि की उत्पति होती है।

9.6.3 चतुर्विधस्थूलशरीर

मनुष्य अपने अपने कर्मों के अनुसार उच्चतर या निम्न कोटि की योनि में गमन करता है। सृष्टि का चरम विकास स्थूल शरीर है। स्थूल शरीरों का निर्माण आकाशादि पंचीकृत स्थूलभ्तों से होता है। यह शरीर ही व्यवहारिक रूप से जन्म मरण को प्राप्त होता है। जीवात्मा इसी शरीर के माध्यम से कम तथा उनके फल का उपभोग भो करता है। ये चार प्रकार के शरीर हैं।

चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिजानि भ्मिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि।।

अर्थात् जरायुज, अण्डज, उद्भिज तथा स्वेदज नामक चार प्रकार के शरीर हैं। चारों प्रकार के स्थूल शरीरों के लक्षण करते हुए कहते हैं

1. जरायु से उत्पन्न होने वाले मनष्य, पशु आदि जरायुज कहलाते हैं।
2. अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी तथा सर्पादि अण्डज हैं।
3. भ्मि को भदकर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्षादि उद्भिज हैं।
4. पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ तथा मच्छरादि स्वेदज हैं।

इन चारों स्थूल शरीरों के उपभोग के लिए अन्नपानादि का प्रादुर्भाव भो स्थूल महाभ्तों से होता है।

9.7 स्थूलशरीर

जैसा कि हम देख चुके है कि पंचीकृत महाभ्तों से चौदह लोकों व चार प्रकार के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। ये जरायुज, अण्डज, उद्भिज एवं स्वेदज शरीर भो समष्टि ;एकत्व की दृष्टि सेद्ध तथा व्यष्टि ;अनेकत्व की दृष्टि सेद्ध दो प्रकार के हो जाते हैं। जैसा कि कहा है–

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।

9.7.1 समष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य वैश्वानर

समष्टिगत स्थूल शरीरोपहित चैतन्य सभो प्राणियों में अभिमान रखने के कारण तथा विविधरूप से शोभायमान होने के कारण वैश्वानर तथा विराड् कहा जाता है। वेदान्तसार में वर्णित है– एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।

यहाँ अभिमानी शब्द का अर्थ अधिष्ठाता किया जाता है। यहाँ नर शब्द केवल मनुष्यों का ही नहीं प्रत्युत समस्त प्राणियों का उपलक्षणमात्र है तथा सर्व शब्द से विश्व अभिप्रेत है। समस्त प्राणियों के शरीर समूह में यह मैं हूँ इस भाँति अभिमान रखने के कारण उसको वैश्वानर कहा जाता है। इस सम्बन्ध में सुबोधिनी टीका में लिखा है– सर्वप्राणिनिकायेष्वह–मित्यभिमानवत्त्वात् वैश्वानरत्त्वम्। अर्थात् सभो प्राणियों में विद्यमान अभिमानत्व के कारण वह वैश्वानर कहलाता है। वह चैतन्य विविधरूपों में सुशोभित होने के कारण विराट् कहा जाता है। उसके विविधरूप हैं– देव, मनुष्य, पशु,वृक्ष आदि।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों की प्राप्ति होने से स्थूलशरीर को जाग्रत् कहा जाता है। सुबोधिनी टीका भो इसी का समर्थन करती है– इन्द्रियैरर्थोपलब्धेश्च जाग्रदवस्थात्वं घटते।

जागरणावस्था की इसी परिभाषा को शंकराचार्य भो मानते हैं। वे कहते हैं– इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्। अर्थात् इन्द्रियों से अर्थ यानि विषयों की प्राप्ति ही जाग्रतावस्था है।

9.7.2 व्यष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य विश्व

स्थूल शरीर की व्यष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीरों को बिना त्यागे ही स्थूलशरीरों में प्रवेश करने के कारण विश्व कहलाती है। सदानन्द के अनुसार– एतद व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्।

स्थूलशरीर के बाद आदि शब्द लगाने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि इसके बाद कोई स्थूल उपाधि ही शेष नहीं रहती। यह सम्पूर्ण स्थूल शरीर में रहने के कारण ही जीव विश्व कहलाता ह। जीव तीन उपाधि वाला है। सुषुप्तिकाल में उसकी उपाधि केवल अज्ञान होती है, स्वप्नावस्था में सूक्ष्मशरीर ;जागरणावस्था का वासनामय लिंग शरीरद्ध उपाधि होता है तथा ऐसा होने से जीव पहले पहले की उपाधि से विशिष्ट बाद बाद की उपाधि में प्रविष्ट होता है। इसीलिये सम्पूर्ण शरीरों में प्रविष्ट होने वाला होने से स्थूलशरीराभिमानी जीव की विश्व संज्ञा होती है।

9.7.3 स्थूलशरीर का अन्नमयकोश

इसकी यह समष्टि स्थूलशरीर कहलाती है। माता पिता के खाये अन्न से उत्पन्न होने के कारण या उस अन्न का विकार होने के कारण अन्नमय कोश कहलाती है। स्थूलभोग का आश्रय होने के कारण स्थूलशरीर कहलाती है। विषयभोगी होने के कारण जाग्रत् कही जाती है। इस सम्बन्ध में सदानन्द लिखते हैं– अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकार–त्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।। इसकी यह व्यष्टि भो स्थूलशरीर, अन्नविकार होने के कारण अन्नमयकोश तथा जाग्रत कही जाती है। इस प्रकार स्थूलशरीर की समष्टि व व्यष्टि उपाधि अन्नमय कोश कहलाती है। यह कोश अन्न के विकार से उत्पन्न होने के कारण अन्नमय कहलाता है। यह अवस्था जाग्रत अवस्था कहलाती है। कारणशरीररूप आनन्दमय कोश सुषुप्ति की अवस्था कहालाती है। सूक्ष्मशरीर स्वप्नावस्था व स्थूलशरीर जाग्रतावस्था कहलाती है। इस शरीर के माध्यम से विषयोपभोग सम्भव होता है इसीलिये इसे जाग्रत अवस्था कहा गया है।

9.7.4 समष्टि व्यष्टि उपाधि तथा उपहित चैतन्यों में अभद

स्थूल समष्टि व व्यष्टि से उपहित विश्व और वश्वानर में वैसे ही अभद है। जैसे वन और वृक्ष में तथा उससे आच्छन्न आकाश में अथवा जैसे जल और जलाशय में तथा उससे आच्छन्न आकाश में अभद होता है। विश्व तथा वैश्वानर रूप स्थूलशरीरों से उपहित चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय, कमेन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के द्वारा स्थूल विषयों का भाग करता है। इन दोनों में भो उपाधिगत भद ही है। इसी को स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं–

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजल–वत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभदः।

इस प्रकार पंचीकृत पंचभ्तों से स्थूलप्रपंच की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपंचों के एक दृष्टि के विषय होने से समष्टि रूप में एक महान् प्रपंच होता है। इन प्रपंचों में रहने वाले ईश्वर –प्राज्ञ, सूत्रात्मा– तैजस तथा वैश्वानर– विश्व इन सब में कोई वास्तविक भद नहीं है। जो भद दृष्टिगत होता है वह केवल उपाधि के कारण है।

अलग अलग वनों का समुदाय जैसे महान् वन बन जाता है तथा जैसे भिन्न भिन्न जलाशयों का समूह एक महान् सरोवर बन जाता है, उसी भाँति इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपंचों का भो समुदाय एक महान् प्रपंच बन जाता है। अर्थात् कारण सृष्टि अज्ञानों की समष्टि है।

सूक्ष्म सृष्टि सूक्ष्म शरीरों का समुदाय है तथा स्थूल सृष्टि स्थूलशरीरों का समूह है, इन तीनों को सामूहिक रूप से कहने की इच्छा से इसे एक महान् सृष्टि कहते हैं, यही विश्वप्रपंच कहलाता है। स्थूलशरीर के उत्पन्न होने पर उसकी कारणरूपा सूक्ष्म तथा कारणसृष्टि भो स्थित रहती है।

9.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. **चित्त**– अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्।
2. **अहंकार**– अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः।
3. **आनन्दमयकोश**– माया से उपहित ब्रह्म जो कि ईश्वर कहलाता है। उसकी समष्टि अज्ञान उपाधि आनन्द का प्राचुर्य होने से आनन्दमयकोश कही जाती है।
4. **विज्ञानमयकोश**– बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति।
5. **मनोमयकोश**– मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।
6. **प्राणमयकोश**– कर्मेन्द्रियों सहित पंचप्राण प्राणमय कोश कहलाता है।
7. **अन्नमयकोश**– स्थूलशरीर अन्न का विकार होने से अन्नमयकोश कहलाता है।
8. **ईश्वर**– माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। या समष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर है।
9. **सूत्रात्मा**– समष्टिगत सूक्ष्मशरीर से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा कहलाता है।
10. **तैजस**– व्यष्टिगत सूक्ष्मशरीर से उपहित चैतन्य तैसज कहलाता है।
11. **वैश्वानर**– समष्टिगत स्थूलशरीरोपहित चैतन्य वैश्वानर है। जो प्राणी मात्र अभिमान का हेतु है वह वैश्वानर है।
12. **विश्व**– सम्पूर्णशरीरों में प्रविष्ट होने वाला होने से स्थूलशरीराभिमानी जीव की विश्व संज्ञा होती है।

9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. वेदान्त के अनुसार ईश्वर की जगत्कारणता स्पष्ट कीजिए।
2. वेदान्त के अनुसार पंचकोश क्या हैं? समझाइये।
3. वेदान्त के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों व कमेन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे हुई? समझाइये।
4. वेदान्त के अनुसार पंचवायु कौन कौन से है? समझाइये।
5. वेदान्त के अनुसार चतुर्विध स्थूल शरीर कौनसे हैं?
6. चतुर्दश लोकों की उत्पत्ति कैसे हुई? उनका नामोल्लेखपूर्वक विवेचन कीजिये।
7. वेदान्त के अनुसार पंचीकरण को स्पष्ट कीजिये।
8. वेदान्त के अनुसार सूक्ष्मशरीर के अवयवों का प्रतिपादन कीजिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई संख्या 9.2.1
2. इकाई संख्या 9.4.4, 9.7.3
3. इकाई संख्या 9.3.1.1, 9.3.1.2
4. इकाई संख्या 9.3.1.3
5. इकाई संख्या 9.6.3
6. इकाई संख्या 9.6.1, 9.6.2
7. इकाई संख्या 9.5
8. इकाई संख्या 9.4

9.10 सारांश

अब तक आप समझ चुके हैं पारमार्थिक रूप से जगत् की कोई सत्ता नहीं है लेकिन व्यावहारिक रूप से अज्ञान से आवृत्त ब्रह्म ईश्वररूप में जगत् का निमित्त व उपादान कारण बनता है। वह अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण व माया की प्रधानता से उपादान कारण कहलाता है। समष्टि–व्यष्टि उपाधि रूप अज्ञान या कारण शरीर आनन्दमय कोष कहलाता है। अज्ञान की आवरण शक्ति से आवृत्त आत्मा में विक्षेप शक्ति से पंच सूक्ष्म तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। आप जान गए होंगे की पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति का कारण अज्ञान की विक्षेपशक्ति है। इन पंचतन्मात्राओं के सात्त्विकांश से ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि व मन उत्पन्न होते हैं तथा रजो अंश से कर्मेन्द्रिया उत्पन्न होती हैं। पंचवायु इनके रजो अंश से मिश्रितरूप से उत्पन्न होते हैं। ये सतरह अवयव मिलकर सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं। इन्हीं में से ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि के साथ विज्ञानमयकोश कहलाती हैं और मन के साथ मिलकर मनोमयकोश कहलाती हैं। पंचवायु एवं कर्मेन्द्रियां मिलकर प्राणमयकोश बनते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय इन त्रिविध कोशों से युक्त होता है।

यह सूक्ष्मशरीर रूप में विद्यमान आत्मा एकत्व की विवक्षा से समष्टिरूप में सूत्रात्मा, व्यष्टिरूप से बहुत्व की विवक्षा से तैजस कहलाता है लेकिन वस्तुतः दोनों में कोई भद नहीं है, यह केवल उपाधिगत भद ही कहलाता है। सूक्ष्मतन्मात्राओं से पंचीकरण प्रक्रिया के द्वारा पंचमहाभ्तों का निर्माण होता है। इन पंचीकृत महाभ्तों से चौदह लोकों का निर्माण होता है और चार प्रकार के स्थूल शरीर निर्मित होते हैं। स्थूलशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर व व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व कहलाता है। उपाधि रूप समष्टि–व्यष्टि स्थू शरीर अन्नमय कोष कहलाता है। लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि अज्ञान के विविधरूपों से उपहित चैतन्य का यह उपाधिगत भद मात्र हैं वस्तुतः तो एकमात्र ब्रह्म ही है, अतः इनमें कोई वास्तविक भद नहीं है। इस प्रकार आप अज्ञानोपहित ब्रह्म स सृष्टिप्रपंच के निर्माण को जान चुके हैं।

9.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वेदान्तसार– सदानन्द योगीन्द्र, सम्पादक–कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.
2. वेदान्तसार व्या. आचार्य बदरीनाथशुक्ल–मोतीलाल बनारसीदास,2003.
3. भारतीय दर्शन का इतिहास– एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा–प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा–मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली,1991.
5. भारतीय दर्शन–आचार्य बलदेव उपाध्याय–शारदा मन्दिर, वाराणसी,1991.
6. सर्वदर्शनसंग्रह–प्रो0 उमाशंकर शर्मा ऋषि–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984.
7. भारतीय दर्शन– डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली, 2004.
8. वेदान्तदर्शन–डॉ.पूर्णानन्द पूर्णपंथी–राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1999.
9. वेदान्त परिभाषा, व्या. श्री गजानन शास्त्री–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2000.
10. वेदान्तः एक नवीन दृष्टि–कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य–राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1993।
12. शांकर वेदान्तः एक अनुशीलन डॉ.रमाकान्त आंगीरस, नटराज पब्लिकेशन हाउस, करनाल, 1982.
13. अद्वैतब्रह्मसिद्धि एक अनुशीलन–डॉ.दीर्घाराम रामस्नेही वाड्मय प्रकाशन, जोधपुर, 1996.
14. आधुनिक विज्ञान में भारतीय दर्शन का सृष्टिवाद डॉ.हुकम सिंह निभय शर्मा पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2001.

इकाई–10

महावाक्य (वेदान्तसार)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 तत्त्वमसि महावाक्य
10.2.1 तत् पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ
10.2.2 त्वम् पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ
10.2.3 तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड अर्थ का बोध
10.2.3.1 सामानाधिकरण्य सम्बन्ध
10.2.3.2 विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध
10.2.3.3 लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध
10.2.4 तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध में शंका समाधान
10.2.4.1 नीलम् उत्पलम् वाक्यवत् वाक्यार्थ संगति नहीं
10.2.4.2 गंगायां घोषः वाक्यवत् जहल्लक्षणा से वाक्यार्थ संगति नहीं
10.2.4.3 शोणो धावति वाक्यवत् अजहल्लक्षणा से वाक्यार्थ संगति नहीं
10.3 अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य
10.3.1 अहं ब्रह्मास्मि की अनुभव प्रक्रिया
10.3.2 ब्रह्मानुभव प्रक्रिया में वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा तथा फल व्याप्ति का प्रतिषेध
10.3.3 श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि की उपयोगिता
10.3.3.1 श्रवण (षड्विध लिंग से तात्पर्य निर्णय)
10.3.3.2 मनन
10.3.3.3 निदिध्यासन
10.3.3.4 समाधि (सविकल्पक, निर्विकल्पक, आठ अंग, चार विघ्न)
10.4 पारिभाषिक शब्दावली
10.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.6 सारांश
10.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देश्य

एम. ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के तृतीय प्रश्न पत्र भारतीय दर्शन की दसवीं इकाई इकाई का उद्देश्य तत्त्वमसि इस उपदेश महावाक्य तथा अहं ब्रह्मास्मि इस अनुभव वाक्य के अर्थ का बोध करवाकर वेदान्त सम्मत जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करना है। अध्यारोप और अपवाद का ज्ञान पूर्व इकाईयों में प्राप्त कर लेने से इस इकाई द्वारा आप निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे :–

- तत्त्वमसि महावाक्यगत तत् और त्वम् पदों का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ जान सकेंगे।
- किस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य अखण्ड अर्थ का बोधक है? यह जान सकेंगे।
- अहं ब्रह्मास्मि अनुभव महावाक्य की प्रक्रिया जान सकगे।
- श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि के स्वरूप, भद, अंग आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे
- जीव और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

वेदों में संकलित निम्नलिखित चार महावाक्य वेदान्त सम्मत जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं:– ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् से उद्धृत प्रज्ञानं ब्रह्म, यजुर्वेद के

बृहदारण्यकोपनिषद् से उद्धृत अहं ब्रह्मास्मि, सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् से संकलित तत्त्वमसि तथा अथर्ववेद के माण्डूक्योपनिषद् से संकलित अयमात्मा ब्रह्म।

असम्भावना और विपरीत भावना से रहित ब्रह्म आत्मा की एकता का निश्चय होना ही महावाक्य का यथार्थ तात्पर्य है। असम्भावना में दो प्रकार का संशय होता है– वेदान्त में जीव ब्रह्म का भद प्रतिपाद्य है अथवा अभद ? यही प्रमाणगत संशय है तथा जीव ब्रह्म एक हैं या दो ? इस प्रकार के संशय को प्रमेयगत संशय कहते हैं। विपरीत भावना में बिल्कुल विपरीत ज्ञान होता है और उसकी निवृत्ति निदिध्यासन के द्वारा होती है। सदानन्द योगीन्द्र वेदान्तसार नामक वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ में तत्त्वमसि इस उपदेशवाक्य तथा अहं ब्रह्मास्मि इस अनुभव वाक्य के द्वारा जीव ब्रह्म की एकता को प्रतिपादित करते हैं।

10.2 तत्त्वमसि महावाक्य

तत्त्वमसि महावाक्य उपदेश वाक्य है। तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ है तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। यथा यह वही देवदत्त है इस वाक्य में तत्काल विशिष्ट देवदत्त बोधक 'वह' पद तथा एतत्काल विशिष्ट देवदत्त के वाचक यह शब्द इस देवदत्त पिण्ड का बोधक होता है। सामवेद के छान्दोग्योपनिषद्गत तत्त्वमसि महावाक्य का उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु को उपदेश दिया है। इस महावाक्य में तत् एवं त्वम् यह क्रमशः ब्रह्म एवं जीव के बोधक हैं और तत्त्वमसि महावाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्डैकार्थबोधक होता है।

10.2.1 तत् पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ

वेदान्त का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु स्वरूपानन्द की उपलब्धि भो है। यदि कोई तत्त्ववेत्ता अच्छा गुरु प्राप्त हो जाता है तथा कृपापूर्वक तत्त्वमसि आदि वाक्यों के द्वारा उपदेश देते हैं तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अध्यारोप तथा अपवाद से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाने पर कि सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह नामरूपात्मक जगत् है तो तत्त्वमसि इस महावाक्य में तत् अर्थात् परब्रह्म शुद्ध चैतन्य और त्वम् अर्थात् व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधि युक्त चैतन्य का तात्पर्य भो स्वयं ही विदित हो जाता है। तत्त्वमसि महावाक्य के वाच्यार्थ को स्पष्ट करते हुए सदानन्द तत् एवं त्वम् पद के वाच्यार्थ को स्पष्ट करते हैं। मुख्यार्थ ही वाच्यार्थ कहलाता है। सदानन्द के अनुसार अज्ञानादि समष्टि तथा उससे उपहित सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं उसकी उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्य ये तीनों तपे हुए लौह खण्ड के तुल्य एकता अवभासित होने के कारण तत् पद का वाच्यार्थ होता है–

तथाहि अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।

तात्पर्य यह है कि अज्ञान अथवा कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर की समष्टि तथा उसकी उपाधि युक्त चैतन्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा इनकी उपाधि से अनुहित चैतन्य इन सबका तप्तायः पिण्ड तपे हुए लौहे के पिण्ड के समान एकरूप से आभासित होना तत् पद का वाच्यार्थ है।

मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन से उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा शक्ति कहलाती है। तत् पद का लक्ष्यार्थ बताते हुए सदानन्द कहते हैं– इस उपाधि से युक्त उसका आश्रयभत् उपाधिरहित चैतन्य तत् पद का लक्ष्यार्थ है। एतदुपाध्युपहिताधारभत्मनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति।

अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर का आधारस्वरूप जो उपाधिशून्य चैतन्य है उसका अज्ञान तथा उससे आच्छन्न ईश्वर चैतन्य से अलग होकर भिन्न भिन्न प्रकाशित होना तत्पद का लक्ष्यार्थ है।

अज्ञान और उसके कार्यरूप समस्त प्रपंच को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदात्री ईश्वरादि चैतन्य की आधारस्वरूपा जो चेतन एवं आनन्दरूप उपाधिशून्य चैतन्य है वह तत् पद का लक्ष्यार्थ ह। इस प्रकार उपाधि से रहित केवल चेतनमात्र तत् पद का लक्ष्यार्थ है। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में जो तीन सम्बन्धों से शून्य नामरूप से रहित सत् ब्रह्म था, वही सृष्टि बन जाने के बाद अब भो वैसा का वैसा ही है। उसमें अब भो कोई विकार नहीं आया है। वह सदैव निर्विकार कूटस्थ परब्रह्म ही तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है।

10.2.2 त्वम् पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ

तत् पद के वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ के रूप में चैतन्य ब्रह्म निर्णीत हो जाने के बाद सदानन्द योगीन्द्र त्वम् पद का वाच्यार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं– व्यष्टिगत अज्ञान और उस अज्ञान से आवृत्त अल्पज्ञता आदि विशिष्ट जो प्राज्ञ–तैजस और विश्व चैतन्य और इनका आधारस्वरूप जो उपाधिरहित चैतन्य है ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही है, यह त्वम् पद का वाच्यार्थ है। वेदान्तसार में कहा है –

अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति।

अज्ञानादि की व्यष्टि, उसकी उपाधि से सम्पन्न अल्पज्ञ होना आदि विशेषणों से विशिष्ट चैतन्य जीव तथा उसकी उपाधि से शून्य ये तीनों तपे हुए लौहपिण्ड के समान एकता प्रतीत होना त्वम् पद का वाच्यार्थ होता है। अर्थात् त्वम् पद से जीव का बोध होना त्वम् पद का वाच्यार्थ होता है। जिस प्रकार तप्तायःपिण्ड में लौहे के गोले से अग्नि का भिन्न प्रतीत न होना (लोहे के गोले से हाथ जल गया यह मानकर अग्नि का लोहे के गोले से भिन्न प्रतीत न होना) तप्तायः पिण्डम् का वाच्यार्थ है तथैव तत्त्वमसि वाक्य में उपाधि तथा उपहित चैतन्यों से ब्रह्म का भिन्न प्रतीत न होना त्वम् पद का वाच्यार्थ है।

त्वम् पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञत्व आदि गुणों से युक्त चैतन्य अर्थात् जीव निर्णीत होता है।

अब सदानन्द त्वम् पद के लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करते हैं। अज्ञान आदि उपाधि तथा उससे उपहित (आवृत्त) चैतन्य से आश्रयभ्त उपाधिरहित शुद्ध आन्तरिक आत्मानन्दरूप तुरीय चैतन्य का भिन्न प्रतीत होना त्वम् पद का लक्षणा के द्वारा प्राप्त अर्थ है। वेदान्तसार के अनुसार–

एतदुपाध्युपहिताधारभ्तमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञान आदि उपाधियाँ तथा उनसे युक्त प्राज्ञ, तैजस विश्व से इनका आधारस्वरूप जो उपाधिहीन प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य का भिन्न प्रतीत होना यह त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है। वस्तुतः कारण शरीर, व्यष्टि सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलशरीर तथा इनसे उपहित तीनों चैतन्यों इन सबसे वह तुरीय चैतन्य भिन्न है। इन सबका साक्षी चैतन्य ही त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है। व्यष्टिगत अज्ञानादि और उसकी उपाधियक्त जीव चैतन्य और इनके आधारस्वरूप उपाधिशून्य प्रत्यगात्मा तुरीय चैतन्य इन सबका भद विवक्षा में अलग अलग प्रतीत होना त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है। जिस प्रकार तप्तायःपिण्डम् वाक्य में लोहे के गोले से अग्नि का भिन्न प्रतीत होना (हाथ लोहे के गोले से नहीं जलता अपितु उसमें संक्रान्त अग्नि से जलाता है) तप्तायः पिण्डम् वाक्य का लक्ष्यार्थ है तथैव व्यष्टि अज्ञानादि उपाधि तथा प्राज्ञ आदि उपहित चैतन्यों से अनुपहित तुरीय चैतन्य का भिन्न प्रतीत होना तत्त्वमसि वाक्य के त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है।

तत्त्वमसि वाक्य के असि क्रिया पद से तत् और त्वम् दोनों के लक्ष्यस्वरूपों की एकता का बोध होता है।

10.2.3 तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड अर्थ का बोध

तत्त्वमसि महावाक्य में तत् एवं त्वम् यह क्रमशः ब्रह्म एवं जीव के बोधक हैं। दोनों पदों के अर्थ में आपाततः विरोध प्रतीत होने के कारण तत्त्वमसि द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं होता है परन्तु यह आपत्ति तत्त्वमसि का अभिधेयार्थ ग्रहण करने पर होती है और लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर तत्त्वमसि के अखण्डार्थ का बोध हो जाता है। इस अखण्डार्थ के बोधक तीन सम्बन्ध होते हैं। तत्त्वमसि महावाक्य त्रिविध सम्बन्ध के द्वारा ही अखण्डार्थ का बोधक होता है। जो अंश अंशीभाव सम्बन्ध से रहित है वह अखण्डार्थ है अर्थात् जिसके खण्ड न किये जा सकें। जो स्वगत सजातीय एवं विजातीय भदशून्य होने के कारण माया तथा उसके कार्यों से सर्वथा सम्बन्धरहित है, वह निर्गुण ब्रह्म ही इस अखण्डार्थ का तात्पर्य है। ये सम्बन्ध कौन कौन से हैं? इस विषय में सदानन्द कहते हैं– **सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः समानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मपदार्थयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।**

अर्थात् पदों में समानाधिकरण्य, पदों के अर्थ में विशेषण विशेष्यभाव तथा प्रत्यगात्म पदार्थों में लक्ष्य लक्षणभाव ये तीन सम्बन्ध हैं। इस सम्बन्ध में अन्य उल्लेख प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।

अर्थात् पदों का सम्बन्ध समानाधिकरण्य, पदार्थों का सम्बन्ध विशेषणविशेष्यभाव तथा प्रत्यगात्म पदार्थों का लक्ष्यलक्षणभाव हैं।

10.2.3.1 सामानाधिकरण्य सम्बन्ध

पृथक् पृथक् अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यावबोध कराने वाला सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है। सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य में सः पद का तत्काल तद्देशविशिष्ट देवदत्त अर्थ है तथा अयं पद का एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त अर्थ है। इन दोनों पदों का देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ द्योतन करना तात्पर्य है। इसलिये इस अर्थ का अवबोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। सदानन्द इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं– **समानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्तः इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं शब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः।**

अर्थात् जैसे यह वही देवदत्त है इस वाक्य में तत्कालविशिष्ट अतीतकालवर्ती, देवदत्त बोधक स (वह) इस पद का तथा एतत्कालविशिष्ट वर्तमान काल स्थित देवदत्त के वाचक अयं (यह) शब्द का इस एक देवदत्त पिण्ड में तात्पर्य बोध होता है।

इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद परोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है और त्वम् पद अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है तथा इन दोनों पदों का एक ही चैतन्य में तात्पर्य होना इस तत्त्वमसि वाक्य का अभोष्ट है इसप्रकार तात्पर्य का बोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार तत् और त्वम् पद एक अखण्डार्थ ब्रह्म को प्रतिपादित करते हैं। सदानन्द इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्ट – चैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

अर्थात् वह तू है (तत्त्वमसि) इस वाक्य में भो परोक्षादि विशिष्ट चैतन्य का अवभासक तत् पद का व अपरोक्षतादियुक्त विशिष्ट चैतन्य के ज्ञापक त्वम् पद का एक चैतन्य में तात्पर्य बोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्यसम्बन्ध कहलाता है।

10.2.3.2 विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध

तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थज्ञान कराने में सहायक द्वितीय सम्बन्ध विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध कहा गया है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सोऽयं देवदत्तः इसी वाक्य में तत्कालवर्ती विशिष्ट देवदत्त के बोधक तत् पद का एवं एतत् काल विशिष्ट देवदत्त के बोधक त्वम् पद का तथा परस्पर एक–दूसरे के भद का व्यावर्तक नहीं होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। सदानन्द ने इसका इस प्रकार से निरूपण किया है–

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

अर्थात् 'सोऽयं देवदत्तः' में अयं शब्द वाच्य जो यह एतत्काल, एतद्देशविशिष्ट देवदत्त है वह 'स' इस शब्द वाच्य तत्काल तद्देशविशिष्ट देवदत्त पिण्ड से इतर नहीं है जब इस भाँति बोध होता है तो तत् (स) शब्द इदं (अयं) का विशेषण बनता है और 'इदं' 'तत्' का विशेष्य, अतः यह ही देवदत्त है इस प्रकार बोध होता है तथा तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। ऐसे ही तत् शब्द वाच्य तद्देश विशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। ऐसे ही 'तत्' शब्द वाच्य तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त इदं शब्द वाच्य एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त से भिन्न है। तो 'अयं' 'स' का विशेषण और स विशेष्य है इसलिये परस्पर भद का निराकरण होने से सः एवायम् अयमेव सः इस प्रकार 'सः' और 'अयम्' दोनों एक दूसरे के विशेषण विशेष्य बनकर विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध से देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। इस उदाहरण द्वारा विशेषणविशेष्यभाव

सम्बन्ध को स्पष्ट कर सदानन्द तत्त्वमसि महावाक्य में विशेषणविशेष्यभाव को समझाते हुए कहते हैं कि उक्त वाक्य के समान तत्त्वमसि में 'त्वम्' पद वाच्य अपरोक्षता विशिष्ट चैतन्य वह 'तत्' पद वाच्य अपरोक्षता विशिष्ट चतन्य से अलग न होने के कारण विशेषण तथा त्वम् पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। 'त्वम्' पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भद व्यावर्त्तक होने के कारण विशेषण तथा तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से 'तत्' तथा 'त्वम्' ये दोनों पद चैतन्यरूप एकार्थ बोधक होने के कारण वही तू, तू ही वह ऐसी प्रतीति होती है। यही विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से ज्ञात तत्त्वमसि का अर्थ है। सदानन्द के अनुसार– तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादि–विशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

अर्थात् उसी भाँति यहाँ भो तत्त्वमसि वाक्य में तत् शब्द का अर्थ परोक्षतादि से विशिष्ट चैतन्य का तथा त्वम् पद का अर्थ अपरोक्ष विशिष्ट चैतन्य होने के कारण और परस्पर अभिन्न होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव है।

10.2.3.3 लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध

विशेषणविशेष्यभाव के अतिरिक्त तत्त्वमसि महावाक्य के अखण्डार्थ का बोधक सम्बन्ध है– लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध। जैसे सोऽयं देवदत्तः वाक्य में स पद तथा उनके वाच्यार्थ में से एक–दूसरे के विरोधी तत् तथा एतत् कालवर्ती वैशिष्ट्य को छोडकर सदृश देवदत्त अंश के तात्पय को स्पष्ट करता है, वह लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। वेदान्तसार में से स्पष्ट करते हुए कहा है– लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्काल–विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः।

अर्थात् सोऽयं देवदत्तः में तत्काल तद्देशविशिष्ट और एतत्काल एतद्देशविशिष्ट विरुद्ध अर्थ के परित्याग द्वारा सः और अयं शब्द अविरुद्ध देवदत्त पिण्ड को लक्षित करते हैं अतः इनका लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।

इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में तत् तथा त्वम् पदों का या वाच्यार्थों में सर्वज्ञता अल्पज्ञतादिरूप विरुद्ध भाग को छोड देने से अखण्ड चैतन्य के साथ पारस्परिक लक्ष्यलक्षणभाव संगत होता है अर्थात् तत् और त्वम् पद लक्षण हैं और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है अतः लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। सदानन्द ने इस सम्बन्ध में कहा है– तथात्रापि वाक्ये तत्त्वं पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः।

अर्थात् उसी भाँति इस तत्त्वमसि वाक्य में भो तत् एवं त्वम् शब्दों तथा उनके अभिप्रायों में परस्पर विरोध परोक्षत्वापरोक्षत्वादि की विशिष्टता को छोडकर अविरोधी चैतन्य का ज्ञापनकर्ता ही लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। इसे भाग लक्षणा या जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। शास्त्रोय तत्त्वमसि आदि वाक्यों में जो भागलक्षणा के द्वारा चैतन्यावबोध कराया गया है, वह इसी का दूसरा नाममात्र है। इसी को जहदजहल्लक्षणा भो कहते हैं अर्थात् कुछ भाग त्याग दिया जाय तथा कुछ अंश ग्रहण कर लिया जाय वह जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा कहलाती है।

तत्त्वमसि महावाक्य में तत् शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है त्वम् शब्द का अल्पज्ञादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदि भाग को छोडकर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभो तत् और त्वम् दोनों एक अविपरीत चैतन्य को बोधित करते हैं और तत्त्वमसि के अखण्डार्थ का बोध होता है।

लक्षणा के भद– मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन से उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति लक्षणा कहलाती है–

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।। इति

विद्वन्मनोरंजिनी में लक्षणा के तीन प्रकार बताये गए हैं–

1. जहद्लक्षणा
2. अजहद्लक्षणा
3. जहदजहल्लक्षणा या भाग लक्षणा।

1. जहद् लक्षणा वह है जो वाच्यार्थ का पूर्णतः त्याग कर उससे सम्बन्धित अन्यार्थ का बोध कराती है यथा गंगायां घोषः। यही लक्षणलक्षणा कहलाती है। यथा वाच्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनी अर्थान्तरे वृत्ति जहद्लक्षणा। गंगायां घोषः में गंगा में घोष है इस मुख्यार्थ को छोडकर तीर अन्यार्थ का बोध होता है।
2. वाच्यार्थ को न छोडते हुए उससे सम्बन्धित अर्थ का बोध कराने वाली अजहल्लक्षणा है। यथा–शोणो धावति। यही उपादान लक्षणा है। यहाँ शोणो धावति में शोणो अश्वः धावति अर्थ सूचित होता है– वाच्यार्थपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनिवृत्तिः अजहद्लक्षणा।
3. वाच्यार्थ के एकदेश का परित्याग कर एकदेश को ग्रहण कर अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति जहदजहल्लक्षणा है। यथा तत्त्वमसि महावाक्य में सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट विपरीत अर्थ को छोडकर चैतन्य रूप अर्थ को ग्रहण किया गया है। यहाँ एक भाग का त्यागकर एकदेश को ग्रहण कर अर्थावबोध होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है– वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनेकदेशवृत्तिः जहदजहल्लक्षणा।

वाचस्पत्यम् तथा वेदान्तपरिभाषा में भो लक्षणा का विशद विवेचन हुआ है। पंचदशी के अनुसार–

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा।।

अतः तत्त्वमसि महावाक्य में भागलक्षणा माननी चाहिए।

10.2.4 तत्त्वचमसि महावाक्य के अर्थबोध में शंका समाधान

तत्त्वमसि महावाक्य के अखण्डार्थ बोध लक्षणा द्वारा होता है लेकिन वह लक्षणा कैसी है? किस प्रकार अर्थावबोध कराती है? इन सभो शंकाओं का समाधान आवश्यक है। अतः सदानन्दयोगीन्द्र लक्षणा के विविध स्वरूपों को दर्शाते हुए तत्त्वमसि महावाक्य में लक्षणा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं। वे विविध उदाहरण प्रस्तुत करते हए उनसे तत्त्वमसि महावाक्य का पार्थक्य प्रकट किया है।

10.2.4.1 नीलम् उत्पलम् वाक्यवत् वाक्यार्थ संगति नहीं

तत्त्वमसि महावाक्य में नीलमुत्पलम् वाक्य के समान विशेषणविशेष्यभाव नहीं है। नीलम् उत्पलम् यहाँ पर नील शब्द का अर्थ नीला गुण एवं उत्पल शब्द का अर्थ उत्पल द्रव्य है। यहाँ नील पद शुक्ल आदि गुणों का व्यावर्तक है तथा उत्पल द्रव्य वस्त्रादि द्रव्यों का व्यावर्तक है अतः नीमुत्पलम् इस वाक्य में (1) नील और उत्पल इन दोनों में परस्पर विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध होने का (2) एक से विशिष्ट दूसरा अर्थात् नील गुण विशिष्ट उत्पल द्रव्य और उत्पलविशिष्ट अर्थात् उत्पल द्रव्य में रहने वाला विशेष नीलगुण का होना तथा (3) नील गुण और उत्पल द्रव्य की एकता अर्थात अभिन्नता होना घटित होने से वक्यार्थ की संगति हो जाती है।

नीलमुत्पलम् के वाक्यार्थ को स्वीकार करने में अन्य प्रमाणों से विरोध का अभाव होने से वाक्यार्थ संगत होता है –

तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभदव्यावर्तकतयाऽन्योन्य – विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः संगच्छते। (वेदान्तसार, 24)

तत्त्वमसि में नीलोत्पलम् की तरह वाक्यार्थ संगत नहीं हो सकता। यहाँ पर तत् शब्द का अर्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य एवं त्वम् पद का अर्थ अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य है जो अन्योन्य भद के व्यावर्तक होने से इनमें नीमुत्पलम् वाक्य की तरह तीनों स्थितियां नहीं बन सकती अर्थात् (1) दोनों पदों में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध (2) एक से विशिष्ट दूसरा होना तथा (3) दोनों की एकता आदि का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने के कारण वाक्यार्थ सम्भव नहीं हो सकता।इसीलिए वेदान्तसार में कहा है–

अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधा–द्वाक्यार्थो न संगच्छते।

इसी को पुनः स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं–

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सममतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।
अर्थात् तत्त्वमसि इस महावाक्य में भदरूपसंसर्ग अथवा विशिष्ट रूप वाक्यार्थ अभोष्ट नहीं है अपितु भदरहित आनन्दस्वरूप वस्तुमात्र के रूप में लक्षणाश्रय से उत्पन्न स्वगतादिभदरहित ही वाक्यार्थ इष्ट है।
अर्थात् तत्त्वमसि वाक्य में तत् और त्वम् पद के अर्थों का संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्यभाव से वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वद्वर्ग के अनुसार अखण्डैकरस अभिन्न चैतन्य ही वाक्यार्थ है।

10.2.4.2 गंगायां घोषः वाक्यवत् जहल्लक्षणा से वाक्यार्थ संगति नहीं

शब्दार्थ की साक्षात्शक्ति अभिधा कहलाती है तथा अभिधा से ज्ञात अर्थ अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ कहा जाता है लेकिन वाक्य में विद्यमान पदों से जब मुख्य वाच्यार्थ बाधित होता है तो उनका युक्तियुक्त अर्थ जिस शक्ति से जाना जाता है वह लक्षणा कहलाती है। इसमें कभो अभिधेयार्थ का योग रहता है कभो नहीं और कभो अंशतः रहता है कभो अंशतः नहीं भो रहता। इस प्रकार लक्षणा तीन प्रकार की है। जहाँ अभिधेयार्थ का अभाव रहता है वह जहल्लक्षणा कहलाती है जिसमें अभिधेयार्थ होता है वह अजहल्लक्षणा और जिसमें अंशतः रहता है और अंशतः नहीं रहता वह जहदजहल्लक्षणा कहलाती है।
गंगायां घोषः इस वाक्य में जहल्लक्षणा स्वीकार की गई है लेकिन तत्त्वमसि महावाक्य में गंगायां घोषः के समान जहल्लक्षणा नहीं हो सकती। गंगा शब्द का मुख्यार्थ प्रवाह है परन्तु प्रवाह में घोष सम्भव नहीं है अतः प्रवाह अर्थ का त्याग कर लक्षणा से समीपवर्ती तट अर्थ ग्रहण किया जाता है। पूरे वाक्य का यदि मुख्यार्थ ग्रहण करें तो अर्थ होगा गंगा की धार में अहीरों का गाँव स्थित है यह वाक्यार्थ पूर्णतः विरुद्ध होने के कारण असंगत है। इसलिए गंगायां घोषः का आधाराधेय सम्बन्धरूप वाक्यार्थ खण्डित हो जाता है। इस अवस्था में गंगायां पद के वाक्यार्थ का पूर्णतया परित्यागपूर्वक उससे सम्बद्ध गंगातट में लक्षणा उचित है। अतः गंगायां का लक्ष्यार्थ गंगातटे हुआ। इस लक्ष्यार्थ की प्राप्ति तथा अभिधेयार्थ स्थित विरोध नष्ट हो जाने के कारण जहल्लक्षणाइस वाक्य में पूर्णरूप से संगत हो जाती है। इसी को स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं–
तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते।
अर्थात् वहाँ पर तो गंगायां घोषः वाक्य में गंगा तथा घोष के आधाराधेय भाव का लक्षण होने से सम्पूर्ण वाक्यार्थ भिन्न होने से सम्पूर्ण वाक्यार्थ को परित्याग कर उससे सम्बन्धित तटविषयगत लक्षणा से यक्त होने के कारण जहल्लक्षणा उचित है।
किन्तु गंगायां घोषः के समान तत्त्वमसि महावाक्य में लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ तो परोक्षत्व अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य के एकत्व के बोधक वाक्यार्थ का भागमात्र में विरोध होने से भो अन्यभाग में लक्षणा के अयुक्त होने के कारण जहल्लक्षणा असंग हो जाती है। जैसा कि वेदान्तसार में प्रतिपादित है–
अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद् भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न संगच्छते।
यहाँ तत्त्वमसि महावाक्य में जहल्लक्षणा संगत नहीं है क्योंकि यहाँ तत् शब्द के अभिधेयार्थभ्त परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य तथा त्वम् शब्द के वाच्यार्थगत अपरोक्षतादि विशिष्टचैतन्य की एकत्वरूप जो वाच्यार्थ हैं वे सर्वात्मनाविरुद्ध हैं। विरोध केवल परोक्षतादिविशिष्टता तथा अपरोक्षतादि वैशिष्ट्य इस अंशमात्र में हैं। शेष चैतन्यांश उभयसामान्य है परस्पर अविरुद्ध है। इसलिये लक्षणा करते समय विरुद्धांश को छोड देना चाहिए किन्तु सामान्य चैतन्यांश का परित्याग अनपेक्षित हैं। इसलिये यहाँ जहल्लक्षणा संगत नहीं होती।
यहाँ तो तत्त्वमसि महावाक्य में परस्पर विरोध परोक्षत्व अपरोक्षत्व भाग ही त्याज्य है। चैतन्यांश भाग स्वीकार्य हैं अतः उसका त्याग संगत नहीं है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि जिस प्रकार गंगायां घोषः वाक्य में गंगा शब्द धाररूप वाच्यार्थ को त्यागकर अपने से सम्बद्ध तीर शब्द के वाक्यार्थ को बताता है उसी भाँति तत्त्वमसि वाक्य में तत् शब्द परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य अर्थ को छोड़कर त्वम् पद के अर्थ को लक्षित कर तथा त्वम् पद अपने अर्थ को छोड़कर तत् पद के अर्थ को लक्षित करे तो जहद् लक्षणा संगत हो जावेगी, यह कहना भो ठीक नहीं है। सदानन्द कहते हैं–

न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वमपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्।

इस आक्षेप के सम्बन्ध में सदानन्द स्पष्ट करते हैं कि गंगायां घोषः वाक्य में तीर शब्द के न सुनाई देने के कारण व उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर लक्षणा से उसकी प्रतीति की अपेक्षा होती है तत् तथा त्वम् शब्दों के श्रूयमाण होने से उनके अर्थ की प्रतीति हो जाने पर लक्षणा से फिर एक पद द्वारा दूसरे शब्द का अर्थ बोध कराने की अपेक्षा नहीं होती। यथा–

तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।।

अर्थात् गंगायां घोषः में तीर शब्द सुनाई नहीं देता, अतः लक्षणा से उसकी प्रतीति होती है लेकिन तत्त्वमसि वाक्य में तत् और त्वम् शब्द दोनों का अर्थ सुनाई देता है, अतः वहाँ पद भागमात्र से लक्ष्यार्थ सम्भव नहीं है।

10.2.4.3 शोणो धावतिवाक्यवत् अजहल्लक्षणा से वाक्यार्थ संगति नहीं।

वेदान्तसार में कहा है कि तत्त्वमसि महावाक्य में शोणो धावति वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भो नहीं है क्योंकि शोणो धावति वाक्य में लालशोण गुण में गमन क्रिया सम्पन्न नहीं होने से वाक्यार्थ सम्भव नहीं होने के कारण उसके त्याग द्वारा उसके आश्रयभत् घोड़ा आदि की प्रतीति लक्षणा से होने से उसकी अभिन्नता का निराकरण हो जाने से अजहल्लक्षणा है लेकिन तत्त्वमसि महावाक्य में परोक्षभाव तथा अपरोक्षभावादिविशिष्ट चैतन्यों के एकत्व अभिन्नरूप वाक्यार्थ के विरोधी होने के कारण बिना उसके परित्याग के उससे सम्बन्धित जिस किसी अर्थ की लक्षणा से प्रतीति हो जाने पर उसके परस्पर विरोध का परिहार असम्भव होने से अजहल्लक्षणा नहीं हो सकती।

तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाच्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तद्परित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवाद–जहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्व–लक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तत्वात्तद–परित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपितद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।।

अर्थात् यहाँ पर तत्त्वमसि वाक्य में तत्पद का वाक्यार्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्यार्थभत् अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य जो एकत्व विवक्षित है, वह परोक्षता तथा अपरोक्षता रूप विरुद्ध भाग के त्याग के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। विरुद्ध अंश को त्यागे बिना उससे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को अजहल्लक्षणा के द्वारा ग्रहण करने पर विरोध परिहार असम्भव है और विरोध का परिहार न हो सकने पर लक्षणा व्यर्थ ही हो जाती है, अतः इस वाक्य में अजहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती है।

यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि तत् पद अथवा त्वम् पद अपने अपने पद के विरुद्ध अंश को छोडकर दोनों के सामान्य समान अंश सहित तत् व त्वम् शब्दों के अर्थ को प्रकट कर लिया जाए। ऐसा होने पर भागलक्षणा की आवश्यकता ही नहीं होगी।

इस सम्बन्ध में सदानन्द कहते हैं कि एक पद के द्वारा अपने अर्थ को छोडकर दूसरे पद के अभिन्नार्थ की प्रतीति में लक्षणा सम्भव नहीं है तथा दूसरे शब्द के द्वारा वह अर्थ प्रतीत हो जाये पर फिर लक्षणा द्वारा उसे पुनः प्रतीत कराने की अपेक्षा नही रह जाती। एक पद अपने वाच्यार्थ से एक अंश को लक्षित करना, दूसरे पद के वाच्यार्थ को भो लक्षित कराना– इन दोनों को लक्षणा से ग्रहण करना असम्भव है क्योंकि तत् और त्वम् पद का श्रवण होने पर पूर्वपक्षी दो व्यापार करना चाहते हैं–1. अविरुद्ध चैतन्य के अंश को लक्षित करना 2. दूसरे पद के वाच्यार्थ को लक्षित करना। 3. अजहल्लक्षणा के असम्भव होने का दूसरा हेतु है तत्

तथा त्वम् पद सामान्य चैतन्यांश को लक्षित कराते हैं किन्तु दूसरे पद के वाक्यार्थ का बोध अभिधा से होता है तब लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति कराना आपेक्षित नहीं है–

एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।

अतः जैसे सोऽयं देवदत्तः यह वाक्य या उसका अर्थ तात्पर्यार्थ तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में तात्कालिक एवं एतत्कालिक भाग में विशिष्ट देवदत्तांश में विरोध न होकर कालिक विरोध होने के कारण विरुद्धांश को त्यागकर अभिन्न देवदत्तपिण्डमात्र को जहदजहल्लक्षणा द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसी भाँति तत्त्वमसि वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादि विशिष्ट ;ब्रह्मद्ध और अपरोक्षत्वादि विशिष्ट ;जीवद्ध लक्षण वाक्यार्थांश के परोक्ष एवं अपरोक्षत्वांश म विशिष्ट चैतन्यांश में विरोध न होकर परस्पर विरोध को छाजड़कर अखण्ड चैतन्यमात्र को जहदजहल्लक्षणा सूचित करती है। यथा–

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्तः इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टवांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थास्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टवांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्ड – चैतन्यमात्रं लक्षयतीति।

पंचदशी में इस महावाक्य का अर्थ प्रदर्शित करते हुए लिखा है–

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते।।
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्पदीरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्।।

10.3 अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य

अहं ब्रह्मास्मि अनुभव वाक्य है। जब आचार्य अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा तत्त्वमसि वाक्य का

अर्थबोध करा देता है, तब मैं अधिकारी हूँ मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, परमानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्म हूँ इस भाँति अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उदय होती है और यह चित्तवृत्ति चित्प्रतिबिम्ब को धारण कर प्रत्यगात्मा से अभिन्न अज्ञात ब्रह्म को विषय बनाकर ब्रह्मविषयक अज्ञान का बाध करती है।

10.3.1 अहं ब्रह्मास्मि की अनुभव प्रक्रिया

वेदान्त के अधिकारी शिष्य को जब आचार्य अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा तत् व त्वम् शब्दों के अर्थों का संशोधन करके तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण अखण्ड अर्थ का ज्ञान कराता है तब वह अपने सचिदानन्द अद्वय स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। उससे अज्ञान का भद समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को समझाते हुए वेदान्तसार में कहा गया है–

एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।।

यहाँ नित्य पद से ब्रह्म का अनित्यत्व निवारण किया गया है। शुद्ध शब्द से ब्रह्म को अविद्यादिदोषशून्य बताया है, बुद्ध से स्वप्रकाशभ्त होने से जड़ता आदि निषिद्ध किये गये हैं। मुक्त पद से सर्वोपाधिशून्यत्व तथा सत्य शब्द से अनश्वर स्वभाव वाला कहा गया है। परमानन्द से निरतिशय, अविनाशी ब्रह्मानन्द सबसे बढकर है, यह बताया गया है, अनन्त पद से देश, काल एवं वस्तु की दृष्टि से उसका अपरिच्छिन्न होना बोधित किया जाता है तथा अद्वय पद अनेकता का निषेध कर एकता का बोध कराता है। तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ सुस्पष्ट होने के बाद मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि चतुर्मुख ब्रह्मादिपर्यन्त से विलक्षण निरतिशयानन्दस्वरूप, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म के आकार को ग्रहण करने वाली मैं ब्रह्म हूँ इस रूप में जो अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह अपरोक्ष ब्रह्म को विषय बनाने से अपरोक्ष अनुभव साक्षात्काररूप होती है, वह किसी परोक्ष तत्त्व के आकार से आकारित नहीं

होती। आत्मा से अधिक निकट कौन हो सकता ह क्योंकि वह तो स्वयं का स्वरूप ही है अतः तद्विषयक ब्रह्मज्ञान का अपरोक्ष होना ही उचित है।
यह अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उसी शिष्य में उदित होती है जिसने अध्यारोप अपवाद न्याय से तत्त्वमसि महावाक्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है।
वह चित्त के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होती हुई प्रत्यग् से भिन्न अज्ञात, ब्रह्मविषयक उसमें स्थित अज्ञान का ही बाध करती है। तब वस्त्र रूप कार्य के कारण रूप तन्तु के दाह होने पर वस्त्रदाह के समान अखिल संसार के कारणभ्त अज्ञान के बाधित हो जाने पर अज्ञान के कार्यरूप समस्त विकार प्रपंच का बाध होने से तदन्तर्गत चित्तवृत्ति भो बाधित हो जाती ह। जैसा कि वेदान्तसार में लिखा है–

सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्मविषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधित्वात्तदन्तभ्ताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति।। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभ्ता भवति तथा स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभ्तं सत्स्वोपाधिभ्ताखण्डचित्तवृत्ते–र्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।।

वस्तुतः सामान्य ज्ञान म बुद्धि की वृत्ति अर्थात् अज्ञान निवारण व उसका फल चित्त प्रतिबिम्ब या आभास दोनों ही लौकिक ज्ञान में जरुरी हैं लेकिन ब्रह्म प्रत्यक्षीकरण में केवल तद्विषयक अज्ञान निवारण ही अपेक्षित है। चित्त प्रतिबिम्ब आभास की आवश्यकता इसलिए नहीं होती कि वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान् है। उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। चित्तवृत्ति में जो चिदात्मा प्रतिबिम्बित होता है वह चिदाभास या फल कहलाता है। चिदाभास से युक्त होने के कारण ही चित्तवृत्ति अज्ञान का नाश करने में समर्थ होती है, अन्यथा जड़ होने के कारण उसके द्वारा ऐसा कोई भो कार्य नहीं हो सकता। फलतः अखण्डाकाराकारित वह चित्तवृत्ति चिदात्मा के प्रतिबिम्ब चिदाभास से युक्त हो प्रत्यगात्मा से अभिन्न अज्ञात ब्रह्म को विषय बना ब्रह्मविषयक अज्ञानमात्र को नष्ट करती है।

चिदाभास से उत्पन्न होती हुई वह चित्तवृत्ति ब्रह्म को अपना विषय बनाती है। यहाँ परम् शब्द से अज्ञानोपाधि से उपहित कार्य ब्रह्म निषिद्ध हुआ है क्योंकि अज्ञानोपाधियुक्त ब्रह्म अपरब्रह्म कहलाता है। अज्ञातम् पद उस परब्रह्म के विषय बनने को कहा गया है क्योंकि जो ज्ञात नहीं होता है वही प्रमेय हो सकता है तथा प्रत्यग्भिन्न से उनके तटस्थ होने का प्रतिषेध हुआ है। ब्रह्म केवल औपचारिक रूप से ही विषय बनता है। चित्तवृत्ति का ब्रह्म की ओर उन्मुख होना ही यहाँ अभिप्रेत है। अर्थात् जो चित्तवृत्ति गुरुपदेश से पूर्व बाह्य विषयों में लीन रहती थी, अभिमुख होती थी वही वृत्ति आचार्योपदेश से अखण्डकाराकारित बनकर प्रत्यगात्माभिन्न ब्रह्म की ओर अभिमुख होती है यही उससे ब्रह्म का विषयीकरण है। यही 'प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परब्रह्मविषयीकृत' पद का तात्पर्य है।

कारणीभ्त अज्ञान नाश होने पर प्रपंच एवं वृत्ति दोनों ही नष्ट हो जाऐंगे। अज्ञान का नाश होने पर संशय होता है कि अधिकारी जब तत्त्वमसि आदि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्त्विक ज्ञान से अखण्ड चैतन्यवृत्ति के कारण प्रत्यग् चैतन्य स्थित अज्ञान भले ही नष्ट हो जाये किन्तु अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपंच है, वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, इसलिये 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' की स्थिति कैसे हो सकती है ? इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भो नाश हो जाता है। जैसे तन्तुरूप के जल जाने पर पटरूप कार्य भो नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार चराचर प्रपंच का कारण अज्ञान जब नष्ट हो जाता है तो समस्त प्रपंच भो भासित नहीं होता। चिदाभास की उपाधि अन्तःकरणवृत्ति जब अज्ञान और उसके कार्यसमूह का नाश कर स्वयं भो नष्ट हो जाती है तब उसमें स्थित चैतन्य का प्रतिबिम्ब भो आश्रय के नष्ट होने से पृथक् नहीं रह सकता, उस समय केवल बिम्ब ब्रह्म चैतन्य ही रह जाता हैं जिस प्रकार दर्पण में दिखाई

पड़ने वाला मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के हटा लेने पर अलग नहीं रह जाता, किन्तु उस समय मुखमात्र ही शेष रह जाता है।

10.3.2 ब्रह्मानुभव प्रक्रिया में वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा तथा फलव्याप्ति का प्रतिवेध

जैसा कि हम समझ चुके हैं कि ब्रह्मज्ञान प्रक्रिया में चित्तवृत्ति उपयुक्त होती है क्योंकि वह अज्ञान को नष्ट करती है। यहाँ वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा होती है। जब हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो क्रम से दो अवस्थायें होती हैं–1. वृत्तिव्याप्ति तथा 2. फलव्याप्ति।

अन्तःकरण के चक्षु आदि ज्ञानन्द्रियों द्वारा घटादि विषय देश में जाकर ;तत्तदाकार मेंद्ध उस उस विषय के आकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते है। तैजस अन्तःकरण नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वार से निकलकर घटादि विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हीं के आकार में परिणत हो जाता है, इसी को परिणाम वृत्ति कहते है। जब इसी प्रकार अन्तःकरण अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त कर उसी के आकार में परिणत हो जाता है तब इसी स्थिति को ब्रह्म का वृत्ति से व्याप्त होना कहा जाता है। अन्तःकरण के विषय रूप में परिवर्तित होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास अर्थात् चैतन्य या उससे आच्छन्न चैतन्य के द्वारा उस विषय का साक्षात्कार फलव्याप्ति है। कहा भो है– बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामा–वच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्।

सदानन्द योगीन्द्र 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य की अनुभवप्रक्रिया में वृत्तिव्याप्ति को स्वीकार करते हैं लेकिन फलव्याप्ति का प्रतिषेध करते हैं और दो श्रुतिवचनों में विरोध परित्याग हेतु वृत्ति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं– एवं च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वांगीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेध–प्रतिपादनात्। अर्थात् 'मनसैवानुद्रष्टव्य' ;मन से ही द्रष्टव्य हैद्ध एवं 'यन्मनसा न मनुते' ;जो मन क द्वारा नहीं जाना जाताद्ध इस प्रकार के वचनों द्वारा आत्मा को मनोगम्य कहा जाता है तो इस प्रसंग में मन से वृत्ति ग्राह्य है अतः ब्रह्म साक्षात्कार में वृत्ति व्याप्ति अपेक्षित है तथा जब 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि वाक्यों से आत्मा को मन और बुद्धि से अप्राप्य कहा जाता है तो वहाँ इस मन पद स फल को ग्रहण करना चाहिए। अतः ब्रह्म साक्षात्कार में फल व्याप्ति की अपेक्षा नहीं है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश है अतः फल ;चिदाभासद्ध की अपेक्षा ब्रह्म साक्षात्कार नहीं है। इस प्रकार इन श्रुतिवचनों में प्रतीत होने वाला विरोध नष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञान के विषय में अज्ञान नाश के लिए वृत्तिव्याप्ति अपेक्षित है स्वयं प्रकाशक होने के कारण चैतन्य के आभास ;फलद्ध का कोई उपयोग नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है–

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिनिवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।।

अर्थात् इसके लिये शास्त्रकर्ताओं द्वारा फल व्याप्यत्व निवारित किया गया है लेकिन ब्रह्म स्थित अज्ञान के विनाशार्थ वृत्तिव्याप्यत्व अपेक्षित है। जैसे अन्धकार में स्थित घटादि को दिखाने के लिए नेत्र और दीप दोनों की आवश्यकता होती है किन्तु दीपक को दिखाने के लिए केवल नेत्र की आवश्यकता होती है क्योंकि दीपक स्वयं प्रकाश है।

चैतन्याभास में चैतन्य का प्रतिबिम्ब रह जाता है। वह स्वयं ही प्रकाशयुक्त शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, इसलिये उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन होता है। उदाहरण द्वारा इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। यथा गन्दे पानी को साफ करके कतक रेणु अपने आप जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इसे भो समझना चाहिए–

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यां सिद्धिनिर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नरयेज्जलं कतकरेणुवत्।।

किन्तु घट पटादि जड़ पदार्थ के आकार से आकारित वृत्ति इससे भिन्न है– जड़पदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति।

उदाहरणार्थ अयं घटः (यह घड़ा है) इस प्रकार अज्ञात घड़ा विषयक घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर उसमें स्थित अज्ञान विनाश के पश्चात् अपने में स्थित चिदाभास के द्वारा जड़ भो प्रकाशित होता है।

कारिका में भो कहा गया है कि बुद्धि तथा उसमें वर्तमान चिदाभास ये दोनों घडे में व्याप्त रहते हैं। उनमें से धी (बुद्धि) के द्वारा अज्ञान दूर होता है एवं चिदाभास द्वारा घड़ा अभिव्यक्त होता है। जैसा कि कहा है–

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश मण्डल अन्धकार में स्थित घड़ा वस्त्रादि को विषय बनाकर घट विषयक, पट विषयक अन्धकार को दूर करके अपने प्रकाश से उनको अभिव्यक्त करता है। उसी प्रकार घटादि को विषय बनाकर चित्तवृत्ति घटादिविषयक अज्ञान को नष्ट करके पुनः चिदाभास द्वारा घटादिकों को प्रकाशित करती है। यथा –

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।

इस प्रकार अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य चित्तवृत्तिव्याप्ति के द्वारा उस परब्रह्म के साथ जीव के अद्वयभाव को प्रकाशित करता है।

10.3.3 श्रवण,मनन, निदिध्यासन और समाधि की उपयोगिता

जीव को जब तक अपने यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, जब तक वह अपने पारमार्थिक चैतन्यस्वरूप को अनुभव नहीं कर लेता, तब तक उसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन,
समाधि तथा अनुष्ठान का करना आवश्यक है, अतः उनका स्वरूप ज्ञान भो आवश्यक है। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है–

एवंभूतस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं
श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदश्यन्ते।।

आत्म साक्षात्कार के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि ये चार साधन अंगीकार किये गये हैं इस सम्बन्ध में सदानन्द योगीन्द्र बृहदारण्यक को उद्धृत करते हैं–

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्यं बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिः। यहाँ पाण्डित्य से श्रवण, बाल्येन से मनन तथा मुनि से निदिध्यासन का विधान किया गया है।
समाधि का उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है–तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद् भ्यश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। इस मन्त्र में समाधि का वर्णन किया गया है। अर्थात् उस परमात्मा के अभिध्यान से उसमें मनोयोग करने से और तत्त्व की भावना करने से विश्वरूप माया का विकास होता है।

10.3.3.1 श्रवण (षड्लिंग से तात्पर्यनिर्णय)

उपक्रम–उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति नामक छह लिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त सूत्रों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यनिर्धारण करना श्रवण कहलाता है। यथा– श्रवणं नाम षड्विधलिंगैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिंगानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। अर्थात् उक्त श्रुति, युक्ति और अनुभव द्वारा समस्त उपाधि के निरास होने पर प्रत्यगात्मा अभिन्न, परमानन्द, चिद्रूप के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान अपेक्षित होने से वे प्रदर्शित किये जा रहे हैं। छः प्रकार के लिंगों द्वारा समस्त वेदान्तों का अद्वितीय वस्तु मे तात्पर्य का

निश्चय करना श्रवण है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः लिंग हैं।

समस्त वेदवाक्यों का अद्वैत ब्रह्म में ही तात्पर्य है। इसका निश्चय विचारपूर्वक करना चाहिये, अन्धविश्वास से नहीं, यही तात्पर्यावधारण है।

श्रवण को समझने के लिए इन षड्लिंगों का स्वरूप समझ लेना जरुरी है। लिंग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– लीनमर्थं गमयतीति लिंगम्।

जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य रूप जो अर्थ है, उसका बोध कराने के कारण उपक्रमादि लिंग कहलाते हैं।

प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपपादन करना उपक्रम एवं उपसंहार है। अर्थात् जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसके प्रारम्भ का ढंग या स्वरूप उपक्रम है तथा वर्णित विषयों को समेटना या उनके समापन का प्रकार उपसंहार है। इस विषय में सदानन्द कहते हैं– तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। अर्थात् प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपपादन करना उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण प्रतिपाद्य 'अद्वितीय वस्तु एक ही अद्वैत तत्त्व' इस भाँति आदि में, 'वह सब आत्मा का ही है' इस प्रकार अन्त में प्रतिपाद्य विषय का उपक्रम एवं उपसंहार किया जाता है।

प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का बीच बीच में बारबार प्रतिपादन करना अभ्यास है जैसे वहीं छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीय वस्तु का बीच में तत्त्वमसि ;वह तुम होद्ध इस वाक्य का नौ बार प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रतिपाद्य विषय का पुनः पुनः उल्लेख ही अभ्यास है– प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

जिस विषय का प्रतिपादन प्रकरण के अन्तर्गत किया जा रहा है वह अद्वितीय हो उसे किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा न हो, यही अपूर्वता है। पूर्व उदाहरण के अन्तर्गत ही इसे समझा जा सकता है। वहाँ छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए 'उसके विषय में अन्य कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता।' यही उसकी अपूर्वता है। यथा– प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयी–करणम्।

वेदान्तियों एवं मीमांसकों के अनुसार अलौकिक होना ही शास्त्रोपदेश का वैशिष्ट्य है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र की सफलता इसी में है कि वह अज्ञात को उपदिष्ट करें– अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्। उपनिषदों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता। जैसा कि कहा है तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि। इस वाक्य में पुरुष के औपनिषद विशेषण से उसकी उपनिषद् प्रमाणवेद्यता पर प्रकाश पड़ता है। अथवा ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ब्रह्म की अपूर्वता प्रमाणित है–

ब्रह्मणः स्वव्यवहारि स्वातिरिक्त प्रमाणानपेक्षत्वाद् ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः। प्रकरण प्रतिपाद्य विषय का प्रयोजन ही फल होता है। यथा ब्रह्मविषयक प्रकरण में आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का जो प्रयोजन सुनाई दे अथवा दिखाई दे वही फल है। जैसे 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'आचार्यवान पुरुष ही जानता है' उसके लिए तभो तक विलम्ब जानना चाहिए तब तक वह इस शरीर से मुक्त नहीं हो जाता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अद्वैत वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन बताया गया है। यथा– फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र

'आचार्यवान्पुरुषो वेद' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।

जिस उद्देश्य को लेकर प्रतिपादन किया जाता है, उस की प्राप्ति ही फल कहलाता है और जिस प्रतिपाद्य विषयों को समझाना चाहते हैं उसकी स्थान स्थान पर प्रशंसा करना अर्थवाद कहलाता है। जैसे कि ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादन के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतम् भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञानम्' अर्थात् तूने वह उपदेश ब्रह्मस्वरूप को पूछा, जिससे न सुना गया सुने हुये, अचिन्तित चिन्तन किये हुए, अज्ञात वस्तु बोधित वस्तु के सदृश हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्रशंसा की गई है। यही अर्थवाद है। यथा– प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

प्रकरण में प्रतिपाद्य को प्रमाणित करने के लिए जगह जगह वर्णित होने वाली युक्ति ही उपपत्ति कहलाती है। जैसे वहाँ पर सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्। अर्थात् हे सौम्य जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने पर सम्पूर्ण मृण्मय वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। विकार तो वाणी से आरम्भ होने वाला नाम मात्र होता है सत्य तो केवल कारणभ्त मृत्तिका ही होती है, इत्यादि वाक्यों से अद्वितीय वस्तु ;की ही सत्यताद्ध को उपपन्न करने के लिए विकार के केवल वाणी के आश्रित होने में युक्ति का उपस्थापन किया गया है। यथा– प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। तत्र यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

इस प्रकार श्रवणादि साधनों का प्रयोजन है ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ज्ञान और ब्रह्मज्ञान का फल है ब्रह्म की प्राप्ति। 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' और 'आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है', इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जैसा कि नृसिंह सरस्वती का कहना है –

श्रवणादिसाधनानां ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं प्रयोजनं ब्रह्मणो ज्ञानस्य तु तत्प्राप्तिः फलम्।। इस प्रकार श्रवण अर्थात् षड्विध लिंगों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना व उसका अभ्यास करना मुक्ति के इच्छुक जीव के लिए आवश्यक है।

10.3.3.2 मनन

वेदान्तदर्शन में केवल श्रुतियों के अनुरुप तर्क ही ग्रहण योग्य है। जो पुरुष ऋषियों द्वारा किए गए धर्मोपदेश का वेद तथा शास्त्र के अविरोधी तर्कों से अनुसन्धान करता है, वही धर्म के यथार्थरूप को जान पाता है, न कि दूसरा। यह निर्विवाद है कि वेदान्त में श्रुत्यनुकूल तर्क ही आदरणीय होता है। जिसे वेदान्त में मनन की संज्ञा दी गई है। मनन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं– मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। अर्थात् श्रुत अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल तर्कों से निरन्तर विचार करना मनन है। मनन का अर्थ है पूर्वोक्त छः लिंगों द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य है, इस निश्चय रूप श्रवण के बाद वेदान्त के अनुकूल तर्कों से उस अद्वितीय का सतत चिन्तन।

मनन की इस परिभाषा से स्पष्ट ह कि आत्मविद्या के मार्ग में मनुष्य के कपोल कल्पित उच्छृंखल तर्कों का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व केवल उन तर्कों का है, जिनसे वेदान्त की मान्यता का विरोध न हो। यहाँ तो श्रुति से समर्थित तर्क ही ब्रह्मानुभ्ति के सहायक रूप में अंगीकार्य हैं। श्रुति के द्वारा तत्त्वार्थनिश्चय के अनन्तर असम्भावना आदि दोषों के निरास के लिए जिस तर्क का अवलम्बन अपेक्षित है, वही वेदान्त के अनुकूल होता है। जैसा कि पंचदशी में कहा है– युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्।

10.3.3.3 निदिध्यासन

शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त समस्त जड़ पदार्थ को विषय करने वाली विजातीय प्रतीतियों से पृथक् होकर अद्वितीय ब्रह्म की सजातीय प्रतीतियों को प्रवाहित करने को निदिध्यासन कहा जाता है। सदानन्द के अनुसार–

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। अर्थात् विजातीय शरीरादि की प्रतीति से रहित होकर अद्वितीय वस्तु की सजातीय प्रतीतियों को प्रवाहित करना निदिध्यासन है।

नि + उपसर्गपूर्वक ध्यै धातु से सन् प्रत्यय तथा भाव अर्थ में ल्युट् करने पर निदिध्यासन शब्द बनता है। आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थ यहाँ तक कि मनुष्य की बुद्धि भो स्वप्रकाश न होने से जड़ है, अतः सभो अनात्म पदार्थ आत्मा से विजातीय हैं। इसलिये उनकी प्रतोति आत्म प्रतीति से विजातीय है, ऐसी सभो प्रतीतियों का परित्याग कर आत्मविषयक सजातीय प्रतीतियों को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना निदिध्यासन है। इस को पंचदशी में इस प्रकार कहा है–

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।

अर्थात् श्रवण और मनन के द्वारा जब आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता, तब चित्त को उस आत्मस्वरूप में लगाकर उसकी एकतान एकाकार जो वृत्ति अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित की जाती है उस प्रवाहमान आत्मविषयक चित्तवृत्ति को ही निदिध्यासन कहते हैं।

10.3.3.4 समाधि (सविकल्पक, निर्विकल्पक, आठ अंग व चार विघ्न)

व्युत्थान संस्कार का अभिभव तथा निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होने पर जो चित्त का एकाग्रतारूप परिणाम होता है, उसे समाधि कहा जाता है– चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिः। वह दो प्रकार की है– सविकल्पक व निर्विकल्पक। समाधि का विवेचन करते हुए सदानन्द कहते हैं– समाधिर्द्विविधः– सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्–

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम् इति।।

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्त –वृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वा–काराकारितचित्तवत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभदशंका न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सदसद्भावमात्रेणानयोभदोपपत्तेः।। अर्थात् समाधि दो प्रकार की है– सविकल्पक और निविकल्पक। उनमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग के अभाव की अपेक्षा न करके अद्वितीय वस्तु के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में स्थिरीकरण सविकल्पक समाधि है। उस समय मृत्तिका के बने हुये हाथी आदि खिलोने का भान होने पर भो मृत्तिका के भान की तरह द्वैत के भान होने पर भो अद्वैत वस्तु का भान होता रहता है। कहा भो गया है– जो चैतन्य स्वरूप है, आकाश के सदृश है, श्रेष्ठ है, सदा एक समान प्रकाशित है, जन्मरहित , एक, अक्षर, निर्लिप्त और अद्वितीय है, सर्वदा विमुक्त मैं वही ओंकार रूप हूँ। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग के अभाव की अपेक्षा से अद्वैताकार चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में अत्यन्त एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक समाधि है। एस समय जैसे जल में मिलकर जलीभ्त नमक का भान न होकर जलमात्र का ही भान होता है,

उसी प्रकार अद्वैताकार चित्तवृत्ति के अद्वैतरूप हो जाने से उसका भान न होकर अद्वैतमात्र का ही भान होता है। इसी कारण समाधि और सुषुप्ति में अभद की शंका नहीं होती, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान न होने की समानता होने पर भो एक (समाधि) में उसका (चित्तवृत्ति का) अस्तित्व और दूसरे (सुषुप्ति) में उसका (चित्तवृत्ति का) अभाव होने से दोनों का भद उपपन्न हो जाता है।

समाधि के अंग

निर्विकल्पक समाधि के आठ अंग हैं। योगदर्शन में इन्हें योग का अंग मना गया है। अतः स्पष्ट है कि योग की साधन प्रक्रिया अद्वैत को स्वीकार्य है। इन आठ अंगों का विवेचन करते हुए सदानन्द इनका स्वरूप स्पष्ट करते है– अस्यांगानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचयापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव। अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि उपर्युक्त निर्विकल्पक समाधि के अंग हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। हाथ, पाद आदि की किसी विशष स्थिति में स्थापन रूप पद्म स्वस्तिकआदि आसन हैं। प्राणवायु को निगृहीत करने के उपाय रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायम है। इन्द्रियों को अपने विषयों से पृथक् करना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु में अन्तरिन्द्रिय को प्रवृत्त करना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्तरिन्द्रिय की वृत्तियों को रुक रुक कर प्रवाहित होना ध्यान है। समाधि तो उक्त सविकल्पक ही है।

विविध ब्रह्माण्ड को ब्रह्म मानकर इन्द्रियों का दमन यम कहा जाता है। सर्वं ब्रह्मैव का ध्यान कर अहिंसादि यमों का पालन होने से इन्द्रियां साधक के वश में हो जाती है। बाह्य एवं आन्तर के भद से शौच दो प्रकार का होता है। मिट्टी एवं जल से बाह्यशुद्धि तथा विचारों की शुद्धि आन्तर शुद्धि है। हस्तपादादि अवयवों का विशेष स्थिति में स्थिरतापूर्वक रहना आसन है। भोतरी प्राणवायु को बाहर करना, बाहरी वायु को प्राणवायु के रूप में भोतर करना एवं प्राणवायु का भोतर ही अवरोध करना प्राणायाम है। ध्यान काल में अपने अपने विषयों से असम्बद्ध इन्द्रियों का अन्तःकरण के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार है। जहाँ जहाँ मन जाता है वहाँ वहाँ ब्रह्म का ही दर्शन करना एवं उस ब्रह्म में ही मन को समाहित करना सर्वोत्तम धारणा है। समस्त मानवों की बुद्धि के साक्षीरूप में विद्यमान अद्वितीय बह्म में चित्त को निक्षिप्त करना धारणा है। तैलधारा के समान चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न एकरस प्रवाह ध्यान है। समाधि का स्वरूप पहले ही स्पष्ट है यहाँ सविकल्पक समाधि निर्विकल्पक समाधि का अंग है ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

समाधि के विघ्न

समाधि के दो भद किये जा चुके हैं सविकल्पक व निर्विकल्पक। इनमें सविकल्पक में अखण्ड वस्तु के भान के साथ विकल्प अन्यवस्तु का भो भान होता है, किन्तु निर्विकल्पक में किसी विकल्प का भान नहीं होता। अतएव निर्विकल्पक अंगी होता है और सविकल्पक यम आदि के समान उसका अंग होता है। यमनियमादि का अनुष्ठान करने पर भो कभो कभो ऐसी स्थिति बनती है जिनसे निर्विकल्पक की स्थिति अवरुद्ध होती हैं उन स्थितियों को निर्विकल्पक की सिद्धि में विघ्न माना जाता है और उन्हें लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार नामों से कहा जाता है। सदानन्द के अनुसार– एवमस्यांगिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।।

अर्थात् यम आदि उक्त अंगों से युक्त निर्विकल्पक समाधि में चार विघ्न होते हैं— लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न कर चित्तवृत्ति के निद्राग्रस्त हो जाने का नाम है लय। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न कर चित्तवृत्ति द्वारा किसी अन्य वस्तु का अवलम्बन कर लेने का नाम है विक्षेप। लय और विक्षेप के न होने पर भो राग आदि की वासना से स्तब्धता आ जाने के कारण चित्तवृत्ति द्वारा अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने का नाम है कषाय। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करके भो चित्तवृत्ति द्वारा सविकल्पक समाधि के आरम्भ समय में सविकल्पक के आनन्द का स्वाद लेने लग जाने का नाम है रसास्वाद।

समाधि में बाधक इन विघ्नों का विवेचन कर अब इनसे बचने के उपाय बताते हुए सदाननद कहते हैं कि इन चारों विघ्नों से मुक्त चित्त निर्वात स्थान में स्थित दीप के समान अचल होकर जब अखण्ड चैतन्यमात्र को आलम्बन कर स्थित होता है तब निर्विकल्पक समाधि होती है। तात्पर्य यह है कि अन्य विषयों का सर्वथा त्यागकर अखण्ड चैतन्य मात्र को आलम्बन करने वाली चित्त की वृत्ति ही चित्त की समाधि है।

कहा भो गया है कि— लय होने पर चित्त का सम्बोधन करना चाहिए। विक्षिप्त चित्त का शमन करना चाहिए। कषाययुक्त चित्त की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और शमप्राप्त चित्त को विचलित नहीं होने देना चाहिए, उस अवस्था में रस का अनुभव नहीं करना चाहिए और निःसंग होकर प्रज्ञा से युक्त होना चाहिए।

यह भो कह गया है कि जैसे वायुशून्य स्थान में विद्यमान दीप कम्पित नहीं होता वही उपमा अखण्ड चैतन्य मात्र में अवस्थित चित्त की मानी गई है। यथा—

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत् इति।
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता इति च।।

उक्त उपायों से चित्त जब लय आदि उक्त चारों विघ्नों से मुक्त हो जाता है तब ऐसे चित्त की उपमा उस दीप से दी जा सकती है जो निर्वात स्थान में निष्कम्प होकर प्रदीप्त है। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जैसे निवात दीप की ज्वाला अत्यन्त स्थिर होती है एक मात्र ऊपर की ओर अग्रसर होती रहती है ठीक उसी प्रकार निर्विघ्न चित्त किसी अन्य विषय की ओर उन्मुख न होकर एक मात्र अखण्ड चैतन्य में ही प्रवाहमान होता है।

10.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. **वाच्यार्थ**— किसी भी शब्द का मुख्यार्थ वाच्यार्थ कहलाता है।

2. **लक्ष्यार्थ**— जब अभिधा द्वारा शब्द के अर्थ का बोध न हो सके तो रूढि अथवा प्रयोजन से जिस अर्थ का बोध होता है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है।

4. **जहद्लक्षणा**— जहद् लक्षणा वह है जो वाच्यार्थ का पूर्णतः त्याग कर उससे सम्बन्धित अन्यार्थ का बोध कराती है यथा गंगायां घोषः। यही लक्षणलक्षणा कहलाती है।

5. **अजहद्लक्षणा**— वाच्यार्थ को न छोडते हुए उससे सम्बन्धित अर्थ का बोध कराने वाली अजहल्लक्षणा है। यथा—शोणो धावति। यही उपादान लक्षणा है।

6. **जहदजहल्लक्षणा**— वाच्यार्थ के एकदेश का परित्याग कर एकदश को ग्रहण कर अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति जहदजहल्लक्षणा है।

7. **अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति**– अहं ब्रह्मास्मि इस रूप में अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप को धारण करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। क्योंकि ब्रह्म अपरोक्ष नित्य है, इसलिये यह वृत्ति साक्षात्काररूपा अर्थात् अपरोक्ष की अनुभूति के रूप में होती है। परोक्ष वस्तु के आकार को धारण नहीं करती।

8. **वृत्तिव्यप्ति**– अन्तःकरण के चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा घटादि विषय देश में जाकर ;तत्तदाकार मेंद्ध उस विषय के आकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते है।

9. **फलव्याप्ति**– अन्तःकरण के विषय रूप मे परिवर्तित होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास अर्थात् चैतन्य या उससे आच्छन्न चैतन्य के द्वारा उस विषय का साक्षात्कार फलव्याप्ति है।

10.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. महावाक्य कितने हैं? नामाल्लेख कीजिये।
2. तत् पद का वाच्यार्थ स्पष्ट कीजिये।
3. तत् पद का लक्ष्यार्थ स्पष्ट कीजिये।
4. त्वम् पद का वाच्यार्थ स्पष्ट कीजिये।
5. त्वम् पद का लक्ष्यार्थ स्पष्ट कीजिये।
6. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोधक सम्बन्ध कौन कौनसे हैं?
7. फलव्याप्ति से क्या तात्पर्य है?
8. वृत्तिव्याप्ति से क्या तात्पर्य है?

निबन्धात्मक प्रश्न

9. तत्त्वमसि महावाक्य को स्पष्ट कीजिये।
10. त्रिविध सम्बन्ध से तत्त्वमसि महावाक्य के अखण्डार्थ का प्रतिपादन किस प्रकार होता है? स्पष्ट कीजिये।
11. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध में आने वाली शंकाओं का निराकरण कीजिये।
12. अहं ब्रह्मास्मि की अनुभव प्रक्रिया का प्रतिपादन कीजिये।
13. अहं ब्रह्मस्मि के बोध में श्रवण, मननादि की उपयोगिता प्रतिपादित कीजिये।
14. षड्विध लिंगों से अहं ब्रह्मास्मि का तात्पर्यबोध कैसे होता है? स्पष्ट करें।
15. समाधि के आठ अंगों का प्रतिपादन कीजिये।
16. समाधि प्राप्ति में होने वाले विघ्नों का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चार।)ग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् से उद्धृत प्रज्ञानं ब्रह्म, यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् से उद्धृत अहं ब्रह्मास्मि, सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् से संकलित तत्त्वमसि तथा अथर्ववेद के माण्डूक्योपनिषद् से संकलित अयमात्मा ब्रह्म।
2. इकाई संख्या 10.21 देखें।
3. इकाई संख्या 10.2.1 देखें।
4. इकाई संख्या 10.2.2 देखें।
5. इकाई संख्या 10.2.2 देखें।
6. इकाई 10.2.3 देखें।
7. इकाई 10.3.2 तथा 10.6 क्रमांक 9 देखें।
8. इकाई 10.3.2 तथा 10.6 क्रमांक 8 देखें।
9. इकाई संख्या 10.2 सम्पूर्ण देखें।

10. इकाई संख्या 10.2.3 सम्पूर्ण देखें।
11. इकाई संख्या 10.2.4 सम्पूर्ण देखें।
12. इकाई 10.3.1 देखें।
13. इकाई संख्या 10.3.3 देखें।
14. इकाई संख्या10.3.3.1
15. इकाई संख्या 10.3.3.4 का समाधि के अंग नामक बिन्दु देखें।
16. इकाई संख्या 10.3.3.4 का समाधि के विघ्न नामक बिन्दु देखें।

10.6 सारांश

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदान्त के महावाक्यों द्वारा गुरु शिष्य को उस ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश करता है और गुरु द्वारा अवबोधित शिष्य अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करता है। तत्त्वमसि वाक्य उपदेश वाक्य है तो अहं ब्रह्मास्मि अनुभव वाक्य। तत्त्वमसि महावाक्य में तत् व त्वम् पद जहदजहद्लक्षणा से चैतन्य ब्रह्म का बोध कराते हैं। और अहं ब्रह्मास्मि द्वारा जीव अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करता है कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप ब्रह्म हूँ। चित्तवृत्ति ब्रह्म को विषय बनाती है (ब्रह्माभिमुखी होती है) तब ब्रह्म विषयक अज्ञान दूर हो जाता है और इस प्रकार ब्रह्म चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान के कार्य प्रपंच का भो बाध हो जाता है, यही ब्रह्म साक्षात्कार है, इसके लिए चिदाभास अपेक्षित नहीं है। अहं ब्रह्मास्मि के ज्ञान को सुदृढ बनाने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन व समाधि का आश्रय लेना होता है और लय, विक्षेप, कषाय व रसास्वाद रूप विघ्नों से बचना होता है तब साधक जीवन्मुक्त की अवस्था तक पहुँचता है।

10.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वेदान्तसार, (सम्पा.) कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.
2. वेदान्तसार, (सम्पा.) आचार्य बदरीनाथशुक्ल–मोतीलाल बनारसीदास, 2003.
3. वेदान्तदर्शन, डॉ.पूर्णानन्द पूर्णपंथी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर,1999.
4. वेदान्त परिभाषा, (सम्पा.) श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2000.
5. वेदान्तः एक नवीन दृष्टि, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1993.
6. शांकर वेदान्तः एक अनुशीलन डॉ.रमाकान्त आंगीरस, नटराज पब्लिकेशन हाउस, करनाल, 1982.
7. अद्वैतब्रह्मसिद्धि एक अनुशीलन, डॉ.दीर्घाराम रामस्नेही वाङ्मय प्रकाशन, जोधपुर, 1996.
8. भारतीय दर्शन का इतिहास– एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
9. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1991.
10. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1991.
11. सर्वदर्शनसंग्रह, प्रो0 उमाशंकर शर्मा)षि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,1984.
12. भारतीय दर्शन– डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली, 2004.

इकाई—11

जीवन्मुक्त (वेदान्तसार)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 जीवन्मुक्त

11.2.1 जीवन्मुक्त का लक्षण

11.2.2 आत्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त की स्थिति

11.2.3 जीवन्मुक्त का व्यवहार

11.2.4 जीवन्मुक्त के सद्‌गुण

11.3 विमुक्त अथवा विदेहमुक्त

11.3.1 पूर्वतः मुक्त ही विमुक्त

11.3.2 विमुक्त की परमार्थता

11.4 पारिभाषिक शब्दावली

11.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.6 सारांश

11.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देश्य

एम. ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन की एकादश इकाई का उद्देश्य वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। इससे पूर्व आप 'तत्त्वमसि' व 'अहं ब्रह्मास्मि' द्वारा जीव ब्रह्म के ऐक्यभाव को समझ चुके हैं। प्रत्येक दर्शन पुरुषार्थ चतुष्ट्य की चर्चा करता है। प्रत्येक दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति के उपाय और मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन प्रत्येक दर्शन ने किया है। वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म के ऐक्य का बोध ही मुक्ति या मोक्ष है। माया की निवृत्ति होने पर स्वयं के ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति कहलाती है। मुक्ति की दो अवस्थाएं हैं जीवन्मुक्त व विदेहमुक्त। इस इकाई में आप मुक्ति के स्वरूप एवं वेदान्त की जीवन्मुक्त विषयक अवधारणा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के द्वारा आप वदान्त के जीवन्मुक्त विषयक चिन्तन का ज्ञान प्राप्त करेंगे। इस इकाई में आप निम्न बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

- वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त का स्वरूप
- जीवन्मुक्त का लक्षण
- जीवन्मुक्त की स्थिति एवं व्यवहार
- जीवन्मुक्त के सद्‌गुण
- विदेह मुक्त

11.1 प्रस्तावना

दसवीं इकाई में आप तत्त्वमसि व अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य का अध्ययन कर चुके हैं। आप यह भो जान चुके हैं कि साधक इन दोनों वाक्यों द्वारा जीव व ब्रह्म के एक्य का अनुभव कर लेता है और श्रवण, मनन आदि द्वारा इस अनुभव को दृढ बना लेता है। समाधि व उसके अंगों द्वारा वह ब्रह्ममात्र का अनुभव करता है और इस अनुभव के द्वारा ही जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष अथवा मुक्ति का अर्थ आत्मा को अपने ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाना है। आत्मा वस्तुतः ब्रह्म है, परन्तु अज्ञान से प्रभावित होकर वह अपने

को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। यही बन्धन है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। मोक्ष को शंकर ने आनन्द की अवस्था कहा है। आत्मा वस्तुतः मुक्त है। इसलिए मोक्ष का अर्थ प्राप्त हुई वस्तु को फिर से प्राप्त करना कहा गया है– प्राप्तस्य प्राप्तिः। मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करना है। बन्धन को शंकर ने प्रतीति मात्र माना ह।

वेदान्त सिद्धान्त रूप में जीव को परमार्थतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्लेप, असंग तथा उदासीन मानता है। केवल अविद्या के कारण उसमें कर्ता, भोक्ता, सुख,दुःख, बद्ध आदि अनुभ्तियां होती हैं तथा उसका वास्तविक स्वरूप आच्छादित हो जाता है। अतः अविद्या रूपी आवरण को हटाना आर उस आवरण के हटने पर पहले विद्यमान आत्मा के नित्य शुद्ध, बुद्ध रूप का ज्ञान ही मोक्ष है। भारतीय दर्शन में दो प्रकार की मुक्ति की मीमांसा हुई है– जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवनकाल में मोक्ष को अपनाना। विदेह मुक्ति का अर्थ है मृत्यु के उपरान्त, शरोर का नाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति। जीवन्मुक्ति को सशरीर मुक्ति भो कहा जाता है क्योंकि इस मुक्ति में शरीर से सम्पर्क रहता है। भारतीय विचारधारा में बौद्ध, जैन, सांख्य, योग और वेदान्त ने जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को सत्य माना है। जो दार्शनिक जीवन्मुक्ति को मानता हैं वह विदेहमुक्ति को अवश्य मानता है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और विशिष्टाद्वैत सिर्फ विदेहमुक्ति में विश्वास करते हैं।

वेदान्तदर्शन को पढने के अधिकारी वही हैं जिन्हें नित्य और अनित्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान हो, जिन्होंने लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग कर दिया। जो शम, दम, श्रद्धा,समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों से सम्पन्न है और जिसमें मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ इच्छा विद्यमान है अर्थात् जो मुमुक्षु है। जिसमें ये सब योग्यताएं हों वही साधक गुरु के चरणों में वेदान्त की शिक्षा के लिए उपस्थित होता है। साधक को श्रवण, मनन, निदिध्यासन का आश्रय लेकर पूर्वसंचित संस्कारों को नष्ट करना चाहिए। गुरु 'तत्त्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' द्वारा उसे उसके वास्तविक स्वरूप से अवगत कराता है जिसके फलस्वरूप साधक मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ शरीर का नाश नहीं बल्कि अज्ञान का नाश होना है। अतः वह जीवनमुक्ति को मानते हैं। जैसे कुम्हार का चाक बर्तन के बन जाने के बाद काफी समय तक घूमता रहता है वैसे ही मोक्ष प्राप्त होने के बाद भो जीवन चलता है क्योंकि उसमें ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे पहले की गति रोकी जा सके, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता।

11.2 जीवन्मुक्त

अविद्या के नाश के बाद भो पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप शरीर कुछ काल तक जीवित रहता है। इसे जीवन्मुक्ति कहा जाता हैं जीवनमुक्त व्यक्ति संसार में रहता है फिर भो संसार के द्वारा ठगा नहीं जाता। वह संसार के कर्मों में शामिल होता है फिर भो बन्धनग्रस्त नहीं होता। गीता के निष्काम कम को शंकर ने मान्यता दी है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा जीव ब्रह्म का अभदज्ञान होने पर, जीव ब्रह्म की भद बुद्धि से पैदा हुए सम्पूर्ण क्लेशों की निवृत्ति ही नहीं अपितु आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और सच्चिदानन्द ब्रह्म की अनुभ्ति होती है। मुक्तात्मा को किसी प्रकार की आकांक्षा न रहने पर भो वह लोक कल्याणार्थ अनासक्त भाव से कम करता रहता है। आसक्तिपूर्ण कम ही बन्ध का हेतु होता है। पूर्ण ज्ञानी एवं पूर्ण आनन्द को प्राप्त हुआ व्यक्ति आसक्ति से रहित हो जाता है। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वह लाभ, हानि, हर्ष, विषाद से प्रभावित नहीं होता। जीव ब्रह्मैक्य का साक्षात्कार हो जाने से मोक्ष हो जाने पर भो शरीर रह सकता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल है। वह संसार में रहता हुआ भो उससे बाहर है। ऐसे व्यक्ति को जोवन्मुक्त कहते हैं, अर्थात् जीवित अवस्था में ही वह मुक्ति पा जाता है।

तत्त्वज्ञान से अनारब्ध फल वाले क्रियमाण कम का विनाश हो जाता है परन्तु प्रारब्ध कम का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फल भोग करने के लिए शरीर विद्यमान रहता है। जब प्रारब्ध कम समाप्त हो जाता है तो शरीर का भो अन्त हो जाता है।

11.2.1 जीवन्मुक्त का लक्षण

जिसने अपने स्वरूप यानि स्वयं से अभिन्न अखण्ड ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूपाखण्ड ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान होने से अज्ञान और उससे उत्पन्न कार्य में एकत्रित कम, सन्देह, विपर्यय आदि को नष्ट कर दिए, वह सम्पूर्ण बन्धनों से रहित हुआ ब्रह्म में निष्ठावान् जीवन्मुक्त कहलाता है।

जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञान–तत्कार्यसंचितकमसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः। अर्थात् जो साधक अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर उसके विषय में अब तक विद्यमान अज्ञान का बाध कर देता है और अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन कर अज्ञान और अज्ञान के सभो कार्य संचित कम, संशय, विपर्यय आदि का उन्मूलन कर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित हो ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त शब्द का अर्थ ही है जीते हुए मुक्त रहना, कर्मों के बन्धन में न पड़ना। यह स्थिति तभो होती है जब मनुष्य चित्त के कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःख आदि धर्मों को आत्मधर्म समझने का अभ्यास छोड़ देता है और यह तब होता है जब उसे अखण्ड ब्रह्म के साथ अपने आत्मा की अभिन्नता का ज्ञान होकर ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य के बाधक अज्ञानादि का बाध होकर उसे अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही अज्ञान और अज्ञान मूलक सम्पूर्ण प्रपंच की निवृत्ति हो जाती है। जिसके फलस्वरूप साधक चित्तधर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

म ब्रह्म हूँ इस प्रकार अखण्डकाराकारित चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने पर पहले अज्ञान का विनाश होता है, उसके पश्चात् ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जीवन्मुक्त के क्रियमाण कम कर्तृत्वभाव के न होने से बाधित हो जाते हैं, अतः संचित के साथ साथ क्रियमाण के फल भो उसे प्राप्त नहीं होते।

बह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है अथवा नहीं ? जीवनमुक्त ऐसी विकल्प बुद्धि से रहित होता है। उसे ब्रह्म के अस्तित्व को लेकर कोई संशय नहीं रहता। देहादि पदार्थों में आत्मबुद्धि का नाश हो जाता है। वह जीवन्मुक्त ब्रह्म के साथ एकीभ्त हो जाता है अर्थात् उसे ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है।

जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ ऐसा व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से बद्ध रहता है, जबकि जीवन्मुक्त समस्त लौकिक एवं पारलौकिक बन्धनों की श्रृंखला को खण्डित कर निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित रहता है।

11.2.2 आत्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त की स्थिति

जब जीव को ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसका अज्ञान व अज्ञान के समस्त आवरण नष्ट हो जाते हैं और वह अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। जीवन्मुक्त की इस स्थिति का प्रतिपादन श्रुति भो इस प्रकार करती है।–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि यस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस परापर पुरुष का दर्शन हो जाने पर द्रष्टा के हृदय की गाँठ खुल जाती है सब प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सभो कम क्षीण हो जाते हैं।

आत्मा से भिन्न प्रतीत होने वाली सारी वस्तुऐं जिससे अवर हैं, न्यून हैं, जिसकी सत्ता से अतिरिक्त उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उस ब्रह्म से अभिन्न रूप में अपने आत्मा का दर्शन होने पर द्रष्टा के हृदय की गाँठ अर्थात् चित् अचित् का अध्यास मूलक तादात्म्य, उसके समस्त संशय जो ब्रह्म दर्शन के पूर्व मनुष्य के हृदय में स्वभावतः उत्पन्न होते रहते हैं नष्ट हो जाते हैं उसके समस्त कम संचित भज्यमान और क्रियमाण नष्ट हो जाते हैं। कम का समस्त बन्धन समाप्त हो जाता है।

11.2.3 जीवन्मुक्त का व्यवहार

बन्धन युक्त तथा जीवन्मुक्त दोनों ही शरीरेन्द्रियादि से व्यवहार करते हैं तथा दोनों के शरीरेन्द्रिय समान दोष वाले होते हैं लेकिन बद्ध व्यक्ति अज्ञानवश इनके प्रति ममत्व, अहं

भाव रखने के कारण इनके द्वारा होने वाले कर्मों के प्रति कतृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से युक्त होता ह अतः सुख दुःख के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जीवन्मुक्त अज्ञान का नाश होने से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होता है अतः पूर्व वासना से शरीरादि के द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्मों तथा प्रारब्ध कर्मों का वह साक्षीमात्र होता है। दूसरों की दृष्टि में वह इन सबका भोक्ता होता है किन्तु वस्तुतः वह इनसे अलिप्त रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों बन्ध से विलक्षण प्रामाणित होती है।

शरीरेन्द्रियादि की सत्ता प्रारब्ध कर्मों के अधीन है। जब तक प्रारब्ध कम अवशिष्ट हैं, तब तक शरीरादि नष्ट नहीं हो सकते। किसी शक्तिमान पुरुष द्वारा फेंका गया बाण तब तक नहीं रूक सकता जब तक कि उसका वेग कम नहीं होता, वैसे ही जिस आरब्ध विपाक कम के फलस्वरूप यह शरीर उपलब्ध हुआ है, उस कम का वेग जब तक क्षीण नहीं होता तब तक शरीरादि का नाश असम्भव है।

जब कोई साधक जीवन्मुक्त हो जाता है तब समाधि की अवस्था में रहने के समय उसे ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य वस्तु का आभास नहीं होता। उस समय न तो कोई नया कम करता है और न किसी कमफल का भोग ही करता है किन्तु जब समाधि से व्युत्थित होकर लोकव्यवहार में आता है तब अपने शरीर अपनी इन्द्रियों और अपने अन्तःकरण से वही सब काम करता है जो सांसारिक बन्धनों में फँसा अज्ञानी मनुष्य करता है। उसके व्यवहार को स्पष्ट करते हुए सदानन्द कहते हैं– अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनापिपासा–शोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकण इव इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च–

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति

द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः

स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चय इति।।

अर्थात् जीवन्मुक्त व्युत्थान के समय, समाधि से पृथक् रहने की स्थिति में माँस, रक्त, मूत्र, पुरीष आदि के आश्रय शरीर से, अन्धता, मन्दता, अपटुता आदि के आश्रय इन्द्रिय समूह से भ्ख, प्यास, शोक, मोह आदि के आश्रय अन्तःकरण से पूर्व काल की वासना के अनुसार कम करता है और जिन कर्मों की निवृत्ति ज्ञान से नहीं ऐसे परार्थ कर्मों का फल भोग करता है और उन सभो का अनुभव करते हुए भो उनके बाधित होने से उन्हें परमार्थ दृष्टि से नहीं देखता। उसकी यह स्थिति ठीक उसी प्रकार है जैसे इन्द्रजाल को जानने वाला पुरुष इन्द्रजाल को देखते हुए भो यह सत्य है इस रूप में उसे नहीं देखता। श्रुति कहती है कि चक्षुष्मान् अचक्षु की तरह होता है। और श्रोत्रवान् भो श्रोत्रहीन की तरह होता है। कहा भो गया है कि जो सुषुप्ति अवस्था के समान जाग्रत अवस्था में द्वैत को नहीं देखता, अथवा द्वैत को देखते हुए भो उसे अद्वैत रूप में देखता है एवं कम करते हुए भो जो निष्क्रिय रहता है वही आत्मवेत्ता होता है अन्य नहीं, यही वेदान्त का निश्चय है।

जीवन्मुक्त की उपमा उस पुरुष से की गई है जो इन्द्रजाल को इन्द्रजाल क्रिया समझकर देखता है। और इसीलिए उसे परमार्थ रूप से नहीं ग्रहण करता। ठीक यही स्थिति जीवन्मुक्त की होती है वह जगत् को मिथ्या समझते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करता है। सभो कर्मों और व्यवहारों को मिथ्या समझते हुए उन्हें सम्पन्न करता है। सब कुछ करते हुए भो उसका यह निश्चय अक्षुण्ण रहता है कि यह सब मिथ्या है। इनमें किसी की वास्तविक सत्ता नहीं है। वह देखे हुए को न देखे के समान सुने हुए को न सुने हुए के समान जानता है। अर्थात् उसके लिए ये सारी क्रियाऐं मिथ्या हैं।

जो पुरुष जीव और ब्रह्म के ऐक्य को साक्षात् प्रत्यक्ष देखकर सम्पूर्ण भदबुद्धि को समाप्त कर देता है उसकी ब्रह्म दृष्टि इतनी दृढ हो जाती है कि जाग्रत् अवस्था में भो ठीक उसी प्रकार उसे द्वैत का दर्शन नहीं होता जैसे सुषुप्त अवस्था में समस्त इन्द्रियों का अन्तःकरण में लय हो जाने से द्वैत का दर्शन नहीं होता। जीवन्मुक्त जब समाधि अवस्था से उतर कर

लोक व्यवहार में प्रवेश करता है तब अविद्यामूलक प्रपंच संसार के आंशिक अनुवर्तन से शरीर रक्षा के लिए आंशिक कर्मों के करते समय यद्यपि द्वैत का दर्शन करता है किन्तु समाधि संस्कार इतना प्रौढ होता है जिसके कारण उसे द्वैत का भो दर्शन अद्वैत रूप में होता है और वह लोकसंग्रह की दृष्टि से नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों को करता हुआ भो आत्मा वस्तुतः अकर्ता है इस दृढ निश्चय के कारण निष्क्रिय रहता है। जीवन्मुक्त की अवस्था में किए जाने वाले कर्मों का फलभोग नहीं करना पङता है। यही आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त है।

यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को बाधित करता है तथापि मिथ्याज्ञान बाधित होने पर भो संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है। यथा भमवश दीखने वाले दो चन्द्रमाओं का ज्ञान भम की निवृत्ति होने पर संस्कारवश कुछ काल तक बना रहता है, उसी प्रकार अज्ञानवश भासित होने वाले देहेन्द्रियादि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भो पूर्व संस्कारो के कारण कुछ काल तक उनका भम बना रहता है यही बाधितानुवृत्ति है। जीवन्मुक्त में या तो शुभ वासनाओं का अनुवर्तन होता है या शुभाशुभ दोनों के प्रति उपेक्षाभाव उत्पन्न हो जाता है। जीवन्मुक्त का यही उदासीनभाव संसार के प्रपंच से आत्यन्तिक अनासक्ति का परिचायक है। इसक बावजूद जीवन्मुक्त श्रेष्ठ आचरण ही करता है। सदानन्द के अनुसार –

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभ– वासनानामेवानुवृत्तिभवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम् –

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भदोऽशुचिभक्षण इति।।
ब्रह्मविश्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर इति।।

जीवन्मुक्त को ज्ञान होने के पूर्व जैसे आहार विहार आदि की अनुवृत्ति होती है या प्रथमतः विद्यमान आहार विहार आदि की अनुवृत्ति होती है उसी प्रकार शुभ वासनाओं की अनुवृत्ति होती है। अथवा शुभाशुभ दोनों के विषय में उसमें उदासीनता आ जाती है। ऐसा कहा गया है कि जिसने अद्वैत की सत्यता समझ ली है वह भो यदि यथेष्ट आचरण करे तो अपवित्र वस्तु के भक्षण के विषय में कुत्ते और तत्त्वज्ञानी में क्या भद होगा। यह भो ज्ञातव्य है कि जीवन्मुक्त यदि संसारी मनुष्य के समान ही आचरण करता है तो इस बात को छाजड़कर कि उसको ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान है दूसरे को नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है कि वह आत्मवेत्ता है और दूसरा आत्मवेत्ता नहीं है।

सुबोधिनीकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि उक्त आशय के वचनों का तात्पर्य तत्त्वज्ञान की महिमा बताने में है न कि तत्त्वज्ञानियों द्वारा ऐसे कर्मों के किये जाने की सम्भावना की पुष्टि की है। उक्त वचनों का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शुभाशुभ कर्मों से पुण्य और पाप का बन्धन होने का मूल कारण अज्ञान है। जो ब्रह्मज्ञान होने से निवृत्त हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानी द्वारा यदि ऐसे कम कदाचित् सम्भव भो हो तो भो ब्रह्मज्ञानी द्वारा इन कर्मों में प्रवर्तक अज्ञान का नितान्त उन्मूलन हो जाने से तत्त्वज्ञानी की ऐसे कर्मों में प्रवृत्ति सम्भावित ही नहीं है।

11.2.4 जीवन्मुक्त के सद्गुण

ब्रह्मवेत्ता में सभो पवित्र आचार तथा पवित्र वासनायें अनुवर्तित होती हैं, जिनका अभ्यास उसने ज्ञानोदय से पूर्व निरन्तर किया है। उसमें अशुभ वासनाओं के उदय तथा अनुवर्तन होने की सम्भावना ही नहीं क्योंकि उसकी अशुभ वासनायें साधक की दशा में ही अभ्यास से निवृत्ति को प्राप्त हो चुकी हैं। अर्थात् ब्रह्मज्ञान से पहले उसने जिस सदाचार का आचरण किया होता है, उसी का अनुसरण जीवन्मुक्त अवस्था मे भो होता रहता है। इच्छानुसार आचरण के परित्याग का उसका संकल्प अभ्यास दीर्घकालीन अभ्यास से दृढ होता है।

गौतमधर्मसूत्र में लिखा है– समो भ्तेषु हिंसानुग्रहो यः।।

बृहदारण्यकोपनिषद् में उसके स्वरूप के विषय में कहा है– अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः।

जिसका यह निश्चय है कि ब्रह्मज्ञान विषय न होने के कारण जानने योग्य नहीं है यह यथार्थ ब्रह्म का बोध प्राप्त है क्योंकि यह ब्रह्म को अविषय रूप से प्रत्यगात्मा के रूप में जानता है तथा जो मैंने ब्रह्म को जान लिया वह मिथ्यावक्ता है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है। जिसे ब्रह्मज्ञानत्व का अभिमान है, वह तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता तथा जो ब्रह्म ज्ञान के अभिमान से शून्य है, वही यथार्थतः ब्रह्मज्ञान को जानता है।

वह जीवन्मुक्त अभिमान रहित एवं सद्गुणों से युक्त होता है। उसे इन गुणों को अर्जित करने की आवश्यकता नहीं होती ये तो बिना यत्न के ही उसमें प्रकट हो जाते है। इस सम्बन्ध में सदानन्द कहते हैं– तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनायद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालंकारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्–

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।। इति ।। 37।।

जीवन्मुक्तावस्था में अमानित्व आदि ज्ञान के साधन और अद्वेष्टृत्व आदि सद्गुण अलंकार के समान अनुवर्तमान होते हैं। कहा भो है कि आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाने पर अद्वेष्टत्व आदि गुण आत्मज्ञानी को अनायास ही उपलब्ध होते हैं वे साधनरूप नहीं होते।

जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि जैसे ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का उन्मूलन हो जाने के कारण अशुभ कर्मों में जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति नहीं होगी किन्तु उसके समान ही यह भो उचित है कि मान, दम्भ, हिंसा आदि निवृत्त होने से क्षमा, करूणा, सर्वभ्तहितचिन्तन आदि में भो उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अज्ञान ही शुभाशुभ सभो प्रवृत्तियों का मूल है और वह जीवन्मुक्त में ज्ञानोदय के पहले ही समाप्त हो जाता है। तो फिर जीवन्मुक्त में इन प्रवृत्तियों की उपपत्ति कैसे सम्भव है। वेदान्तसार में इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि मान, दम्भ, हिंसा आदि से विरति और क्षमा, करूणा आदि सद्गुणों का उपादान ये सब ज्ञान के साधन हैं। प्राणियों से द्वेष न करना, सभो के हित का चिन्तन करना ये सद्गुण भो ज्ञान के ही उपाय हैं। जीवन्मुक्त पुरुष में जो इनका अनुवर्तन होता है वह जीवन्मुक्त के अलंकाररूप में होता है इनके लिए उसे संकल्प और प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उसमें ये सब अनायास आ जाते हैं। ये अर्जनीय नहीं होते। इस सम्बन्ध में वे वार्तिक कार के वचन को उद्धृत करते हैं कि जिस पुरुष को आत्मतत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है, द्वेष आदि दुर्गुणों के अभाव रूप सद्गुण बिना प्रयत्न से ही उसमें प्रवृत्त होने लगते हैं। ये गुण उसमें साधन रूप से नहीं प्रस्तुत होते अपितु सहजरूप से शोभायमान होकर उसे प्राप्त होते हैं।

11.3 विमुक्त अथवा विदेहमुक्त

वेदान्त मुक्ति को परम पुरुषार्थ मानता है। जब अविद्या का लोप हो जाता है तो यथार्थ आत्मा स्वतः प्रकाशित रह जाती है। मुक्तात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को धारण कर लेता है। आत्मा के विलोप का नाम मोक्ष नहीं है, अपितु चैतन्य के विस्तार तथा प्रकाश के द्वारा अपने अनन्त एवं निरपेक्ष स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने का नाम मोक्ष है। आनन्दमय का साक्षात्कार ही मोक्ष है– अनवच्छिन्नान्दप्राप्तिः। मोक्ष का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व का है– ब्रह्मैव हि मुक्त्यावस्था। वेदान्त परिभाषा में मोक्ष का स्वरूप बताते हुए लिखा है–

आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च।

आनन्दात्मक ब्रह्मप्राप्ति और शोक निवृत्ति ही मुक्ति है। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं है। लोक में प्राप्त विषयगत आनन्द को भो मुक्ति नहीं कहा जा सकता। मोक्ष का स्वरूप निरतिशय सुखात्मक ब्रह्मप्राप्ति कहा गया है। वह मुक्ति ज्ञान से ही साध्य है– स च ज्ञानैकसाध्यः। उपनिषदों में कहा है कि उसी को जानकर मृत्यु से पार हो जाता है। वह ज्ञान तत्त्वमसि आदि वाक्यों से होता है। साथ ही मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में मुक्ति को आत्मा से अविद्या की निवृत्ति कहा गया है– आत्मनि एवाविद्यानिवृत्तिः।

जब तक जीव में विद्या का उदय नहीं होता तब तक वह सांसारिक दुःखों से आबद्ध रहेगा। अविद्या का नाश होने के साथ साथ ही जीव के पूर्वसंचित कर्मों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुःखों से छुटकारा पा जाता ह, यही अवस्था विमुक्त या विदेहमुक्ति की

अवस्था है। इसी का विवेचन करते हुए सदानन्द कहते हैं– किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादी–नामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परम–कैवल्यमानन्दैकरसमखिलभदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते' 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः। अर्थात् बहुत कहने से क्या लाभ? यह जीवन्मुक्त शरीर को जीवित रखने मात्र के लिए इच्छा अनिच्छा और दूसरे की इच्छा से प्राप्त हुए सुख दुःखरूप प्रारब्ध कर्मों के फलों का अनुभव करता है। अन्तःकरणाभास आदि का अवभासक होता है और उसके प्रारब्ध कम के अवसान होने पर प्रत्यगानन्द रूप परब्रह्म में प्राण का लय हो जाने पर अज्ञान, अज्ञान कार्य और उसके संस्कारों का भो विनाश हो जाने से अत्यन्त कैवल्य एक मात्र आनन्दरसमय सम्पूर्ण भदों की प्रतीति से शून्य अखण्ड ब्रह्म होकर अवस्थित हो जाता है। श्रुति कहती है कि – उस जीवन्मुक्त के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। इसी में अर्थात् शरीर के रहते ही ब्रह्म में ही सम्यक् प्रकार से लीन हो जाते हैं। विमुक्त होकर मूलाज्ञान से छुटकारा पाकर विमक्त हो जाता है सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यहाँ तीन प्रकार के प्रारब्ध कर्मों के भोग का विवेचन किया गया है–

1. **स्वेच्छा प्रारब्ध**– न्यायपूर्वक जीविका अर्जन में कष्ट स्वीकार करना स्वेच्छा प्रारब्ध है। इन्हें करने के लिए जो अन्तः प्रेरणा होती है, प्रारब्ध उसका कारण है।
2. **अनिच्छा प्रारब्ध**– मार्ग में जाते हुए बिजली गिर जाना, कोई मूल्यवान् वस्तु प्राप्त होना आदि सुखोपभोग जो अनायास अनिच्छा से प्राप्त हो गए वे अनिच्छा प्रारब्ध है।
3. **परेच्छा प्रारब्ध**– बिच्छु का डंक मार देना, जानकर किसी के द्वारा सताया जाना, आदि दुःख रूप भोग तथा डाक्टर के द्वारा रोगी का रोग निराकरण कर दिया जाना आदि सुख रूप भोग जो दूसरे की इच्छा से उपलब्ध होते हैं वे परेच्छा प्रारब्ध कहलाते हैं। जीवन्मुक्त भो इन तीनों से लिप्त रहता है। भिक्षा के लिए घूमना उसका स्वेच्छा प्रारब्ध, समाधि दशा में शिष्यों द्वारा अन्नादि दिया जाना परेच्छा प्रारब्ध तथा समाधि दशा में अथवा व्युत्थानकाल में पहाड से लुढक जाना अनिच्छा प्रारब्ध है। जीवन्मुक्त में प्रारब्ध कमनाश न होने से अज्ञानलेश की सत्ता का अनुमान होता है। जीवन्मुक्त केवल शरीर स्थिति के लिए ही भोग्य प्रारब्ध फलों का भोग करता है, इन्द्रियों से तृप्त होने के लिए नहीं।

11.3.1 पूर्वतः मुक्त ही विमुक्त

विदेहमुक्ति के पश्चात् जन्म मरण रूप संसारचक्र आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाते हैं इसलिये मुक्त को अन्य शरीर धारण नहीं करना पडता। वस्तुत विदेहमुक्त तो पहले से ही मुक्त आत्मा के अविद्या के आवरण से जनित संसार का बाध होने से नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त परम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार ही है। जैसा कि कहा है–

पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिबन्धस्य संसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्त–सत्यपरमानन्दाद्वयप्रत्यक्षब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यते। अर्थात् पूर्व में भो मुक्त होता हुआ अविद्या आदि के द्वारा उपस्थापित नामरूपात्मक उपाधि के द्वारा अज्ञान के निबन्धन से संसार के आभास का, नित्य शुद्ध बुद्ध स्वरूप ब्रह्म में ही हूँ इस प्रकार अपरोक्षज्ञान से, नाश हो जाने पर विमुक्त कहलाता है। अर्थात् वह तो पहले से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म है, जब उसे यह ज्ञान हो जाता है तो वह विमुक्त कहलाता है। वह कभो बन्धनग्रस्त था ही नहीं, वह तो सदा सर्वदा से मुक्त है बन्धन तो अज्ञानोपाधि द्वारा आभासित होता है।

11.3.2 विमुक्त की परमार्थता

वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है तो उसके सारे सांसारिक बन्धन हट जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतः न तो बन्धन है और न मोक्ष। जैसा कि कहा है– वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः। तथा च श्रुतिः–

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।
न तो निरोध है, न उत्पत्ति, न बन्धन है, न साधक, न मुमुक्षु है न ही कोई मुक्त, यही परमार्थता है क्योंकि वस्तुतः तो एकमात्र अद्वय ब्रह्म ही है और ये सारी सांसारिक क्रीडा उसकी शक्ति माया का विवर्त है।

11.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. **परमकैवल्य**– एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का ही त्रिकालाबाधित अस्तित्व होने से तथा नानात्मक जगत् के अविद्या निर्मित होने से ब्रह्म ही परमकैवल्य कहा जाता है।
2. **देहयात्रामात्रार्थम्**– जीवन्मुक्त केवल शरीर स्थिति के लिए ही भोग्य प्रारब्ध फलों का भोग करता है, इन्द्रियों से तृप्त होने के लिए नहीं।
3. **परावर**– सर्वत्र व्याप्त अर्थात् सर्वात्मन ब्रह्म के।

11.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जीवन्मुक्त का लक्षण क्या है? प्रतिपादित कीजिये।
2. आत्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त की क्या स्थिति होती है?
3. जीवन्मुक्त के व्यवहार का प्रतिपादन कीजिये।
4. जीवन्मुक्त के सद्‌गुण क्या हैं? लिखिये।
5. विमुक्त कौन है? लिखिये।
6. पूर्वतः मुक्त ही विमुक्त है, सिद्ध कीजिये।
7. विमुक्त की परमार्थता का प्रतिपादन कीजिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई संख्या 11.2.1 देखें।
2. इकाई संख्या 11.2.2 देखें।
3. इकाई संख्या 11.2.3 देखें।
4. इकाई संख्या 11.2.4 देखें।
5. इकाई संख्या 11.3 देखें।
6. इकाई संख्या 11.3.1 देखें।
7. इकाई संख्या 11.3.2 देखें।

11.6 सारांश

इस प्रकार वेदान्त ने दो प्रकार की मुक्ति को स्वीकार किया है जब प्रारब्ध कम संस्कार समाप्त हो जाते हैं तो वह जीवन्मुक्त इस लोक में ही अविद्याकृत कम और काम के बन्धनों से विमुक्त होकर विदेहमुक्त हो जाता है और पुनः शरीर धारण नहीं करता। बृहदारण्यक के अनुसार –

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

जीवन्मुक्तावस्था के बाद विदेहमुक्ति प्राप्त होती हैः–

अयं जीवन्मुक्तो जीवन्नेव दृश्यमानाद्रागद्वेषादिबन्धनाद्विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानदेहपाते सति भाविदेहबन्धनाद्विशेषेण मुच्यते।।

योगवसिष्ठ में इस विदेहमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति में भद प्रदर्शित करते हुए कहा गया हैः–

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालासात्कृते।
भवत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव।।

विदेहमुक्ति के पश्चात् जन्म मरण रूप संसारचक्र आत्यन्तिकरूप से निवृत्त हो जाते हैं इसलिये मुक्त को अन्य शरीर धारण नहीं करना पडता है।

निष्कषतः मनुष्य अनेक जन्मार्जित सुकृतों का उदय होने पर जब आत्मोन्मुख होता है और वेद वेदांग के अध्ययन से सम्पूर्ण वेदार्थ का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेता है और काम्य निषिद्ध कर्मों का त्याग कर नित्य नैमित्तिक व प्रायश्चित्त और उपासना कर्मों का सम्पादन कर चित्त को निर्मल बना लेता है और नित्य अनित्य वस्तुओं का विवेक, ऐहिक, आमुष्मिक

फलों के प्रति जिसमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। शमदमादि साधन सम्पत्तियों से सम्पन्न होकर श्रवण मननादि के द्वारा अध्यारोप व अपवाद को जानकर आत्मज्ञान अर्जित कर जीवनमुक्त हो जाता है तब स्वप्रकाश आत्मानन्द के अनुभव में उसे एकनिष्ठता प्राप्त हो जाती है। उस समय किसी सांसारिक भद की भावना उसके मन में नहीं रह जाती। जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग अवशिष्ट रहता है तब तक उसे शरीर को जीवित रखने के लिए कुछ सामान्य क्रियाएं करनी होती हैं किन्तु वह उस अवस्था में भो विशुद्ध ब्रह्म के रूप में ही अवस्थित रहता है। वस्तुतः मूलाज्ञान के निवृत्त होने से सभो बन्धनों से सर्वात्मा मुक्त रहता है।

11.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन का इतिहास– एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
2. वेदान्तसार, (सम्पा.) आचार्य बदरीनाथशुक्ल–मोतीलाल बनारसीदास,2003.
3. वेदान्तसार, (सम्पा.) कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2002.
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली,1991।
5. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,1991.
6. सर्वदर्शनसंग्रह, प्रो0 उमाशंकर शर्मा ऋषि चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,1984.
7. भारतीय दर्शन– डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली, 2004.
8. वेदान्तदर्शन, डॉ.पूर्णानन्द पूर्णपंथी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर,1999.
9. वेदान्त परिभाषा, व्या. श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,2000.
10. वेदान्तः एक नवीन दृष्टि, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1993.
11. शांकर वेदान्तः एक अनुशीलन डॉ.रमाकान्त आंगीरस, नटराज पब्लिकेशन हाउस, करनाल, 1982.
12. अद्वैतब्रह्मसिद्धि एक अनुशीलन, डॉ.दीर्घाराम रामस्नेही वाड्मय प्रकाशन, जोधपुर,1996.

इकाई–12

न्याय–वैशेषिक का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 न्याय–वैशेषिक का परिचय

12.2.1 न्याय

12.2.2 वैशेषिक

12.3 न्याय–दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

12.3.1 प्राचीन न्याय के आचार्य

12.3.2 नव्य–न्याय के आचार्य

12.4 वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य

12.5 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में समानता तथा असमानता

12.5.1 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन समान तंत्र के रूप में

12.5.2 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में अंतर

12.6 न्यायदर्शन के अनुसार षोडश पदार्थ ;1 से 8द्ध

12.7 न्यायदर्शन के अनुसार षोडश पदार्थ ;9 से 16द्ध

12.8 पारिभाषिक शब्दावली

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.10 सारांश

12.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.0 उद्देश्य

एम.ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के भारतीय दर्शन नामक तृतीय प्रश्न पत्र से सम्बन्धित इस इकाई में न्याय–वैशेषिक दर्शन का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय छः आस्तिक दर्शनों में से न्याय तथा वैशेषिक इन दो प्रमुख दर्शनों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- न्याय तथा वैशेषिक के प्रमुख आचार्यो एवं उनके ग्रन्थों की जानकारी आपको होगी।
- न्याय तथा वैशेषिक किस तरह से आत्म–दर्शन, आत्म–कल्याण तथा निःश्रेयस के साधन बनते हैं, इसका आपको ज्ञान होगा।
- साथ ही न्याय दर्शन में स्वीकृत सोलह पदार्थो का स्वरूप आपको पता चलेगा जिनके कि तत्त्वज्ञान को न्याय दर्शन अपवर्ग का साधन स्वीकार करता है।

12.1 प्रस्तावना

दर्शन शब्द दृश् धातु तथा ल्युट् प्रत्यय से मिलकर बना है। भारतीय दर्शन की जब हम बात करते हैं तो दर्शन शब्द दृश्यते अनेन इस व्युत्पत्ति के आधार पर करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय का प्रयोग स्वीकार किया जाता है। इस तरह आत्म दर्शन, मोक्ष या मुक्ति के अन्यतम साधनों के रूप में भारतीय दर्शन प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शनों का आस्तिक एवं नास्तिक भद से विभाजन किया गया है। आस्तिक दर्शन छः है जिन्हें षड् आस्तिक सम्प्रदाय भो कहा जाता है। वे है – न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग,

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों की गणना होती है। वेदों को प्रमाण मानने और न मानने के आधार पर ही आस्तिक दर्शनों को वैदिक दर्शन और नास्तिक दर्शनों को अवैदिक दर्शन भो कहा जाता है।

यद्यपि सभो षट् आस्तिक दर्शनों का मूल स्रोत वेद माना गया है तथापि सूत्रकाल में गौतम आदि महर्षियों ने वैदिक साहित्य में उपलब्ध सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध कर विभिन्न दर्शन–प्रस्थानों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस इकाई में आप महर्षि गौतम द्वारा सूत्रबद्ध न्याय दर्शन तथा महर्षि कणाद द्वारा सूत्रबद्ध वैशेषिक दर्शन के बारे में परिचय प्राप्त करेंगे। आप यह जान सकेंगे कि न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार वह कौनसा उपाय है जिसको जानकर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दुःखों का आत्यन्तिक विनाश कर अपवर्ग, मुक्ति या मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वैसे तो न्याय तथा वैशेषिक अलग–अलग दर्शन हैं लेकिन इतिहासकारों ने इन दोनों को समानतंत्र की संज्ञा भो दी है। इसी इकाई में आपको न्याय तथा वैशेषिक की समानता तथा असमानता की जानकारी भो मिलेगी। साथ ही प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय के भद को भो आप जान सकेंगे।

12.2 न्याय–वैशेषिक का परिचय

12.2.1 न्याय

'न्याय' का व्यापक अर्थ है – विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः– वात्स्यायन–न्यायभाष्य 1/1/1)। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से तथा इस परीक्षा प्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के कारण यह दर्शन न्याय–दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। 'न्याय' शब्द का एक विशिष्ट पारिभाऋषिक अर्थ है – प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पंच अवयव। इस संकीर्ण अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्रमाणों में अन्यतम पदार्थ अनुमान के लिये किया जाता है। इसका दूसरा नाम है – आन्वीक्षिकी, अर्थात् अन्वीक्षा के द्वारा प्रवर्तित होने वाली विद्या। अन्वीक्षा का अर्थ है – 1. प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान तथा 2. प्रत्यक्ष तथा शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत विषय का अनु (पश्चात्) ईक्षण = पर्यालोचन = ज्ञान, अर्थात् अनुमिति। अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम आन्वीक्षिकी है। न्याय सम्मत षोडश पदार्थो का वर्णन इकाई संख्या 12.6 में प्रस्तुत किया जाएगा, जिनके नाम इस प्रकार हैं – प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान।

12.2.2 वैशेषिक

'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' – अर्थात् कणाद दर्शन तथा पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक होते हैं। जैसे शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण है वैसे ही पदार्थों के स्वरूप निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य दर्शन है। 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन की 'वैशेषिक' संज्ञा प्राप्त हुई है। वैशेषिक सम्मत सात पदार्थो का संक्षेप निरूपण इस प्रकार है–

1. **द्रव्य** : महर्षि कणाद के अनुसार क्रिया का आश्रय, गुण का आश्रय अथवा समवायि कारण जो पदार्थ होता है वही द्रव्य कहलाता है। द्रव्य 9 हैं – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।
2. **गुण** : वैशेषिक सम्मत दूसरा पदार्थ गुण है। द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होनेवाला अपितु सापेक्ष कारण होनेवाला पदार्थ गुण है – यह कणाद की परिभाषा है। वैशेषिक दर्शन में चौबीस प्रकार के गुण माने गये है। ये गुण है – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

3. **कम** : वैशेषिक दर्शन का तीसरा पदार्थ कम है। यह द्रव्य तथा गुण आदि पदार्थो से भिन्न तत्त्व है। कम के पांच प्रकार है – उत्क्षेपण (ऊपर की ओर होने वाला कम), अपक्षेपण (नीचे की ओर होने वाला कम), आकुंचन (सिकुड़ना), प्रसारण और गमन।

4. **सामान्य** : सामान्य वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति कराना सामान्य का काम है। जैसे गायों में गोत्व। सामान्य के दो भद माने गये है – पर सामान्य और अपर सामान्य।

5. **विशेष** : विशेष पदार्थ वैशेषिकों का स्वतन्त्र पदार्थ है। अन्य दार्शनिक इसे नहीं मानते। विशेष पदार्थ को सूत्रकार कणाद ने 'अन्त्य' कहा है। यही इसका स्वरूप है। अन्त्य शब्द के अन्तर्गत अन्त शब्द का अर्थ 'नित्य–द्रव्य' और अन्त्य शब्द का अर्थ 'नित्य–द्रव्य में रहनेवाला' मानते हैं।

6. **समवाय** : परस्पर आधार तथा आधेय के रूप में सम्बद्ध दो 'अयुत–सिद्ध' पदार्थों का सम्बन्ध समवाय ह। यह एक नित्य सम्बन्ध है, जो अयुतसिद्ध पदार्थो में रहता है। ऐसे दो पदार्थ जिनमें से एक ऐसा है जो जब तक नष्ट न हो तब तक दूसरे के ही आश्रित रहता है उनको अयुतसिद्ध कहा जाता है। जैसे अवयव–अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान्, जाति–व्यक्ति, विशेष और नित्यद्रव्य।

7. **अभाव** : अभाव पदार्थ कणाद मानते थे या नहीं, यह विषय विवादास्पद है। किन्तु बाद के वैशेषिक आचार्यों ने अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। अभाव चार प्रकार के होते हैं – 1. प्रागभाव – जो कार्य की उत्पत्ति के पहले होता है। 2. प्रध्वंसाभाव – जो कार्य के नष्ट होने पर होता है। 3. अत्यन्ताभाव – इसे नित्य अभाव भो कहा जाता है। 4. अन्योन्याभाव – एक वस्तु का दूसरे में रहने वाला अभाव।

12.3 न्याय दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षो का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धारायें दृष्टिगत होती है। पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है, जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण प्रधान होने से 'पदार्थ मीमांसात्मक' प्रणाली (केटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलॉजिकल) कहते हैं, जिसे गंगेश उपाध्याय ने तत्त्वचिंतामणि' में प्रवर्तित किया है। प्रथम धारा को 'प्राचीन न्याय' तथा दूसरी को 'नव्य न्याय' कहते हैं। अर्थात् प्राचीन–न्याय में पदार्थों की मीमांसा ही मुख्य विषय है, तथा नव्य–न्याय में प्रमाणों का वर्णन और विस्तृत विषय प्रधान है। प्राचीन न्याय और नव्य–न्याय का भद मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है।

विषय–प्रतिपादन में भो दोनों धाराओं में अन्तर है। प्राचीन न्याय का विषय–प्रतिपादन स्थूल है – वह वस्तु के बाह्य रूप को स्पर्श कर रुक जाता है, भोतर प्रवेश नहीं करता। उधर नव्य–न्याय विषय के अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाता है।

12.3.1 प्राचीन न्याय के आचार्य

गौतम– न्यायसूत्र के रचयिता का गोत्र नाम गौतम या गोतम है, व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति इन्हें मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में है। न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थो के उद्देष (नामकथन), लक्षण (परिभाषा) तथा परीक्षण किये गये हैं। इन षोडश पदार्थो के नाम है – प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह–स्थान। इन पदार्थो का उपयोग वादी–प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त–निर्णय के लिए किया जाता है। न्यायसूत्र के निर्माण–काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभद है।

वात्स्यायन (वि.पू. प्रथम शतक) – इन्होंने न्यायसूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना की। सूत्रों के गूढ अर्थो के रहस्य को जानने के लिए भाष्य से बढ़कर अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इससे भो पूर्व कोई व्याख्या–ग्रन्थ था। अनेक

वार्तिकों के उद्धरण तथा व्याख्यान भाष्य के प्रथम अध्याय से पाये जाते हैं। 'त्रिविधमनुमानम्' (न्या. सू. 1/1/5) के व्याख्याप्रसंग में भाष्यकार ने दो प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है। अतः सूत्रकार तथा भाष्यकार के बीच यदि चार सौ वर्ष का अन्तर माना जाय, तो भाष्य का रचनाकाल विक्रमपूर्व प्रथम शतक–सिद्ध होगा।

उद्योतकर (षष्ठ शतक) – इन्होंने दिङ्नाग के कुतर्कों का खण्डन करने के लिए तथा ब्राह्मण–न्याय की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के उद्धेश्य से न्याय भाष्य की व्याख्या के रूप में न्यायवार्तिक लिखा।

वाचस्पति मिश्र (नवम शतक) – के समय में पण्डितमण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गूढार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए वाचस्पति ने 'तात्पर्यटीका' का प्रणयन किया। ये मिथिला के निवासी थे। अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़ कर पंचदर्शनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण है।

जयन्त भट्ट (नवम शतक) – 'न्यायमंजरी मे वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख करने से इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनकी 'न्यायमंजरी' गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला वृत्ति है। विरोधी मतावलम्बियों (विशेषतः चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) का प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा खण्डन अत्यन्त रोचक और साहित्यिक भाषा में किया गया है।

भासर्वज्ञ (नवम शतक) – रत्नकीर्ति ने 'अपोहसिद्धि' में इनके 'न्यायभ्षण' को उद्धृत किया है, तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरूद्धव्यभिचारी' दोष को अपने ग्रंथ में ग्रहण किया है। अतः इनका समय नवम शताब्दी का अन्त है। इनकी एक ही रचना 'न्यायसार' न्यायजगत् में इन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ तथा परमार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धिरूप मुक्ति की कल्पना इनके ये कतिपय सिद्धान्त नैयायिक जगत् में सर्वथा अपूर्व हैं।

उदयनाचार्य (दशम शतक) – उदयन की 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्य टीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है – आत्मतत्त्वविवेक तथा न्यायकुसुमांजली। प्रथम ग्रन्थ में क्षणभङ्ग तथा शून्यवाद का खण्डन कर न्याय–सम्मत आत्मतत्त्व का विस्तृत निरूपण है। 'न्यायकुसुमांजली' तो उदयन के ग्रंथों में मुकुटमणि है। इसमें सांख्यादि वदिक तथा बौद्धादि वेदबाह्य दर्शनों के ईश्वर–निषेधक प्रमाणों का न्यायपक्ष से बड़ा ही मार्मिक खण्डन है। ईश्वर–सिद्धि के विषय में यह तर्कप्रधान ग्रंथ न्यायजगत् में अद्वितीय है।

12.3.2 नव्य–न्याय के आचार्य

गंगेश उपाध्याय (13 शतक) – उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने एक ऐसे नैयायिकरत्न को जन्म दिया जिसने प्राचीन–न्याय की धारा पलट कर 'नव्यन्याय' को जन्म दिया। इनका नाम गंगेश उपाध्याय था, जिसकी रचना 'तत्त्व–चिन्तामणि' न्याय के इतिहास में वास्तव में एक नवीन युग का प्रवर्तक है। गंगेश के हाथों में पुराना पदार्थ–शास्त्र अब सर्वांगपूर्ण प्रमाण शास्त्र में परिवर्तित हो गया। 'तत्त्वचिन्तामणि' की भाषा भो इसी प्रकार अपनी विशिष्टता के लिये विख्यात है।

रघुनाथ शिरोमणि (16वी शताब्दी) – बङ्गीय नैयायिको में रघुनाथ जैसा धुरंधर तार्किक कोई नहीं हुआ। तर्क–विषयक अद्वितीयता के कारण नदिया की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक 'दीधिति' है, जो गंगेश के ''तत्त्वचिन्तामणि' की विवरणात्मक टीका है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में 'दीधिति' ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों, रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्डार है।

मथुरानाथ तर्कवागीश (16 वी शताब्दी) – शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाते है। इन्होंने 'आलोक', 'चिंतामणि' तथा 'दीधिति' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर गूढार्थप्रकाशिनी 'रहस्य' नाम की टीकायें लिखी।

जगदीश भट्टाचार्य (17वी शताब्दी) – मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के सबसे बड़े नैयायिक जगदीश ने 'दीधिति' के ऊपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी, जो सर्वसाधारण में 'जागदीशी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' शब्दशक्ति के ऊपर नितान्त प्रामाणिक और विस्तृत निबन्ध है जिसे पण्डितमण्डली जगदीश का सर्वस्व मानती है।

गदाधर भट्टाचार्य (17वी शती) – इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है 'दीधिति' की बृहत्काय व्याख्या जो सर्वसाधारण में 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होने उदयन के 'आत्मतत्त्वविवेक' के ऊपर तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' के कतिपय भागों पर 'मूलगादाधरी' नामक व्याख्या लिखी है। टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्वपूर्ण विषयों के ऊपर लगभग 52 मौलिक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'शक्तिवाद' विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय एवं समादर के पात्र है।

12.4 वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य

कणाद – 'कणाद' का अर्थ कण भक्षण करने वाला है। ये कपोत की वृत्ति का आश्रयण कर सड़क पर गिरे हुये कणों को

(अन्न के कणों को) खाया करते थे। एतएव 'कणाद' संज्ञा स्वीकृत आहार–निमित्तक है – यह कथन प्राचीन आचार्यो – व्योमशिव तथा श्रीधर – का है। परमाणुवाद के पुरस्कर्ता होने के कारण भो किन्हीं के मत में 'कणाद' संज्ञा की सार्थकता है। भगवान शंकर ने 'उलूक' का रूप धारण कर कणाद को वैशेषिक–शास्त्र का उपदेश दिया था। इसलिए कणाद के दर्शन को औलूक्य दर्शन भो कहा जाता है।

शंकर मिश्र ने कणादरचित वैशेषिक सूत्रों की संख्या 370 मानी है। वे 10 अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कम के लक्षण और विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथमाह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीयाह्निक में अन्त्यद्रव्य–विभाग का, पंचम अध्याय में कम का, षष्ठ अध्याय में वेद प्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, 7वे तथा 8वे अध्याय में कतिपय गुणों का, 9वे अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का, 10 व में सुख–दुख–विभद तथा त्रिविध कारणों का वर्णन किया गया हैं न्यायसूत्रों से तुलना करने पर वैशेषिक सूत्र प्राचीन ठहरते हैं। इनका रचनाकाल तृतीय शतक विक्रम–पूर्व है।

प्रशस्तपाद (छठी शताब्दी) – प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारण रीति से इसे भाष्य कहते हैं, पर यह सूत्रस्थ पदों के उल्लेखपूर्वक उक्तानुक्तचिन्तासमन्वित प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो ग्रन्थकार ने केवल वैशेषिक सिद्धान्तों के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचार को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित किया है। सूत्र के बाद इस दर्शन के इतिहास में सर्वमान्य ग्रन्थ यही 'प्रशस्तपादभाष्य' है। प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ का नाम 'पदार्थधर्म–संग्रह' स्वयं दिया है। यह ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है। ये सिद्धान्त सूत्रों में स्पष्टतः निर्दिष्ट न होने पर भो सर्वथा मान्य है तथा प्रमाणभ्त है। इसके ऊपर विद्यमान व्याख्या सम्पत्ति इसके प्रामाण की निदर्शिका है। कतिपय तथ्यों का आकलन प्रशस्तपाद की मौलिक सूझ का निदर्शन है।

कणाद ने गुणों की संख्या केवल 17 मानी थी, परन्तु प्रशस्तपाद ने इसमें 7 गुणों को जोड़कर 24 कर दी है। परमाणुओं से सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन पदार्थ धर्म संग्रह में पाया जाता है। द्यवणुक, त्र्यणुक आदि की व्याख्या वैशेषिक सूत्रों में न होकर भाष्य में ही है। ईश्वर की स्थापना का श्रेय प्रशस्तपाद को ही दिया जाता है। फलतः वैशेषिक दर्शन के अनेक सम्मान्य सिद्धान्तों की उद्भावना का गौरव भाष्यकार को दिया जाना उचित ही है।

12.5 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में समानता तथा असमानता

12.5.1 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन समान तंत्र के रूप में –

न्याय दर्शन और वैशेषिकदर्शन में इतनी घनिष्ठता है कि दोनो को 'समानतंत्र' कहा जाता है। दोनों को एक संयुक्त नाम 'न्याय–वैशेषिकदर्शन' से भो पुकारा जाता है। दोनों को समानतंत्र निम्नलिखित कारणों से कहा जाता है –

क. न्यायशास्त्र में तर्कशास्त्र का और वैशेषिकदर्शन में तत्त्वमीमांसा का विशद अध्ययन किया जाता है। न्यायदर्शन में तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र दोनों का विवेचन होता है। वैशेषिक तत्त्वमीमांसा न्यायदर्शन के प्रमाणशास्त्र पर आधृत है। न्यायदर्शन भो वैशेषिक तत्त्वमीमांसा को ज्यों–का–त्यों ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार, न्यायदर्शन तत्त्वमीमांसा के लिए वैशेषिकदर्शन पर और वैशेषिकदर्शन तर्कशास्त्र के लिए न्यायदर्शन पर आधृत है।

ख. न्याय और वैशेषिक दोनों ही ईश्वरवादी दर्शन है। न्यायदर्शन में ईश्वर के स्वरूप एवं इसके अस्तित्व के लिए प्रमाणों का विशद विवेचन हुआ है। नैयायिक ईश्वर को विश्व का निमित्तकारण, पालनकर्ता, संहारक, धर्मव्यवस्थापक एवं अदृष्ट का संचालक मानते हैं। वैशेषिकदर्शन भो ईश्वर के इस स्वरूप को ज्यों का त्यों मान लेता है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिए गए नैयायिकों के प्रमाणों को भो वैशेषिको ने अपना लिया है। इस प्रकार, ईश्वरविज्ञान के क्षेत्र में दोनों दर्शन समान विचारधारा अपनाते हैं।

ग. विश्व की उत्पत्ति के विषय में दोनों ही दर्शन 'परमाणुवादी विचार' अपनाते हैं। वैशेषिकों के अनुसार विश्व के निर्मापक तत्त्व परमाणु है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणु स्वयं अचेतन होने के कारण विश्व के निर्माण में असमर्थ है। ईश्वर इन परमाणुओं के योग से विश्व की सृष्टि करता है। वैशेषिकदर्शन के विश्वसंबंधी विचारों को नैयायिक बिना किसी संशोधन के ग्रहण कर लेते हैं।

घ. न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन मोक्ष के स्वरूप को लेकर भो समान विचार रखते है। दोनों के ही अनुसार मोक्ष एक निषेधात्मक अवस्था है, जहाँ दुःखों का पूर्ण विनाश हो जाता है। इस अवस्था में आनंद का भो पूर्ण अभाव रहता है। दोनों के ही अनुसार अज्ञान बंधन का मूल कारण और ज्ञान मोक्ष का साधन है।

ङ. आत्मा के स्वरूप को लेकर भो दोनों दर्शनों में कोई अंतर नहीं है। नैयायिक आत्मा को मूलतः अचेतन मानते हैं। इनके अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। वैशेषिक दार्शनिक नैयायिकों के आत्मा–संबंधी विचार को अक्षरक्षः स्वीकार कर लेते हैं।

च. 'मनस्' के स्वरूप को लेकर भो दोनों दर्शन समान विचार रखते हैं। इनके अनुसार मनस् परमाणुयुक्त कहा जाता है। मनस् की पूर्ण व्याख्या वैशेषिक–दर्शन में हुई है। इसे पूर्ण स्वीकृति देने के कारण ही नैयायिक इसकी पृथक् व्याख्या देने की आवश्यकता महसूस नहीं करते।

छ. दोनों ही दर्शन कार्य–कारण–सिद्धांत के विषय में भो समान विचार रखते हैं। दोनों ही 'असत्कार्यवाद' को अपनाते हैं। असत्कार्यवाद के अनुसार, कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादानकारण में विद्यमान नहीं रहता। नैयायिकों ने इसे सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी है। वैशेषिक दार्शनिक भो असत्कार्यवाद के पक्ष में नैयायिक युक्तियों को अक्षरक्षः मान लेते हैं।

12.5.2 न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में अंतर –

क. न्यायदर्शन चार प्रमाणों को स्वीकार करता है। ये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, किंतु, वैशेषिकदर्शन केवल दो ही प्रमाणों को स्वतंत्र प्रमाण बताता है। ये है – प्रत्यक्ष आर अनुमान। वैशेषिक के अनुसार, उपमान और शब्द अनुमान के ही अंतर्गत आ जाते हैं। इन्हें स्वतंत्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

ख. नैयायिक सोलह पदार्थ मानते है, किंतु वैशेषिकों के अनुसार केवल सात पदार्थ है – 1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कम, 4. सामान्य, 5. विशेष, 6. समवाय और 7. अभाव।

ग. नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, जबकि वैशेषिक समवाय को अनुमेय मानते हैं।

घ. नैयायिक पिठर पाकवादी है जबकि वैशेषिक पीलु पाकवादी है।

12.6 न्यायदर्शन के अनुसार षोडश पदार्थ (1 से 8)

न्यायशास्त्र का मुख्य उद्धेश्य निःश्रेयस–मुक्ति को प्राप्ति है और इसका मुख्य साधन तत्त्व–ज्ञान है। किन पदार्थो का तत्त्व–ज्ञान? इसके उत्तर में न्याय–दर्शन के प्रथम सूत्र में ही गौतम मुनि ने षोडश पदार्थों के नामों का उल्लेख किया है। गौतम–निर्दिष्ट षोडश पदार्थों का नाम तथा क्रम इस प्रकार है–

1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति 16. निग्रहस्थान।

इन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः उपस्थित किया जाता है–

1. प्रमाण – प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के असाधारण कारण को प्रमाण कहा जाता है। इसके द्वारा ही किसी वस्तु का ठीक–ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है। न्याय में ये चार प्रमाण माने गए है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनका विशेष वर्णन 14वीं इकाई में किया जाएगा।
2. प्रमेय – प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं, जो संख्या में बारह हैं – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग।
3. संशय – एक ही धर्मी में विरूद्ध धर्मों का परिज्ञान 'संशय' कहलाता है जैसे स्थाणु (ठूंठ) अथवा पुरुष। एक ही पदार्थ में कुछ तो स्थाणु के धर्म और कुछ पुरुष के धर्म प्रतीत हो रहे हैं। अतः यह संशय उत्पन्न होता है कि यह वस्तु स्थाणु है अथवा पुरुष।
4. प्रयोजन – इससे प्रयुक्त होकर पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रयोजन मुख्यरूपेण सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश है, क्योंकि इन्हीं के लिए सबकी प्रवृत्ति होती है। किसी भो कार्य में प्राणी इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उसके द्वारा उसे सुख की प्राप्ति होगी और दुःख का नाश होगा।
5. दृष्टान्त – जिसके विषय में वादी और प्रतिवादी में किसी प्रकार का मतभद न हो, वह दृष्टान्त कहलाता है। साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ परीक्षक उसे एक रूप से मानते हैं। यह दो प्रकार का होता है – साधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का दृष्टान्त महानस (रसोईघर) तथा वैधर्म्य दृृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का जहाँ अभाव है जैसे तालाब।
6. सिद्धान्त – प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है – सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम।
7. अवयव – अनुमान करते समय जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसके अंगों को अवयव कहते हैं। ये सख्या में पांच होते हैं – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इनकी व्याख्या अनुमान के प्रकरण में आगे की जायगी। (इकाई 14.5)
8. तर्क – व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। व्याप्य के आधार पर व्यापक को प्रमाणित करना ही 'तर्क' है। जैसे, किसी स्थान पर धूएँ (व्याप्य) को पाकर वहाँ अग्नि (व्यापक) की उपस्थिति को सिद्ध करना ही 'तर्क है। यह प्रमाण का अनुग्राहक है।

12.7 न्यायदर्शन के अनुसार षोडश पदार्थ (9 से16)

9. निर्णय – निश्चयात्मक ज्ञान को 'निर्णय' कहते हैं। यह प्रमाणों का फल होता है।

10. वाद – शास्त्रार्थ के समय किसी विवेचनीय विषय पर प्रश्न करनेवाले को 'वादी' और उसके उत्तर देनेवाले को 'प्रतिवादी' कहते हैं। ये दोनों जब तत्त्व के जानने के लिए शास्त्रार्थ (कथा), करते हैं तब इसे 'वाद' कहते हैं। इस कथा का उद्धेश्य होता है तत्त्व का परिज्ञान, वस्तु के स्वरूप की अवगति।

11. जल्प – जब वादी–प्रतिवादी विजय की अभिलाषा से शास्त्रार्थ में जुटते हैं और अपने–अपने पक्ष के समर्थन में अर्थात् अपने ही पक्ष को सिद्ध करने के लिए कथा करते हैं, तो यह जल्पकथा कहलाती है।

12. वितण्डा – जब विजिगीषु का उद्देश्य परपक्ष में केवल दूषण देने का होता है और वह अपने किसी पक्ष की स्थापना नहीं करता, तब यह कथा 'वितण्डा' कहलाती है। 'कथा' का यहां अर्थ है किसी तत्त्व के निर्णय करने के लिए अनेक वक्ताओं के द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में चर्चा या वार्तालाप। यदि यह तत्त्व–निर्णय के ही उद्देश्य से की जाती है, तब यह कथा होती है 'वाद'; परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना होने पर यह होती 'जल्प' और स्वपक्ष की स्थापना से विरहित होकर परपक्ष के खण्डन होने पर यही कहलाती है 'वितण्डा'। कथा के इस त्रिविध भद का यही पारस्परिक अन्तर है।

13. हेत्वाभास – अच्छे हेतु से ही अनुमान यथार्थतः हो सकता है। सत्–हेतु के पांच रूप है। सत्–हेतु के अभाव होने से जो अयथार्थ अनुमान होता है, उसे ही हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास वह है जो सही हेतु की तरह प्रतीत होता है लेकिन सही हेतु नहीं होता। विशेष विवरण आगे किया जायगा। (इकाई संख्या 14.5.4)

14. छल – अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द की किसी दूसरे अर्थ में कल्पना कर दोष देना 'छल' कहलाता है। जैसे किसीने कहा – नवकम्बलोऽयं देवदत्तः (देवदत्त के पास नया कम्बल है)। यहां प्रतिवादी 'नवकम्बल' का अर्थ नौ कम्बलोंवाला अर्थ कर दोष देता है कि इस दरिद्र देवदत्त के पास दो कम्बल भो नहीं है, नौ कम्बलों की तो बात ही अलग ठहरी। अतः यहां 'नवकम्बल' के विभिन्न अर्थ में कल्पना किये जाने से यह छल का उदाहरण हुआ।

15. जाति – असद् उत्तर को जाति कहते हैं। इसके न्यायसूत्र में चौबीस प्रकार बतलाये गए है। 'उत्कष समा' जाति का उदाहरण देखिये। वादी ने कहा, ''शब्द अनित्य है, कृतक (उत्पाद्य) होने के कारण, घट के समान।'' इसपर प्रतिवादी का कथन है, ''यदि कृतकत्व हेतु शब्द घट के समान अनित्य है, तो इसी हेतु के कारण उसी घट के समान शब्द को सावयव भो होना चाहिये।'' इस उदाहरण में शब्द में अविद्यमान सायवयत्व रूप एक नया धर्म बढ़ाया जा रहा है। अतः इस जाति का नाम है – उत्कष समा।

16. निग्रह स्थान – वह पदार्थ, जिसके द्वारा शत्रु को शास्त्रार्थ में पराजय सिद्ध होता है, निग्रह स्थान कहलाता है। 'निग्रह' का शाब्दिक अर्थ है पकड़ना, पराजय। अतः पराजय के हेतु को 'निग्रह स्थान' कहते हैं। न्यायसूत्र में बाईस निग्रह–स्थानों के नाम और लक्षण निर्दिष्ट हैं। एक–दो का निर्देश पर्याप्त होगा। सिद्धान्त से च्युत होना 'अपसिद्धान्त'; विवक्षित से कुछ अधिक कहना 'अधिक'; विवक्षित अर्थ से न्यून होने पर 'न्यून'; प्रकृत विषय से असम्बद्ध अर्थ के कथन पर 'अर्थान्तर'; प्रश्न का उत्तर न सूझ पड़ने पर 'अप्रतिमा' नामक निग्रह–स्थान होता है, जिनके द्वारा वादी पराजित किया जाता है।

12.8 पारिभाषिक शब्दावली

1.	अपवर्ग	:	मोक्ष
2.	आन्वीक्षिकी	:	न्याय दर्शन का ही दूसरा नाम।
3.	अक्षपाद	:	महर्षि गोतम का ही दूसरा नाम।
4.	वादी	:	सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाला।
5.	प्रतिवादी	:	प्रस्तुत सिद्धांत का खण्डन करने वाला।
6.	पक्षाभास	:	जिस स्थान पर साध्य की सिद्धि करनी होती है, उस स्थान को पक्ष कहते हैं। जो वस्तुतः पक्ष नही हो उसको पक्षाभास कहते हैं।
7.	दृष्टान्ताभास	:	दृष्टान्त ;उदाहरणद्ध की तरह प्रतीत हो लेकिन सही दृष्टान्त न हो।
8.	क्षणभङ्ग	:	बौद्धों का क्षणिकता का सिद्धान्त।
9.	शून्यवाद	:	बौद्धों का एक सिद्धान्त।
10.	द्यवणुक	:	दो अणुओं से मिलकर बनने वाला पदार्थ।
11.	त्र्यणुक	:	तीन द्यवणुकों से मिलकर बनने वाला पदार्थ।
12.	पिठरपाक	:	पिठर बर्तन जैसे घट और पाक अग्नि–संयोग से होने वाला परिणाम। आँच पर रखे हुए पिठर में ही अग्नि के परमाणुओं से होनेवाला पाक।
13.	पीलुपाक	:	पीलु परमाणु। आँच पर रखे हुए घट का परमाणुपर्यन्त नाश और फिर पाक।

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर कोष्ठक में लिखिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइये –

1. निम्नलिखित में से आस्तिक दर्शन है –
   (क) जैन (ख) बौद्ध
   (ग) चार्वाक (घ) सांख्य उत्तर (   )
2. सभी शास्त्रों का उपकारक दर्शन है –
   (क) न्याय (ख) वैशेषिक
   (ग) योग (घ) वेदान्त उत्तर (   )
3. पदार्थ धर्मसंग्रह के रचयिता हैं –
   (क) कणाद (ख) गोतम
   (ग) प्रशस्तपाद (घ) गंगेश उत्तर (   )
4. न्याय दर्शन में प्रमेयों की संख्या है –
   (क) सोलह (ख) बारह
   (ग) पांच (घ) सात उत्तर (   )
5. 'सर्वतन्त्र' एक प्रकार है –
   (क) दृष्टान्त का (ख) अवयव का
   (ग) सिद्धान्त का (घ) तर्क का उत्तर (   )
6. वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रमाणों की संख्या है –
   (क) दो (ख) चार
   (ग) तीन (घ) एक उत्तर (   )
7. इनमें से कौनसा पदार्थ 'कथा' का प्रकार नहीं है –
   (क) वाद (ख) जल्प
   (ग) छल (घ) वितण्डा उत्तर (   )

अभ्यास

1. न्याय दर्शन के किन्हीं दो आचार्यो के बारे में बतलाइये। अधिकतम शब्द सीमा –100
2. न्याय तथा वैशेषिक को समान तंत्र क्यों कहा जाता है? दस पक्तियों में उत्तर दीजिए।
3. न्याय दर्शन के किन्हीं तीन पदार्थो का निरूपण कीजिये। प्रत्येक पदार्थ की अधिकतम शब्द–सीमा 5 पंक्तियाँ।

बोधप्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (ग)
4. (ख)
5. (ग)
6. (क)
7. (ग)

अभ्यास

1. देखिये भाग 12.3
2. देखिये उपभाग 12.5.1
3. देखिये भाग 12.6 और 12.7

12.10 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आपने भारतीय दर्शन के न्याय तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बन्धित इतिहास एवं उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है।

भारतीय दर्शनों का आस्तिक एवं नास्तिक भद से विभाजन किया गया है। आस्तिक दर्शन छः है जिन्हें षड् आस्तिक सम्प्रदाय भो कहा जाता है। वे हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों की गणना होती है। वेदों को प्रमाण मानने और न मानने के आधार पर ही आस्तिक दर्शनों को वैदिक दर्शन और नास्तिक दर्शनों को अवैदिक दर्शन भो कहा जाता है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शनों में प्रमुख दर्शन है। 'न्याय' का व्यापक अर्थ है – विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः– वात्स्यायन–न्यायभाष्य 1/1/1)। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से तथा इस परीक्षा प्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के कारण यह दर्शन न्याय–दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। 'न्याय' शब्द का एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ है – प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पंच अवयव।

'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' – अर्थात् कणाद दर्शन तथा पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक होते हैं। जैसे शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण है वैसे ही पदार्थों के स्वरूप निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य दर्शन है। 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन की 'वैशेषिक' संज्ञा प्राप्त हुई है।

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षो का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धारायें दृष्टिगत होती है। पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है, जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण होने से 'पदार्थ मीमांसात्मक' प्रणाली (केटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलॉजिकल) कहते हैं, जिसे गंगेश उपाध्याय ने तत्त्वचिंतामणि' में प्रवर्तित किया है। प्रथम धारा को 'प्राचीन न्याय' तथा दूसरी को 'नव्य न्याय' कहते हैं।

न्यायदर्शन के प्रसिद्ध आचार्यो में सूत्रकार गौतम, वात्स्यायन वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि प्रमुख है। नव्य न्याय के आचार्यो में गंगेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि आदि प्रमुख है।

वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्यो में कणाद, प्रशस्तपाद आदि प्रमुख आचार्य है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन को समान तंत्र भो कहा जाता है। लेकिन समान तंत्र होते हुए भो उन दोनों के अपने–अपने अलग सिद्धान्त भो है।

इस इकाई में न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों के बारे में आपको जानकारी दी गई है जिनके कि तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती ह। वे सोलह पदार्थ निम्न है 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा 13. हेत्वाभास,14. छल, 15. जाति 16. निग्रहस्थान।

12.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. न्याय सूत्र,प्रो० दयाकृष्ण,चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1973.
2. न्यायसिद्धांतमुक्तावली,गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली,2011.
3. तर्क भाषा : व्याख्याकार – श्री बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1973.
4. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1942.
5. भारतीय दर्शन का इतिहास – भाग–1 एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1978.

इकाई–13

त्रिविध कारण (तर्कभाषा)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 कार्य–कारण–सिद्धांत – सामान्य परिचय
13.2.1 परिणामवाद
13.2.2 विवर्त्तवाद
13.2.3 शून्यवाद
13.2.4 आरम्भवाद
13.3. कार्य
13.4 त्रिविध कारण
13.4.1 कारण लक्षण
13.4.2 अन्यथासिद्ध
13.5 कारण के भद – समवायिकारण
13.6 असमवायिकारण
13.6.1 कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति
13.6.2 कारणैकार्थप्रत्यासत्ति
13.7 निमित्त कारण
13.8 पारिभाषिक शब्दावली
13.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.10 सारांश
13.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

एम.ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के भारतीय दर्शन नामक तृतीय प्रश्न पत्र सम्बन्धित इस 13वीं इकाई में न्याय–वैशेषिक के कार्य–कारण–सिद्धान्त से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भारतीय दर्शन में कार्य–कारण–सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- न्याय वैशेषिक दर्शन के कार्य तथा कारण का स्वरूप तथा उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- अन्य दर्शनों में उल्लिखित द्विविध कारण से भिन्न न्याय–वैशेषिक सम्मत त्रिविध कारणों की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जो कि पूर्व इकाई में वर्णित पदार्थो को समझने में अत्यन्त उपयोगी है।

13.1 प्रस्तावना

यह जगत् परमार्थ–दृष्टि से सत्य हो या मिथ्या, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसका सबको अनुभव होता है। अतः सभो दार्शनिकों का यह एक आवश्यक विषय रहा है कि वे इस प्रत्यक्ष जगत् की तर्कसंगत व्याख्या करें। परिवर्तन, अर्थात् प्रति क्षण किसी वस्तु की उत्पत्ति और किसी का विनाश, इस जगत् का अनुभव–सिद्ध स्वभाव है। इसलिए यह प्रश्न बहुत ही सहज है कि इस जगत् में होने वाला उक्त परिवर्तन कैसे होता है।

दूसरे शब्दों में, यह परिवर्तन आकस्मिक है, बिना किसी कारण के हो जाता है, या इसका कुछ कारण है? चिरकाल से इस प्रश्न के विषय में विचार–विमर्श होते आ रहे हैं। विभिन्न विचारक अपने अपने दृष्टिकोण से समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रश्न के समाधान के रूप में 'कालवाद', 'स्वभाववाद', 'नियतिवाद', 'यदृच्छावाद', 'भ्तवाद', 'पुरुषवाद' का उल्लेख मिलता है। न्यायसूत्र में गोतम ने भो अनेक वादों का निर्देश किया है जिनमें कुछ तो उपनिषद् के वादों के ही नामान्तर है और कुछ अतिरिक्त वाद भो है। उपर्युक्त वादों में 'स्वभाववाद', जिसे न्यायसूत्र में 'अनिमित्तवाद' कहा गया है, चार्वाकों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार उक्त परिवर्तन स्वभावतः, अपने आप हो जाता है, इसका कोई कारण नहीं है। अन्य वाद भो किसी न किसी रूप में कार्य–कारण–सिद्धान्त से दूर ही है। कार्य की उत्पत्ति में नियमितता को देखकर कार्य–कारण–सिद्धान्त की अनिवार्यता सुस्पष्ट है। इसलिए दार्शनिकों ने उपर्युक्त सभो वादों की उपेक्षा कर कार्य–कारण–सिद्धान्त पर आश्रित पक्षों का अवलम्बन अपने–अपने तर्क के आधार पर किया है।

13.2 कार्य–कारण–सिद्धांत–सामान्य परिचय

दार्शनिक सम्प्रदायों में भो कार्य–कारण–सिद्धान्त की एकरूपता नहीं है। कार्य–कारण का सम्बन्ध क्या है? क्या कार्य कारण से पूर्ण रूप में अभिन्न है या दोनों परस्पर भिन्न हैं? कार्य किसी भावात्मक कारण से उत्पन्न होता है या अभावात्मक कारण से। कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में मतभद के आधार पर दार्शनिकों के कार्य–कारण–सिद्धान्त में विभिन्नरूपता आ गई है। दार्शनिकों में भो सांख्य, वेदान्त, बौद्ध ;माध्यमिकद्ध और न्याय–वैशेषिक मुख्य हैं जिन्होंने इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सांख्य का सिद्धान्त 'परिणामवाद', वेदान्त का 'विवर्त्तवाद', बौद्ध का 'शून्यवाद' और न्याय–वैशेषिक का 'आरम्भवाद' नाम से प्रसिद्ध है।

13.2.1 परिणामवाद

परिणामवाद शब्द का अर्थ है वास्तविक परिवर्तन। यह वाद सत्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों (प्रकृति) से इस जगत् का उत्पादन मानता है। प्रकृति भो सत्य है और जगत् भो। प्रकृति कारण है और जगत् कार्य। कारण और कार्य में तादात्म्य है, अर्थात् कुछ दृष्टियों से भिन्नता और कुछ मौलिक दृष्टियों से अभिन्नता। उत्पादन किसी असत् पदार्थ का नहीं हो सकता है। बालू से तेल कभो नहीं निकलता। हाँ, इतना तो सत्य है कि साधनों का निमित्त कारणों के उपयोग के प्ूर्व तिल में तेल अव्यक्तावस्था में रहता है और उपयोग के बाद व्यक्तावस्था में आ जाता है। इसलिए उत्पादन का अर्थ किसी असत् कार्य का उत्पादन नहीं है, अपितु सूक्ष्म रूप में पहले से ही वर्तमान सत् कार्य की मात्र अभिव्यक्ति है। इसे 'सत्कार्यवाद' भो कहते हैं। यह सांख्य दर्शन का मत ह।

13.2.2 विवर्त्तवाद

विवर्त्त मिथ्या परिवर्तन को कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त का मत है कि यह जगत् वास्तविक नहीं है। यह तो माया के प्रभाव से ब्रह्म का ही अवास्तविक परिवर्तन अर्थात् विवर्त्त है। जब तक माया का जाल बना रहता है तभो तक यह जगत् दीखता है। किन्तु जिस क्षण यह जाल समाप्त हो जाता है, इसका कहीं कुछ पता नहीं रह जाता।

परिणाम और विवर्त्त दोनों के अनुसार जगत् अपने मूल रूप में, अर्थात् परिणाम के अनुसार प्रलय के समय प्रकृति के रूप में और विवर्त्त के अनुसार नाश के बाद ब्रह्म के रूप में, प्रस्तुत हो जाता है। फिर भो दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि परिणाम में जब तक जगत् अलग दीखता है तब तक भो उसकी सत्यता है जबकि विवर्त्त में यह स्थिति नहीं है।

13.2.3 शून्यवाद

यह माध्यमिकों का सिद्धान्त है। शून्य का अर्थ अभाव नहीं है। यह भावात्मकता, अभावात्मकता आदि कल्पनाओं से परे होने के कारण शून्य है। अविद्या की सहायता से इसी शून्य की कल्पना यह जगत् है।

13.2.4 आरम्भवाद

यह न्याय–वैशेषिक का सिद्धान्त है। यह पक्ष सांख्य की तरह कारण अर्थात् उपादान कारण में सूक्ष्म रूप में पहले से वर्तमान कार्य की स्थूल रूप में अभिव्यक्ति का विरोधी है। कार्य पहले असत् है। फिर निमित्त कारण की क्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है। उत्पन्न कार्य सत् है। न्याय दर्शन में कारण में उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। इसलिए यह पक्ष 'असत्कार्यवाद' नाम से भो प्रसिद्ध है। इसका मूल स्वरूप यही है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु के नित्य–निरवयव परमाणुओं से द्वयणुक आदि के क्रम से इस भोतिक जगत् की उत्पत्ति हुई है। सत् एवं नित्य परमाणुओं से उत्पन्न होने वाला जगत् स्वभावतः सत् है। इसका आदि भो होता है और अन्त भो। इस पक्ष को 'आरम्भवाद' इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार अवयवों का संयोग कार्य का असमवायि कारण होता है और उसे 'आरम्भक संयोग' कहा जाता है। कार्य का आरम्भ अर्थात् उपादान करने के कारण इस संयोग को आरम्भक संयोग कहना भो उचित ही है। 'आरम्भवाद' एक कार्य–कारण–सिद्धान्त पर आश्रित वाद है। अतः कार्य और कारण के स्वरूप का परिचय आवश्यक है।

13.3 कार्य

कार्य प्रागभावप्रतियोगी अर्थात् कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी है। न्याय–वैशेषिक असत्कार्यवादी है, अर्थात् निमित्त कारण की क्रिया से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण में किसी भो रूप में विद्यमान नहीं रहता, वे इस सिद्धान्त को माननेवाले हैं। पीछे चलकर निमित्त कारण की क्रिया से कार्य की उत्पत्ति होती है। वह सत् हो जाता है। किसी वस्तु का उत्पत्ति से पहले जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व चूँकि उपादान कारण में अस्तित्व नहीं रहता है इसलिए उस समय उपादान में कार्य का प्रागभाव रहता है। जिसका अभाव होता है उसे अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। इसलिए प्रागभाव के प्रतियोगी को न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'कार्य' कहा जाता है। जिसकी उत्पत्ति होती हो वह कार्य है।

13.4 त्रिविध कारण

पूर्व इकाई 14 में आप प्रमाण के विषय में पढ़ चुके हैं। 'प्रमाणकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाण लक्षण को समझाने के लिए 'करण' का लक्षण तर्कभाषा में 'साधकतम करणम्' किया है। इस लक्षण के द्वारा 'साधकतम (प्रकृष्ट) कारण' को 'करण' बताया गया है। किन्तु जब तक 'कारण' के ही स्वरूप का परिचय न हो तब तक 'प्रकृष्ट कारण' अर्थात् करण का ज्ञान हो पाना कठिन है अतः त्रिविध–कारण बताने से पूर्व यहाँ कारण का स्वरूप (लक्षण) प्रस्तुत किया जा रहा है।

13.4.1 कारण लक्षण

अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्

अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति जिसके बिना न हो सके (अनन्यथासिद्ध), वही कारण है। कारण के लिए अनिवार्य है कि वह कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान हो। इसलिये कारण को अनन्यथासिद्ध होने के साथ–साथ 'कार्य–नियत–पूर्ववर्त्ती' भो कहा गया है।

13.4.2 अन्यथासिद्ध

अन्यथासिद्ध कौन–कौन से पदार्थ किसी कार्य के लिए हो सकते हैं, इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि कार्य से पूर्ववर्ती होने पर भो जिस किसी के बिना कार्य की उत्पत्ति हो जाती हो वह अन्यथासिद्ध है। विश्लेषण की दृष्टि से आचार्यो ने अन्यथासिद्ध के पाँच भद माने हैं।

1. किसी कार्य के कारण में रहनेवाला वह सामान्य धर्म अन्यथासिद्ध है जो कारण का स्वाभाविक धर्म, कारणतावच्छेदक हो जैसे घट कार्य के प्रति कपालत्व अन्यथा सिद्ध हैं। घट का कारण कपाल (घड़ा का एक भाग) है। यह कपाल होने के नाते घट का कारण है। इसी को संस्कृत में 'कपालत्वेन रूपेण' कहेंगे। यही कपालत्व कपाल में

घट की कारणता का अवच्छेदक या नियामक है। यह अन्यथासिद्ध है, क्योंकि कपालत्व के बिना कपाल के अस्तित्व के असम्भव होने पर भो घट का अस्तित्व मात्र कपाल के बिना असम्भव है, कपालत्व के बिना नहीं।

2. कारण के रूप आदि दूसरे प्रकार के अन्यथासिद्ध है जैसे घट कार्य के प्रति कपालरूप अन्यथा सिद्ध है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार और तर्क से भो घट के निर्माण के लिये कपालों की आवश्यकता है, कपालो के रूप आदि की नहीं। जो व्यक्ति मात्र घड़ा बनाना चाहेगा वह केवल कपाल ढूँढेगा, वे कपाल लाल हों या काले, इस विषय पर उसका विशेष ध्यान नहीं जायेगा। यह तो उसके लिये विशेष महत्व का होगा जो लाल या काला घड़ा बनाना चाहेगा। अतः कपाल का रूप घट के रूप के लिये आवश्यक है, घट के लिये नहीं। इसीलिए कपाल का रूप घट की उत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है।
3. जिस वस्तु को हम प्रस्तुत कार्य से भिन्न कार्य के कारण के रूप में जानने के बाद ही प्रस्तुत कार्य से पूर्ववर्ती जान सकें, वह तत्त्व भो अन्यथासिद्ध है जैसे घट कार्य के प्रति आकाष अन्यथा सिद्ध है। न्याय–वैशेषिक आकाश को शब्द के समवायि कारण के रूप में अनुमेय मानते हैं, प्रत्यक्ष नहीं। जब घट की उत्पत्ति का प्रश्न उठता है तब आकाश अन्यथा–सिद्ध हो जाता है, क्योंकि आकाश को घट से पूर्ववर्ती हम तभो समझ पाते है जब हम पहले शब्द के आश्रय के रूप में उसका अनुमान कर लेते है। इसलिए घट क लिये आकाश अन्यथासिद्ध है।
4. कारण का कारण भो अन्यथासिद्ध है। जैसे घट कार्य के प्रति कुम्भकार का पिता अन्यथा सिद्ध है। घट का उत्पादक कुम्भकार है। कुम्भकार का उत्पादक उसका पिता है। किन्तु उसका पिता घट के लिये अन्यथासिद्ध है। तभो तो कुम्भकार के पिता के अभाव में भो घट का उत्पादन निर्विघ्न होता रहता है।
5. इन चार के अतिरिक्त वह अन्यथा सिद्ध है जो निश्चित रूप में अनिवार्य तत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्व हो, भले ही वह कार्य के पूर्व वर्तमान हो। घड़ा बनाने के लिये मिट्टी किसी भो साधन से लाई जा सकती है। कोई विशेष साधन अनिवार्य नहीं है। इसलिए मिट्टी लाने के सब साधन, सामान्य रूप में, घट के लिये अन्यथासिद्ध है। इनमें रासभ (गधा) आदि को सम्मिलित किया जाता है।

13.5 कारण के भेद – समवायि–कारण

अन्य दर्शनों में कारण के दो ही भद किये गये है – उपादान कारण एवं निमित्त कारण। किन्तु न्याय–वैशेषिक दर्शन में समवाय पदार्थ के स्वीकार के आधार पर कारण के तीन भद माने गये है :– समवायि कारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण।

समवायि कारण –

जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का अर्थात् अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले कार्य का 'समवायिकारण' होता है। न्याय–वैशेषिक शास्त्र के कारणवाद के अनुसार तन्तुओं में 'पट' नामक कार्य उत्पन्न होता है। साँख्य के परिणामवाद के अनुसार न्याय–वैशेषिक यह नहीं मानता कि तन्तु ही पट के रूप में बदल जाते हैं। प्रत्युत न्याय–वैशेषिक के अनुसार कारण तन्तु भो बने रहते हैं और एक नयी वस्तु 'पट' और उत्पन्न हो जाती है जो पहिले नहीं थी अर्थात् 'तन्तु' और 'पट' दो भिन्न भिन्न वस्तु है जिनमें से 'पट' तन्तुओं में ही रहता है अर्थात् तन्तुओं के बिना कभो नहीं पाया जाता। इसलिये तन्तुओं और पट का समवाय सम्बन्ध माना जाता है। तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये 'तन्तु' 'समवायी' है और 'पट' उनमें 'समवेत' है। इस प्रकार कार्य अपने कारण में समवेत होता है। इसलिये कारण का लक्षण यह किया गया कि जिसमें कार्य समवेत हो वह 'समवायिकरण' होता है।

13.6 असमवायि–कारण

असमवायि कारण का लक्षण यह है कि 'जो समवायि–कारण' में प्रत्यासन्न हो अर्थात् कार्य के साथ–साथ रहता हो वह असमवायि–कारण है। जैसे पट का समवायि–कारण तन्तु है और तन्तु–संयोग अर्थात् 'तन्तुओं का परस्पर संयोग' असमवायिकारण है क्योंकि तन्तुओं के संयोग होने पर ही पट उत्पन्न होता है। तन्तुसंयोग में पट के असमवायिकारण होने का लक्षण इस प्रकार घटता है कि पट के समवायिकारण हैं – 'तन्तु', उन तन्तुओं में तन्तुसंयोग रहता है क्योंकि 'तन्तु संयोग' गुण है वह अपने आधारभ्त् द्रव्य अर्थात् तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। परन्तु लक्षण में केवल 'रहना मात्र' (वृत्तिमात्र) नहीं कहा गया, प्रत्युत 'साथ–साथ रहना' अर्थात् अपने कार्य के साथ–साथ रहना कहा गया है। असमवायिकारण का कार्य यहां 'पट' है और वह भो 'तन्तुओं' में रहता है क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है तन्तु उस पट के समवायिकारण है और अपने समवायिकारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहा करता है। इस प्रकार 'पट' अपने समवायिकारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहेगा। इस प्रकार तन्तुओं में असमवायिकारण तन्तुसंयोग और असमवायिकारण का कार्य पट दोनों ही साथ साथ रहते हैं अर्थात् प्रत्यासन्न हैं। इस प्रकार पट के समवायिकारण तन्तु में पट और उसके असमवायिकारण 'तन्तु संयोग' दोनों के साथ साथ रहने अर्थात् 'प्रत्यासन्न' होने से 'जो समवायिकारण' में कार्य के साथ–साथ रहता हो (प्रत्यासन्न)' यह असमवायिकारण का लक्षण पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग में ठीक ठीक घट गया।

13.6.1 कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति

'प्रत्यासत्ति' का अर्थ है कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ साथ रहना, यहां यह बतलाया गया कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ साथ रहना दो प्रकार से हो सकता है।

कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति अर्थात् (जिसके असमवायिकारण का विचार हो रहा है) वह कार्य अपने असमवायिकारण के साथ एक अधिकरण अर्थ) में रहे। जैसे कि 'पट' का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' अपने कार्य पट के साथ एक अधिकरण तन्तु में साथ साथ रहते हैं।

कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति को निम्न मानचित्र से भो समझा जा सकता है –

यहां 'तन्तु', 'पट' और 'तन्तुसंयोग' दोनों का समवायिकारण है, और 'तन्तुसंयोग' 'पट' का असमवायिकारण है।

'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् कार्य–पट, का अपने असमवायिकारण– तन्तुसंयोग, के साथ साथ एक अधिकारण–तन्तु में, (जो कि पट–कार्य का समवायिकारण भो है) रहना निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है–

यहाँ 'तन्तु' नामक एकाधिकरण में 'पट' जो कि कार्य है वह, और उसका असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' दोनों साथ साथ रहते हैं। यद्यपि बड़े वृत्त के भोतर दो छोटे वृत्त, जो कि असमवायिकारण 'तन्तु–संयोग' और उसके कार्य 'पट' को प्रकट करते है, समझाने के लिए अलग अलग दिखाए गए हैं, तथापि वस्तुतः यह स्पष्ट है कि 'तन्तु–संयोग' और 'पट' की जगह अलग अलग नहीं हो सकती।

13.6.2 कारणैकार्थप्रत्यासत्ति

कारणैकार्थप्रत्यासत्ति अर्थात् असमवायिकारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अधिकरण (अर्थ) में रहे जैसे 'पटरूप का' असमवायिकारण 'तन्तुरूप' है। यहां पर कार्य अर्थात् पटरूप और उसका असमवायिकारण अर्थात् तन्तुरूप एक अधिकरण में साथ साथ नहीं रहते, क्योंकि 'कार्य' – पटरूप–'पट' मे रहता है और 'असमवायिकारण'– तन्तुरूप – 'तन्तु' में रहता है। परन्तु पटरूप का 'समवायिकारण' जो 'पट' और पटरूप का 'असमवायिकारण' जो 'तन्तुरूप', वे दोनों साथ साथ 'एक अधिकारण' अर्थात 'तन्तु' में रहते हैं। इस प्रकार यहां पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप की अपने कार्य अर्थात् पटरूप के समवायिकारण पट के साथ प्रत्यासत्ति है। अर्थात् वे दोनों – पट और तन्तुरूप – एक जगह अर्थात् तन्तु में साथ साथ रहते है। यह स्पष्ट ही है कि तन्तुरूप अपने द्रव्य 'तन्तु'

में आर पट अपने समवायिकारण 'तन्तु' में रहेगा। इस प्रकार तन्तु रूप और पट दोनों ही एक अधिकरण अर्थात् तन्तु में रहेंगे।

'पटरूप' के असमवायिकारण को उसके समवायिकारण के साथ निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है –

यहां पर तन्तु, पट और तन्तुरूप का समवायिकारण है। 'पट' 'पटरूप' का समवायिकारण है, और उसी 'पटरूप' का तन्तुरूप असमवायिकारण है।

'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् 'पटरूप' – कार्य के समवायिकारण 'पट' के साथ ;पटरूप कार्य केद्ध असमवायिकारण 'तन्तुरूप' का एक अधिकरण–तन्तु में रहना निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है –

यहां पर 'पटरूप' कार्य, अपने असमवायिकारण–तन्तु–रूप के साथ साथ एक अधिकरण में नहीं रहता, क्योंकि 'पटरूप' पट में रहता है और 'तन्तुरूप' तन्तु में रहता है। इसलिए यहां 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' नहीं हो सकती। परन्तु प्रस्तुत कार्य अर्थात् 'पटरूप' का समवायिकारण–'पट' और 'पटरूप' का असमवायिकारण – 'तन्तुरूप' – ये दोनों एक अधिकरण अर्थात् 'तन्तु' में साथ साथ रहते हैं। इसलिए 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति है, अर्थात् पटरूप के 'समवायिकारण'– पट के साथ पटरूप के 'असमवायिकारण' तन्तुरूप की एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति है।

13.7 निमित्त कारण

उक्त दोनों कारणों से भिन्न कारण निमित्त कारण है। निमित्त कारण अनेक होते हैं। इन अनेक निमित्त कारणों के भो दो वर्ग है, एक साधारण निमित्त कारण और दूसरा असाधारण निमित्त कारण। साधारण निमित्त कारण वे तत्त्व है जिनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में हो। ये आठ या नौ हैं – 1. बुद्धि, 2. इच्छा, 3. कृति, 4. कार्य का प्रागभाव, 5. धर्म, 6. अधर्म, 7. काल, 8. दिक् और 9. प्रतिबन्धक का अभाव। असाधारण निमित्त कारण उन्हें कहा जाता है जो किसी एक कार्य के उत्पादन में आवश्यक हो; जैसे घट के निमित्त कारण कुम्भकार, चक्र आदि।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय–वैशेषिक ने जो असमवायि कारण माना है वह भो अन्य दर्शनों की दृष्टि में निमित्त कारण का ही अंग है।

13.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. **यदृच्छावाद** : सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त जिसके अन्तर्गत सृष्टि का कोई कारण–विशेष उल्लिखित न हो।
2. **तादात्म्य** : स्वरूप सम्बन्ध।
3. **कारणतावच्छेदक**: कारणता का नियामक।
4. **समवाय** : नित्यसम्बन्ध इसकी विशेष जानकारी आप इकाई संख्या 12.2.2 में प्राप्त कर सकते हैं।
5. **समवेत** : समवाय–सम्बन्ध से रहने वाला।
6. **कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति** : कार्य के साथ एक पदार्थ में रहना।
7. **कारणैकार्थप्रत्यासत्ति** : कार्य के समवायि कारण के साथ एक पदार्थ में रहना।
8. **उपादानकारण** : जिसे न्याय–वैशेषिक समवायि कारण कहते हैं, उसे अन्य दार्शनिक उपादान कारण कहते हैं। घड़े को बनाने के लिए कुम्हार मिट्टी का ग्रहण ;उपादानद्ध करता है इसलिये मिट्टी घड़े का उपादान कारण है।
9. **पट** : कपड़ा।
10. **तन्तु** : धागे।
11. **निरवयव** : अवयव रहित। जिसका और विभाजन न हो सके।

13.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर कोष्ठक में लिखिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाईये –

1. विवर्त्तवाद सिद्धान्त है –
   (क) सांख्य दर्शन का (ख) मीमांसा दर्शन का
   (ग) अद्वैत वेदान्त का (घ) योग दर्शन का
   उत्तर ( )
2. न्याय–दर्शन के कार्य–कारण–सिद्धान्त को कहा जाता है –
   (क) आरम्भवाद (ख) सत्कार्यवाद
   (ग) नियतिवाद (घ) शून्यवाद
   उत्तर ( )
3. पटरूप का समवायि कारण है –
   (क) तन्तु–रूप (ख) तन्तु–संयोग
   (ग) पट (घ) इनमें से कोई नहीं
   उत्तर ( )
4. तन्तु संयोग पट का कौनसा कारण है –
   (क) समवायि कारण (ख) कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से असमवायि कारण
   (ग) निमित्त कारण (घ) कारणैकार्थप्रत्यासत्ति से असमवायि कारण
   उत्तर ( )
5. प्रागभाव का प्रतिभोगी कहलाता है –
   (क) कारण (ख) कार्य
   (ग) अन्यथासिद्ध (घ) परमाणु
   उत्तर ( )
6. पट का निमित्त कारण है –
   (क) तन्तु (ख) तन्तुसंयोग
   (ग) तन्तुरूप (घ) जुलाहा
   उत्तर ( )

अभ्यास

1. असत्कार्यवाद को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।
2. अन्यथासिद्धि को किन्हीं दो उदाहरणों से समझाईये अधिकतम शब्द सीमा–100
3. कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति अथवा कारणैकार्थप्रत्यासत्ति को अधिकतम दस पंक्तियों में सोदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (ग)
4. (ख)
5. (ख)
6. (घ)

अभ्यास

1. देखिये इकाई 13.2.4
2. देखिये इकाई 13.2.4

3. देखिये इकाई 13.6.1 व 13.6.2

13.10 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आपने भारतीय दर्शन के न्याय तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बन्धित कार्य–कारण–सिद्धान्त तथा न्याय वैशेषिक सम्मत तीन प्रकार के कारणों का परिचय प्राप्त किया है।

कार्य की उत्पत्ति में नियमितता को देखकर कार्य–कारण–सिद्धान्त की अनिवार्यता सुस्पष्ट है। दार्शनिक सम्प्रदायों में भो कार्य–कारण–सिद्धान्त की एकरूपता नहीं है। कोई परिणामवाद को स्वीकार करता है जैसे सांख्य, तो कोई विवर्तवाद को स्वीकार करता है जैसे अद्वैत वेदान्त। बौद्धों का एक सम्प्रदाय शून्यवाद स्वीकार करता है। लेकिन न्याय वैशेषिक दर्शन आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवाद स्वीकार करते हैं।

कारण का लक्षण करते हुए न्याय वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि किसी कार्य की उत्पत्ति जिसके बिना न हो सके (अनन्यथासिद्ध), वही कारण है। कारण के लिए अनिवार्य है कि वह कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान हो। इसलिये कारण को अनन्यथासिद्ध होने के साथ–साथ 'कार्य–नियत–पूर्ववर्त्ती' भो कहा गया है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में तीन कारण स्वीकार किए गए है –

1. समवायि कारण अर्थात् जिसमें समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायिकारण कहते हैं। जैसे पट का समवायिकारण तन्तु।
2. असमवायिकारण अर्थात् वह कारण जो अपने कार्य के साथ एक अर्थ अर्थात् पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता है जैसे तन्तुसंयोग अपने कार्य पट के साथ एक पदार्थ अर्थात् तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसे कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति कहते हैं। साथ ही वह कारण भो असमवायिकारण कहलाता है जो अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता है जैसे तन्तुरूप अपने कार्य पटरूप के समवायिकारण पट के साथ एक पदार्थ अर्थात् तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसे कारणैकार्थप्रत्यासत्ति कहते हैं।

   यह असमवायिकारण न्याय वैशेषिक दर्शन की ही अपनी कल्पना है। अन्य कोई दर्शन इसे नहीं स्वीकार करता।
3. निमित्त कारण इन दोनों कारणों से भिन्न जो भो कारण होते है वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं। जैसे पट के निमित्त कारण, जुलाहा आदि स्वीकृत किये जाते हैं।

13.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. न्याय सूत्र,प्रो० दयाकृष्ण,चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1973.
2. न्यायसिद्धांतमुक्तावली,गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली,2011.
3. तर्क भाषा : व्याख्याकार – श्री बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1973.
4. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,1942.
5. भारतीय दर्शन का इतिहास – भाग–1 एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1978.

इकाई—14

प्रमाणचतुष्टय (तर्कभाषा)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 प्रमाण की पृष्ठभ्मि
    14.2.1 त्रिविधा शास्त्र–प्रवृत्ति
    14.2.2 प्रमाण सामान्य लक्षण
    14.2.3 ज्ञान का स्वरूप
14.3 प्रत्यक्ष प्रमा
    14.3.1 प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण
    14.3.2 इन्द्रिय, अर्थ और सन्निकष
14.4 प्रत्यक्ष के भद
    14.4.1 लौकिक प्रत्यक्ष
        अ. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
        ब. सविकल्पक प्रत्यक्ष
        स. प्रत्यक्ष प्रमाण की विविधता
    14.4.2 अलौकिक प्रत्यक्ष
        अ. सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष
        ब. ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष
        स. योगज प्रत्यक्ष
14.5 अनुमान प्रमाण
    14.5.1 अनुमान प्रमाण का लक्षण
    14.5.2 अनुमान प्रमाण के भद
    14.5.3 व्याप्ति का स्वरूप एवं भद
    14.5.4 हेत्वाभास
14.6 उपमान प्रमाण
    14.6.1 उपमान प्रमाण का लक्षण
    14.6.2 उपमान प्रमाण का स्वरूप
14.7 शब्द प्रमाण
    14.7.1 शब्द प्रमाण का लक्षण
    14.7.2 वाक्य का स्वरूप
14.8 पारिभाषिक शब्दावली
14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.10 सारांश
14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.0 उद्देश्य

एम.ए. पूर्वार्द्ध संस्कृत के भारतीय दर्शन नामक तृतीय प्रश्नपत्र से सम्बन्धित इस इकाई में आपको न्याय–दर्शन सम्मत प्रमाणों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे–

- भारतीय दर्शन परम्परा में प्रमाण के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- दैनन्दिन व्यवहार में भो उचित समय पर उचित प्रमाण के उपयोग की क्षमता प्राप्त कर सकेगे।

- साथ ही प्रमाणों की यथार्थ जानकारी से आत्म तथा अनात्म का विवेक प्राप्त कर निःश्रेयस की तरफ अग्रसर हो सकेंगे

14.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन वाङ्मय में ज्ञान के दो भद किये गये हैं – यथार्थ ज्ञान तथा अयथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान को ही प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। यथार्थ ज्ञान रखने वाले प्रमाता को जिन साधनों से विषय का यथार्थ ज्ञान होता है उन्हें प्रमाण कहा जाता है और प्रमाणों की सिद्धि उनके लक्षणों के आधार पर होती है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन भो कहते है कि प्रमाण के बिना घट पटादि वस्तु रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थ प्रतिपत्ति के बिना नयनानयन रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रमाण के द्वारा ही ज्ञाता अर्थोपलब्धि करके उस अर्थ को प्राप्त करने की अथवा छोड़ने की इच्छा करता है। उसकी ईप्सा और जिहासा प्रयुक्त ही संसार में तद्विषयक प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रवृत्ति का सामर्थ्य फल से अभिसम्बन्ध होता ही है। इच्छा होने के पश्चात् ही पुरुष उस अर्थ को प्राप्त करने अथवा छोड़ने में प्रवृत्त होता है। न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट प्रमाण का महत्व बतलाते हुये कहते है कि आत्मादि प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान निःश्रेयस का साधन है – यह बात आगम प्रमाण से ही जानी जा सकती है।

14.2 प्रमाण की पृष्ठभूमि

14.2.1 त्रिविधा शास्त्र–प्रवृत्ति –

शास्त्र में पदार्थों के विवेचन की प्रक्रिया को ही शास्त्र–प्रवृत्ति कहा गया है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने तीन प्रकार की शास्त्र–प्रवृत्ति मानी है। तर्कभाशा में उन तीनों के लक्षण निम्न प्रकार से दिये गये हैं–

उद्देश– 'उद्देषस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्'– नाम मात्र से वस्तु का कथन उद्देश कहलाता है।

लक्षण– 'लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्''– किसी के असाधारण धर्म के कथन को लक्षण कहा जाता है। जैसे सास्नादिमान् होना गौ का लक्षण है।

परीक्षा– 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा'– जिसका लक्षण किया गया है उसका वह लक्षण ठीक है या नहीं–इस पर विचार करना परीक्षा है।

उपर्युक्त लक्षण नामक शास्त्र–प्रवृत्ति के सन्दभ में यह भो कहा जाता है कि लक्षण को निम्न तीन दोषों से रहित होना चाहिये–

अतिव्याप्ति– 'अलक्ष्यवृत्तित्वम् अव्याप्तिः' जो लक्षण लक्ष्य के साथ–साथ लक्ष्य से भिन्न वस्तुओं में भो घटित होता है वह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित होता है। जैसे– 'गोः श्रृङ्गित्वम्' सींगों वाली होना यदि गाय का लक्षण किया जाय तो वह गाय के साथ–साथ भस आदि सभो सींगों वाले पशुओं में भो चला जायगा। अतः वह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है।

अव्याप्ति– 'लक्ष्यैकदेषावृत्तित्वम् अव्याप्तिः' जो लक्षण लक्ष्य के एक भाग में रहता है, अन्य भागों में नहीं तो वह अव्याप्ति दोष से युक्त है। जैसे– 'गोः कृष्णत्वम्'। यदि काला होना गाय का लक्षण किया जाय तो वह केवल काली गायों में ही घटित होगा अन्य गायों में नहीं। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है।

असंभव– 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम् असंभवः'– असंभव दोष वहाँ होता है जहाँ लक्षण लक्ष्य के किसी भो भाग में घटित न होता हो जैसे– 'गोः एकशफत्वम्'– अर्थात् एक खुरवाली होना गाय का लक्षण किया जाय तो वह असंभव दोष से युक्त होगा क्योंकि कोई भो गाय एक खुर वाली नहीं होती।

अतः सही लक्षण को उपर्युक्त तीनों दोषों से रहित होना चाहिये।

14.2.2 प्रमाण सामान्य लक्षण

न्याय दर्शन का मुख्य विषय प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन है। इसीलिये चिरकाल से यह 'प्रमाण शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। समस्त भारतीय दर्शन साहित्य में प्रमाण सामान्य का लक्षण सर्वप्रथम महर्षि कणाद विरचित 'वैशेषिक सूत्र' में पाया जाता है। उनके अनुसार –

'अदुष्टं विद्या' अर्थात् दुष्ट ज्ञान से भिन्न विद्या है। दुष्ट ज्ञान को बतलाते हुए वे कहते है कि – 'इन्द्रियदोष और संस्कारदोष से उत्पन्न अयथार्थ ज्ञान ही अविद्या अथवा दुष्ट ज्ञान है।' सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट विद्या और अविद्या को ही आचार्य प्रशस्तपाद ने बुद्धि के दो भदों के रूप में उल्लिखित किया है। विद्या का कोई स्वतन्त्र लक्षण प्रतिपादित न करते हुए उन्होंने विद्या और अविद्या को चार–चार भदों में विभक्त किया है। विद्या के चार भद है – 1. प्रत्यक्ष 2. लैंगिक, 3. स्मृति एवं 4. आर्य। अविद्या के चार भद है – 1. संशय 2. विपर्यय, 3. अनध्यवसाय और 4. स्वप्न।

महर्षि गौतम के न्यायसूत्रों में प्रमाण का लक्षण नहीं मिलता। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार उपलब्धि ;ज्ञान या प्रमाद्ध के साधन को प्रमाण कहते हैं। 'प्रमीयतेऽनेनेति' इस प्रकार करण अर्थ में अभिधान करने से प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है– 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है। प्रमा को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं– 'यर्थाथानुभवः प्रमा' अर्थात् अनुभव को ही प्रमा कहते हैं। यहाँ यथार्थ से तात्पर्य संषय, विपर्यय (भम) तथा तर्कज्ञान से रहित ज्ञान ही यथार्थ अनुभव है।

14.2.3 ज्ञान का स्वरूप

प्रमाण का सम्बंध प्रमा से है। इसलिए प्रमा के स्वरूप को जाने बिना प्रमाण की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। प्रमा एक प्रकार का ज्ञान है। अतः प्रमा के स्वरूप की सही जानकारी भो ज्ञान के सामान्य स्वरूप की जानकारी पर निभर है।

न्याय दर्शन में, सांख्य–योग दर्शन के पक्ष के विपरीत, ज्ञान, उपलब्धि, बुद्धि आदि शब्दों को समानार्थक माना गया है। ज्ञान का अर्थ है विषयों की अभिव्यक्ति या प्रकाशन। जीवन मात्र का समस्त व्यवहार ज्ञान पर ही निभर है। यह आत्मा का एक विशेष गुण है।

निम्नांकित रेखा–चित्र में न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान के भद–प्रभदों का उल्लेख है :–

न्यायदर्शन के अनुसार चार प्रमाण होते हैं – 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान और 4. शब्द। इन प्रमाणों की सहायता से जो यथार्थ ज्ञान ;प्रमाद्धउत्पन्न होता है, उसके भो क्रमशः नाम हैं – 1. प्रत्यक्ष प्रमा, 2. अनुमिति, 3. उपमिति तथा 4. शाब्दी प्रमा।

14.3 प्रत्यक्ष प्रमाण

14.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण–

तर्कभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है– 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' अर्थात् वस्तु का साक्षात्कार करने वाली प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा वह है जो इन्द्रिय से उत्पन्न (जन्य) होती है– 'साक्षात्कारिणी च प्रमा सैव उच्यते या इन्द्रियजा'।

न्यायसूत्रकार गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण है– ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।'' (न्यायसूत्र, 1.1.4.) अर्थात् इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भद से प्रमा के दो प्रकार हैं और प्रमा के तीन प्रकार के करण होते हैं– 1. कभो इन्द्रिय, 2. कभो इन्द्रियार्थसन्निकश, 3. कभो निर्विकल्पक ज्ञान।

14.3.2 इंद्रिय, अर्थ और सन्निकष

प्रत्यक्ष प्रमा की परिभाषा को समझने के लिए इन्द्रिय, अर्थ और सन्निकष शब्दों के अर्थों का ज्ञान आवश्यक होने के कारण नीचे इनके अर्थ संक्षेप में दिये जा रहे हैं –

इन्द्रिय – प्रत्यक्ष प्रमा का मुख्य साधन–करण–इन्द्रिय है। नव्य नैयायिक इसे इन्द्रियत्व का आधार कहेंगे। न्याय दर्शन में घ्राण (नाक), रसना (जिह्वा), चक्षु, त्वक्, और श्रोत्र बाह्य इन्द्रियाँ – बाह्य पदार्थों के ज्ञान के साधन हैं।

अर्थ – 'अर्थ' शब्द न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों मे पारिभाषिक है। किन्तु प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अर्थ' शब्द सामान्य रूप में ज्ञेय पदार्थ मात्र का वाचक है। अतः इसके अंतर्गत भावात्मक तथा अभावात्मक सभो पदार्थ आ जाते हैं।

सन्निकष – इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थ का वह सम्बन्ध सन्निकष कहलाता है जिससे ज्ञेय पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में इसके छह प्रकार हैं – 1. संयोग,

2. संयुक्त–समवाय, 3. संयुक्त–समवेत–समवाय, 4 समवाय, 5. समवेत –समवाय और 5. विशेष्य–विशेषण–भाव।

क्र.सं.	सन्निकष	उदाहरण
1.	संयोग	चक्षु + घट
2.	संयुक्त–समवाय	चक्षु + घटरूप
3.	संयुक्त–समवेत–समवाय	चक्षु + घटरूप + घटरूपत्व
4.	समवाय	श्रोत्र + शब्द
5.	समवेत –समवाय	श्रोत्र + शब्द + शब्दत्व
6.	विशेष्य–विशेषण–भाव	चक्षु + घटाभाववत् भ्तल

14.4 प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष के दो प्रकार है – लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष।

14.4.1 लौकिक प्रत्यक्ष

लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'।

अ. निर्विकल्पक

इन दोनों प्रकारों को समझने के लिए आप अपने को उस बालक की स्थिति में ले जाइये, जो एक स्थान से किसी दूरस्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह उसे केवल देखता है, परन्तु वह बिल्कुल ही नहीं जानता कि वह वस्तु है क्या? वह कौनसी क्रिया कर रही है? उसका नाम क्या है आदि–आदि? वह उस समय न तो उसकी 'जाति' से परिचित होता है, न 'गुण' से, न 'क्रिया' से और न उसकी 'संज्ञा' से। उसका ज्ञान केवल इतना ही होता है कि वह कुछ है – 'किंचिद् इद्म्' बस इतना ही; इससे कुछ अधिक नहीं। इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया तथा नाम की कल्पना से विहीन यह प्रत्यक्ष 'निर्विकल्पक' कहलाता है।

ब. सविकल्पक

इसके बाद वह वस्तु धीरे–धीरे उस बालक की ओर बढ़ती चली आती है तब वह बालक जान लेता है कि ''गौरी नामक यह काली गाय घास चर रही है''। इस प्रत्यक्ष ज्ञान में गौरी नाम है, काली गुण है, चरती क्रिया है और गाय जाति का बोधक है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष ज्ञान नाम जात्यादि योजना से विशिष्ट है और इसलिए इसका नाम 'सविकल्पक' है। नैयायिकों की यह व्याख्या आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रत्यक्ष विश्लेषण से साम्य रखती है, जिसमें पूर्वोक्त प्रथम ज्ञान का नाम है सेन्सेशन (संवेदन) तथा दूसरे का परसेप्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान)।

स. प्रत्यक्ष प्रमाण

इनमें यदि निर्विकल्पक को प्रमा मानकर प्रमाण का विचार किया जाय तब तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष–प्रमाण है और इन्द्रिय एवं ज्ञेय पदार्थ का सन्निकष व्यापार। 'व्यापार' को ही 'अवांतर व्यापार' भो कहते हैं। व्यापार वह कारण है जो मुख्य कारक (करण) से उत्पन्न भो हो और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य (फल) का उत्पादक भो हो। जैसे, इन्द्रियार्थ–सन्निकष मुख्य कारण–इन्द्रिय से उत्पन्न भो है और उसी इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले फल – निर्विकल्पक ज्ञान का उत्पादन भो करता है। अतः वह व्यापार है। सविकल्पक ज्ञान को प्रमा मानकर विचार करने पर इन्द्रियार्थ–सन्निकष प्रत्यक्ष प्रमाण और निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु यदि हानोपादानोपेक्षा बुद्धि आदि में से किसी एक को प्रमा मान लिया जाय तब तो निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण और सविकल्पक ज्ञान को व्यापार मानना होगा।

14.4.2 अलौकिक प्रत्यक्ष

वस्तु का इंद्रिय के साथ असाधारण सन्निकष होने से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। यह तीन प्रकार का होता है – अ. सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष ब. ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष, स. योगज प्रत्यक्ष।

अ. सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष

न्याय वैशेषिक के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान' जो अनुमान के लिये आवश्यक है उसका स्वरूप है कि जहां जहां धूम होता है वहां वहां वह्नि होती है; अर्थात् 'साधन धूम' की 'साध्य वह्नि' के साथ व्याप्ति है। परन्तु इस पर बौद्धों की ओर से आक्षेप हुआ तक जब तक सारे धूम और सारी वह्नियों का प्रत्यक्ष न हो तब तक इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान सम्भव ही नहीं और साधारण मनुष्य के लिये यह सम्भव ही नहीं कि उसे सब देशों और सब कालों के सारे धूमों और सारी वह्नियों का ज्ञान हो। इस कठिनता को दूर करने के लिये अर्थात् व्याप्तिज्ञान को सिद्ध करने के लिये न्याय–वैशेषिक ने सामान्यलक्षरूप अलौकिक सन्निकष की कल्पना की, जिसका तात्पर्य यही है कि जब किसी भो धम का धूमत्व विशेषण के साथ ज्ञान होता है तो धूमत्व के सामान्य होने से धूमत्व रूप से सारे धूमों की उपस्थिति हो जाती है। इस प्रकार सारे धूमों की उपस्थिति हो जाने से व्याप्तिज्ञान सम्भव है। धूमत्व सामान्य से सारे धूमों की उपस्थिति हो जाने को ही 'अलौकिक' प्रत्यक्ष कहा गया, जिसमें 'धूमत्व' सामान्य ही सन्निकष बन जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष और उसका सन्किष अलौकिक है क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में बताये सन्किर्षो के अनुसार जिस पदार्थ के साथ इन्द्रिय से सन्निकष हो उसी का प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है।

ब. ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष

न्याय–वैशेषिक का ज्ञानलक्षणसन्निकष सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इसका विकास भो बौद्धों के साथ संघर्ष में हुआ, यह स्पष्ट है। जब हम किसी वस्तु का सविकल्प प्रत्यक्ष करते है कि 'यह घट है' अथवा 'यह देवदत्त है' तो उसके साथ कुछ स्मरणात्मक ज्ञान भो होता है जैसे 'यह घट वही है जो पहिले भो देखा था' अथवा 'यह देवदत्त वही है जिसको पहिले भो अथवा किसी अन्य स्थल में देखा था'। अब यदि इस स्मरणात्मक ज्ञान को स्मरणात्मक ही माना जाय और प्रत्यक्षात्मक न माना जाय तो न्याय–वैशेषिक सिद्धान्त का आधारभ्त 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का सिद्धांत ही न बन सकेगा और 'यह वही पदार्थ है जिसको मैंने पहिले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जिससे किसी पदार्थ की स्थिरता सिद्ध होती है यह भो न बन सकेगी। इसलिये इस प्रकार के स्मरणात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष का अंग बनाने के लिये न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय ने 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकष की कल्पना की, जिसका उदाहरण यह है कि जब हम चक्षुष से चन्दन को देखते हैं तो साथ ही उसके सुगन्धित होने का भो प्रत्यक्ष होता है। यहां सुगन्धित होने के ज्ञान को स्मरणात्मक न मानकर प्रत्यक्षात्मक माना जाता है, परन्तु चक्षु इन्द्रिय से तो सुगन्धि का सन्निकष है नहीं इसलिये सुगन्ध के ज्ञान के लिये 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकष की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार 'यह देवदत्त वही है जिसको मथुरा में देखा था', यहां पर 'मथुरा में देखना' भ्तकाल की घटना है उसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकष से ही सम्भव है।

स. योगज प्रत्यक्षा

यह योगज प्रत्यक्ष केवल योगियों को ही होता है। योगियों के दो प्रकार के होने के कारण योगज प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– युक्त योगज और युंजानयोगज अलौकिक सन्निकष। योगी दो प्रकार के बताये गये हैं, एक 'युक्त' जो योग में परिपूर्ण हो चुके हों और दूसरे 'युंजान' जो अभो योग का अभ्यास ही कर रहे हों। इनमें से युक्त योगियों को बिना किसी प्रकार का ध्यानविशेष किये आकाश परमाणु आदि सब पदार्थो का ज्ञान सब समय रहता है, परन्तु युंजान योगियों को अलौकिक ज्ञान चिन्ता अर्थात् ध्यानविशेष के करने पर ही होता है।

14.5 अनुमान प्रमाण

'अनुमान' का शाब्दिक अर्थ है – अनु पीछे; मान प्रमाण अर्थात् पीछे होने वाला प्रमाण। परन्तु किसके पीछे? प्रत्यक्ष के पीछे। अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के अनन्तर ही होती है। हम प्रतिदिन पाकशाला से आग जलाने पर धुआं उठते हुए देखते है। सुबह–शाम, गर्मी या बरसात, जब हम कभो रसोईघर की ओर भोजन पकाते समय दृष्टि डालते हैं, तब हम सर्वदा धुआं उठते हुए पाते हैं। धुएं को देखकर हम सहज में अनुमान लगा लेते है कि आग जलती होगी। धूम तथा अग्नि का सम्बन्ध सार्वभोम है। अपने प्रतिदिन के अनुभव से हम इसी परिणाम पर पहुंचते है कि ''जहां–जहां धुआं होगा, वहां–वहा अग्नि अवश्य होगी।'' यह नियम सदा–सर्वथा सच्चा है। इस नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस व्याप्ति का दर्शन करनेवाला कोई भो व्यक्ति जब किसी पर्वत से धुएं की रेखा को निकलते हुए देखता है, तब वह अनुमान सहज में लगा लेता हैं कि यह पर्वत वह्नि से युक्त अवश्यमेव है। यही ज्ञान अनमिति कहलाता है और इसका करण 'अनुमान' कहलाता है।

14.5.1 अनुमान प्रमाण का लक्षण

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् – अर्थात् लिंग का परामर्श अनुमान है। लिंगपरामर्श में दो अंश है – एक लिंग और दूसरा परामर्श, 'लीनम्–अन्तर्हितम्–अप्रत्यक्षम्' अर्थं गमयति–बुद्धिविषयतां नयति यत् तत् लिंगम्' लिंग शब्द की इस व्युत्पति के अनुसार लिंग शब्द का अर्थ है लीन अर्थ का ज्ञापक, लीन अर्थ का ज्ञापन व्याप्ति के बल से होता है, अतः लिंग का अर्थ है व्याप्ति के बल से अर्थ का गमक – ज्ञापक। धूम अग्नि का लिंग होता है, क्योंकि जहां धूम होता है – जिस स्थान पर धूम का जन्म होता है, उस स्थान पर अग्नि अवश्य रहता है, धूम में अग्नि के साथ ही रहने का यह नियम ही व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही धूम अग्नि का गमक होता है, इसलिये व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिंग होता है। अतएव तर्कभाशा में लिंग का लक्षण किया गया है– 'व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिंगम्'।

धूमरूप लिंग का तीसरा ज्ञान परामर्श कहा जाता है। पहला ज्ञान रसोई–घर इत्यादि में होता है। दूसरा ज्ञान पर्वत के समीप जाने पर पर्वत पर धुआँ देखने पर होता है तथा तीसरा ज्ञान तब होता है जब व्याप्ति स्मरण के पश्चात् पुनः पर्वत पर व्याप्ति से विशिष्ट होकर धुएँ का दर्शन होता है। इस परामर्श से उत्पन्न ज्ञान ही अनुमिति है और अनुमिति का करण अनुमान कहलाता है।

इस अनुमान में धूम की सत्ता से अग्नि की सत्ता का अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान–वाक्य का रूप होगा–

पर्वतोऽयं (यह पर्वत)	पक्ष
वह्निमान् (वह्नि से युक्त है)	साध्य
धूमात् (धूम के कारण से)	हेतु; लिंग

यहां पर्वत के ऊपर हम किसी विशिष्ट हेतु के द्वारा वह्नि–सम्पन्न होने की घटना का अनुमान लगाते हैं। यहां तीन शब्द हैं और इनकी विभिन्न संज्ञाएं है। जिस वस्तु में किसी वस्तु की सत्ता हमें सिद्ध करना अभिष्ट हो, उसे 'पक्ष' कहते हैं। यहां 'पर्वत' पर वह्निमत्ता सिद्ध करनी है, तो 'पर्वत' पक्ष कहलायेगा। जिस वस्तु को सिद्ध करना है, उसे 'साध्य' कहते हैं, जैसे वह्निमान् ;क्योंकि पर्वत के ऊपर इसे ही सिद्ध करना हैद्ध अतः वह्नि साध्य है। जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते हैं जैसे धूम। हेतु की ही दूसरी संज्ञाएं हैं – साधन, लिंग तथा व्याप्य। साध्य की इतर संज्ञाएं हैं –लिंगी तथा व्यापक।

हेतु को व्याप्य भो कहते हैं तथा साध्य को व्यापक। इसके उदाहरण पर दृष्टिपात करें। जहां गीली लकड़ी जलाई जाने पर आग उत्पन्न होती है, और धुआं भो दिखलाई पड़ता है, परन्तु ईंधन के गीला न होने पर धुआं नहीं दिखलाई पड़ता जैसे दहकते हुए अंगारे या जलते हुए लोहे के गोले में आग के रहने पर भो धुआं नहीं होता। इस प्रकार धूम के रहने का स्थान कम है और अग्नि का उससे कहीं अधिक। इसीलिए धूम है 'व्याप्य' और अग्नि है व्यापक।

इस प्रकार अनुमान का यह लक्षण भो निकाला जा सकता है –

लिङ्गात् लिङ्गिनो ज्ञानम् अनुमानम्।।
–लिंग से अर्थात् हेतु से लिंगी अर्थात् साध्य का ज्ञान 'अनुमान' कहलाता है। व्याप्य (धूम) की सत्ता देखकर व्यापक (अग्नि) का ज्ञान अनुमान होगा, क्योंकि धूमवाले स्थानों में अग्नि की सत्ता अनिवार्य है। जहां–जहां धूम रहेगा, वहां–वहां अग्नि अवश्यमेव है। यही व्याप्ति–ज्ञान अनुमान का प्रौढ़ आधार है, जिसके ऊपर अनुमान का किला खड़ा किया जाता है।
इसके विपरीत व्यापक (अग्नि) से व्याप्य (हेतु–धूम) का अनुमान लगाना कथमपि ठीक नहीं है। दहकते हुए अंगारे को देखिये। वहां आग तो है, परन्तु धुआं नहीं है। अतः निश्चित है कि अग्नि के द्वारा धूम का ज्ञान कहीं भो अनुमान से सिद्ध नहीं होता। धूम की सत्ता के सहारे ही अग्नि का ज्ञान ठीक है। और यही अनुमान का सिद्ध लक्षण है।
उपाधि का स्वरूप– 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वम् उपाधिः' अर्थात् जो धर्म साध्य का व्यापक हो और साधन का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं। 'जहाँ अग्नि है वहाँ धूआँ है' यह कहना स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) नहीं है। बल्कि औपाधिक सम्बन्ध है क्योंकि तप्त अयोगोलक में अग्नि है किन्तु धूम नहीं। अतः यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। यह उपाधि साध्य धूम की व्यापक है किन्तु साधन अग्नि की अव्यापक है।
व्याप्ति के प्रसंग में कहा जाता है कि हेतु और साध्य तथा धूम और अग्नि के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। स्वाभाविक सम्बन्ध को ही अनौपाधिक सम्बन्ध भो कहा गया है। भ्यो–दर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान हो यह आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ– किसी ने मैत्री नामक महिला के सात पुत्र देखे जो सभो श्यामवर्ण के थे। जब उसने सुना कि मैत्री के आठवां पुत्र हुआ है तो उसे बिना देखे ही यह अनुमान लगा लिया–

प्रतिज्ञा	–	सः शयामः (मैत्री का आठवाँ पुत्र भो ष्यामवर्ण का ह)
हेतु	–	मैत्रीतनयत्वात् (क्योंकि वह मैत्री का बेटा है)
उदाहरण	–	यत्र–यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र–तत्र श्यामत्वमपि (जहाँ जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ वहाँ श्यामत्व भो है।)

किन्तु यह कथन ठीक नहीं निकला क्योंकि मैत्री का आठवाँ पुत्र गौर वर्ण का था। इस प्रकार यहाँ मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु औपाधिक सम्बन्ध ही है। पुत्रों की श्यामता में मैत्री का पुत्र होना निमित्त (प्रयोजक) नही है अपितु शाक आदि खाद्य का परिपाक विशेष 'शाकपाकजन्यत्व उपाधि' ही इसमें निमित्त है। और जो निमित्त या प्रयोजक है वही उपाधि है।
उपाधि के लक्षण के अनुसार जो साध्य की व्यापक हो अर्थात् जहाँ–जहाँ साध्य रहे वहाँ सभो स्थानों पर रहे और साधन की अव्यापक अर्थात् जहाँ साधन रहे वहाँ कहीं रहे और कहीं नहीं भो रहे। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में शाकपाकजन्यत्व उपाधि है जो श्यामत्वरूप साध्य में तो सर्वत्र है लेकिन मैत्रीतनयत्व रूप हेतु (साधन) में कहीं है और कहीं नहीं है। उपाधि के स्वरूप ज्ञान से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान प्रमाण में व्यापक से व्याप्य का अथवा साध्य से साधन का अनुमान करना उचित नहीं है।

14.5.2 अनुमान प्रमाण के भद

अनुमान मुख्यतया दो प्रकार का होता है – 1. स्वार्थानुमान, 2. परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने लिए किया जाता है – अपने समझने के लिए। जैसे महानस (पाकशाला) में विशेष प्रत्यक्ष से कोई व्यक्ति धूम और अग्नि की व्याप्ति को प्रथमतः ग्रहण करता है। तदनन्तर वह पर्वत के समीप जाकर सन्देह करता है कि पर्वत में अग्नि है या नहीं? उसी समय वह पर्वत स निरन्तर अविच्छिन्न मूल धूम–रेखा को देखता है और तब उसका पुराना संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है और 'जहां धूम है वहां अग्नि अवश्यमेव विद्यमान रहता है,' इस व्याप्ति का वह स्मरण करता है। फलतः वह जान लेता है कि इस पर्वत में वह्नि–व्याप्य धूम विद्यमान है इसलिये इस पर्वत पर अग्नि भो है; इस प्रकार वह पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान कर लेता है। यही स्वार्थ अनुमान है। यहां अनुमान की प्रक्रिया में मानस–क्रिया से ही कार्य सम्पन्न हुआ, वाक्य–प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु यदि कोई मनुष्य पूर्वरीति

से स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरों को बोध कराना चाहता है तो वह पांच वाक्यों का प्रयोग करता है, जिनकी सहायता से यह अनुमान की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस परार्थानुमान के पांच अवयवों ;पंचावयव वाक्य या 'न्याय'द्ध के नाम क्रमशः ये हैं – 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय तथा 5. निगमन।

इसके उदाहरण इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं –

1. यह पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा)
2. क्योंकि यहां धूम का सद्भाव है (हेतु)
3. जहां–जहां धूम रहता है, वहां–वहां अग्नि भो विद्यमान रहता है जैसे पाकशाला (उदाहरण)
4. यह पर्वत भो ऐसा ही एक स्थान है (उपनय)
5. अतएव यह पर्वत अग्निमान् है (निगमन)

इनमें पहला वाक्य 'प्रतिज्ञा' कहलाता है, जो सिद्ध किये जाने वाली वस्तु का निर्देश करता है। जिस प्रकार रेखागणित के किसी भो प्रमेय में प्रथमतः प्रतिज्ञा (या मुख्य प्रतिज्ञा) का उल्लेख किया जाता है, उसी प्रकार यहां भो समझना चाहिए। दूसरा 'हेतु वाक्य' है, क्योंकि यहां अनुमान को सिद्ध करने वाले हेतु (धूम) का निर्देश है। तीसरा वाक्य 'उदाहरण' कहलाता है, क्योंकि यहां व्याप्ति के साथ–साथ उसके उदाहरण का भो उल्लेख है अर्थात् उन स्थलों का जहां व्याप्ति का दर्शन पहले किया गया है। पहले व्याप्ति का रूप दिया जाता है और बाद में उसका उदाहरण भो रखा जाता है। चौथा वाक्य 'उपनय' कहलाता है, जहां व्याप्ति–विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। अनुमान की प्रक्रिया में इस 'उपनय वाक्य' का भो महत्व किसी अन्य वाक्य से न्यून नहीं है। द्वितीय तथा तृतीय वाक्यों का समावेश इस चतुर्थ वाक्य में दिया गया है। द्वितीय वाक्य में धूम की सत्ता का निर्देश है और तृतीय वाक्य में धूम–वह्नि के साहचर्य–नियम का उल्लेख है और इन दोनों का समन्वय कर दिया जाता है चतुर्थ वाक्य में। अर्थात् इस पर्वत पर वह धूम है, जो अग्नि के साथ व्याप्ति रखता है। इस प्रकार उपनय का रूप है – वह्निव्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः (अर्थात् वह्नि से व्याप्य धूम से युक्त यह पर्वत है।) वह्नि से व्याप्य धूम–सम्पन्न होने पर तुरन्त इस परिणाम पर पहुंचते है कि यह पर्वत वह्निमान् है और यही 'निगमन–वाक्य' कहलाता है।

14.5.3 व्याप्ति का स्वरूप एवं भद

अनुमान का मुख्य आधार 'व्याप्ति' ही है। हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य–नियम को व्याप्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव में जब एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु की उपस्थिति सर्वदा तथा सर्वथा विद्यमान हो तब यह होती है 'अन्वय–व्याप्ति' (भावात्मक सम्बन्ध के कारण)। जब एक वस्तु के अभाव के साथ अन्य वस्तु की अनुपस्थिति विद्यमान रहे, तब इसे 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहते ह। (अभावात्मक सम्बन्ध के कारण)। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति दोनों प्रकार की होती है। जहां–जहां धूम है, वहां अग्नि भो विद्यमान है जैसे पाकशाला– अन्वय–व्याप्ति। जहां अग्नि का अभाव है, वहां धूम का भो अभाव है जैसे तालाब – व्यतिरेक–व्याप्ति। इस व्याप्ति की द्विविधता क कारण अनुमान के तीन प्रकार होते हैं –

1. 'केवलान्वयी अनुमान' (केवल अन्वय–व्याप्ति के आधार पर)। यथा घर अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय ;प्रमा का विषयद्ध है। यहां प्रमेयता के साथ अभिधेयता की केवल अन्वय–व्याप्ति ही सम्भव है।
2. 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' (केवल व्यतिरेक–व्याप्ति के आधार पर)। यथा पृथ्वी (पक्ष) अन्य भ्तों से भिन्न है''(साध्य); क्योंकि वह गन्धवती है (हेतु)। यहां गन्धवत्त्व की अन्य भ्तों में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव है। अन्य समस्त भ्तों में गन्ध का अभाव होने के कारण अन्वयी उदाहरण असम्भव है।
3. 'अन्वय–व्यतिरेकी अनुमान' (अन्वय और व्यतिरेक उभय–विध व्याप्तियों के कारण)। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान् है (साध्य); धूम होने के कारण (हेतु)। यहां धूम तथा वह्नि की व्याप्ति दोनों प्रकार की है।

14.5.4 हेत्वाभास

अनुमान में हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। उपयुक्त तथा विशुद्ध हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। परन्तु यदि हेतु में किसी प्रकार की त्रुटि होती है, तो वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का केवल आभास प्रतीत होता है और ऐसी दशा में वह साध्य का साधक नहीं होता। यह दुष्ट हेतु 'हेत्वाभास' (हेतु + आभास) कहलाता है।

किसी भो हेतु को अनुमान का साधक होने के लिए पांच गुणों से समन्वित होना नितान्त आवश्यक है :

क. हेतु का पक्ष में रहना (पक्षे सत्ता)

ख. सपक्ष में अर्थात् पक्ष के समान स्थलों में (जैसे महानस आदि) हेतु का रहना (सपक्षे सत्ता)

ग. विपक्ष में अर्थात् पक्ष से विपरीत स्थलों में (जैसे वह्निमान् पर्वत से विपरीत स्थान–कूप, जलाशय आदि – में हेतु का अभाव) (विपक्षात् व्यावृत्तिः)

घ. साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव होना अत्यन्त आवश्यक होता है (असत् प्रतिपक्षत्वम्)

ङ. प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा बाधित न होना चाहिए (अबाधितविषयत्वम्)0

इन पांचो गुणों की सत्ता होने पर हेतु सत्–हेतु माना जाता है और वह अनुमान का साधक होता है, परन्तु इनमें से किसी भो गुण का अभाव होने पर वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का आभास ही होता है। पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने से देखने में ही हेतु जान पड़ता है, परन्त वस्तुतः वह हेतु नहीं होता। इसीलिए इसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पांच प्रकार का होता हैः 1. सव्यभिचार, 2. विरूद्ध, 3. सत्प्रतिपक्ष, 4. असिद्ध तथा 5. बाधित। इनका लक्षण उदाहरण के साथ संक्षेप में यहां दिया जाता है।

1. सव्यभिचार – व्यभिचार का अर्थ है साध्य से भिन्न पदार्थों में भो हेतु का अस्तित्व। इसका दूसरा नाम 'अनैकान्तिक' है। इसके मुख्यतया दो भद होते हैं – साधारण और असाधारण। साधारण अनैकान्तिक होता है, उपर्युक्त तीसरे नियम का उल्लंघन होने पर। अतः यहां हेतु विपक्ष से व्यावृत्त न होकर विपक्ष में भो रहता है। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान् है (साध्य), प्रमेय होने से (हेतु)। यहां हेतु विपक्ष दृष्टान्तों जैसे जलाशय, समुद्र आदि में रहता है। अतः उससे अनुमान की सिद्धि असम्भव है।

   असाधारण अनैकान्तिक तब होता है जब हेतु केवल पक्ष में ही रहता है। दूसरे नियम का उल्लंघन होने पर यह हेत्वाभास होता है यथा शब्द (पक्ष) होता है नित्य (साध्य), शब्दत्व के कारण (हेतु)। यहां शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) में ही रहता है, सपक्ष में अर्थात् नित्य–पदार्थों में नहीं रहता। जहां उसका रहना नितान्त आवश्यक है (यहाँ दूसरे नियम का उल्लंघन है)।

2. विरुद्ध – जहां हेतु साध्य के अभाववाले स्थानों पर व्याप्त रहता हैं, वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है। अभिप्राय यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध न कर ठीक उसके उलटी वस्तु को सिद्ध करता है। जैसा शब्द (पक्ष) नित्य (साध्य) है, कृतक या कार्य होने से (हेतु)। यहां कार्य होने से शब्द को नित्य सिद्ध करने का प्रयास है, परन्तु कार्यता (हेतु) अनित्य में रहती है, नित्य में नहीं। फलतः यह हेतु ठीक उलटी बात को सिद्ध करने में साधन होने से विरूद्ध है।

3. सत् प्रतिपक्ष – जहां साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है, वह कहलाता है – सत् प्रतिपक्ष (सत् = विद्यमान; प्रतिपक्ष = प्रतिस्पर्धी हेतु)। इसमें चौथे नियम का उल्लंघन होता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सिद्ध करना हमें अभोष्ट है, उससे नितान्त भिन्न वस्तु को सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रबल हेतु विद्यमान है, तब अभोष्ट तथ्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। यथा –

   क. शब्द (पक्ष) नित्य (साध्य) है, श्रावण होने से (हेतु), शब्दत्व के समान (उदाहरण)

   ख. शब्द (पक्ष) अनित्य (साध्याभाव) है, कार्य होने से (हेतु) घट के समान (उदाहरण)

यहां साध्य के अभाव (अनित्यत्व) को सिद्ध करने वाला हेतु वर्तमान है। फलतः प्रथम अनुमान दूषित सिद्ध होता है।

4. असिद्ध – हेतु के असिद्ध होने पर यह प्रकार होता है। हेतु की असिद्धता तीन प्रकार से उत्पन्न होती है – (क) आश्रय से, (ख) स्वरूप से तथा (ग) व्याप्यत्व से। इसीलिए असिद्ध के तीन भद होते हैं। आश्रया–सिद्धि का यह दृष्टान्त है – आकाश कमल (पक्ष) सुगन्धित होता है (साध्य), आकाश कमल होने से (हेतु), सरसिज कमल के समान (उदाहरण)। यह अनुमान प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश कमल का अस्तित्व ही नहीं होता। इसी प्रकार स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध नामक अन्य प्रभदों के भो उदाहरण देखे जा सकते हैं। यह प्रथम नियम के उल्लंघन का फल है।

5. बाधित – जहां साध्य का अभाव अन्य प्रमाण के द्वारा निश्चित है, वहां यह हेत्वाभास होता है। जैसे किसी ने अनुमान किया – अग्नि शीतल है (साध्य), द्रव्य होने के कारण (हेतु)। इसका ठीक उलटा प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध पहले से ही है कि अग्नि उष्ण है। फलतः प्रत्यक्ष के द्वारा यह अनुमान बाधित है। यहां पांचवे नियम का उल्लंघन है।

तर्कभाषा में हेत्वाभासों के उदाहरण निम्न प्रकार से हैंः–

2. विरुद्ध

प्रतिज्ञा – शब्दो नित्यः
हेतु – कृतकत्वात्
उदाहरण – आत्मवत्

3. सव्यभिचार (अनैकान्तिक)

	साधारण	असाधारण
प्रतिज्ञा –	शब्दो नित्यः,	प्रतिज्ञा – भः नित्या, हेतु – प्रमेयत्वात् हेतु –गन्धवत्त्वात्
उदाहरण –	व्योमवत्	

4. प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)

प्रतिज्ञा –	शब्दोऽनित्यः	शब्दो नित्यः
हेतु –	नित्यधर्मरहितत्वात्	अनित्यधर्मरहितत्वात्

5. कालात्ययापदिष्ट (बाधित)

प्रतिज्ञा – अग्निः अनुष्णः
हेतु – कृतकत्वात्
उदाहरण – जलवत्

14.6 उपमान प्रमाण

14.6.1 उपमान प्रमाण का लक्षण

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् उपमानम्। (तर्कभाषा) अर्थात् जब किसी अज्ञातनामा पदार्थ में किसी ज्ञातनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अतिदेशवाक्य – अज्ञातनामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भो हो जाता है तब वह ज्ञान उपमान प्रमाण होता है, अर्थात् उससे उपमिति – अज्ञातनामा पदार्थ के नाम की प्रमा का उदय होता है।

14.6.2 उपमान प्रमाण का स्वरूप

नैयायिकों का यह तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभ्त किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। नगर के रहनेवाल किसी व्यक्ति ने 'गवय' (अर्थात् नील गाय) को कभो नहीं देखा था। किसी आरण्यक पुरुष ने उसे बतलाया कि यथा गौस्तथा गवयः (गाय के समान गवय होता है)। इस वाक्य के सुनने के बाद वह जंगल में जाता है और गाय के समान ही एक पशु विशेष को देखता है। तब उसे 'अतिदेश' वाक्य का स्मरण हो आता है। इस प्रकार अतिदेश वाक्य के अर्थ की स्मृति के सहारे उसे गो सदृश पिण्ड का ज्ञान होता है। इसी का नाम है उपमान प्रमाण। इसका फल है उपमिति। अर्थात् संज्ञा–संज्ञी–सम्बन्ध की प्रतीति। अतिदेश वाक्य के अर्थ को स्मरण करने पर वह व्यक्ति जान लेता है कि इस गो सदृश पशु को ही

'गवय' कहते हैं। यहां गोसदृश पिण्ड संज्ञी है और 'गवय' संज्ञा है। इन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमान प्रमाण का फल है।

14.7 शब्द प्रमाण

14.7.1 शब्द प्रमाण का लक्षण

नैयायिकों का अन्तिम प्रमाण है – 'शब्द'। इसका लक्षण है आप्तपुरुष का उपदेश – आप्तोपदेशः शब्दः (न्यायसूत्र 1.1.6)। 'आप्तपुरुष' उसे कहते हैं, जो वस्तु के यथार्थ रूप को जानता है और हितकारक उपदेशों के देने के कारण जिसके वाक्य को हम प्रमाण मानते हैं। शब्द दो प्रकार का होता है – लौकिक तथा वैदिक। लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य को कहते हैं। वैदिक शब्द का तात्पर्य है वेद अथवा श्रुति। वेद को हम लोग अतीन्द्रिय, इन्द्रिय के अगोचर, पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाण मानते हैं।

जो उपाय न प्रत्यक्ष के द्वारा, और न अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, उसे वेद की सहायता से हम जानते हैं। यही वेद की वेदता या स्वरूप है। ईश्वर, ब्रह्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं को हम इसीलिए सत्य मानते है क्योंकि वेद इनका निरूपण करता है। न्याय की दृष्टि में वेद सर्वज्ञ ईश्वर की रचना है। इसीलिए वह 'पौरुषेय' माना जाता है। इस विषय में वेद को अपौरुषेय मानने वाले मीमांसकों से न्यायमत नितान्त भिन्न है।

14.7.2 वाक्य का स्वरूप

शब्द प्रमाण के अन्तर्गत वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान होता है। इसलिए वाक्य के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वाक्य का लक्षण करते हुए तर्कभाषा में कहा गया है – वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अर्थात् ऐसे पदों का समूह वाक्य कहलाता है जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त हो।

1. आकांक्षा – पदो में परस्पर आकांक्षा होनी चाहिए। ''गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती – गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी'' इस प्रकार बोले गये पदों का समूह वाक्य नहीं कहलाया जा सकता, क्योंकि इन पदों में आपस में आकांक्षा नहीं है।
2. योग्यता – 'वह्निना सिंचेत् – अग्नि से सींचा जाय'। यह पदों का समूह वाक्य नहीं कहलाया जा सकता, क्योंकि अग्नि में सिंचन कम की योग्यता नहीं।
3. सन्निधि – आकांक्षा और योग्यता के साथ साथ पदों में सन्निधि अर्थात् अविलम्ब उच्चारण भो होना चाहिए। प्रातः बोले 'गाय को' और शाम को बोल 'लाओ' तो यह पदों का समूह सन्निधि के अभाव में वाक्य नहीं कहलाया जा सकता।

14.8 पारिभाषिक शब्दावली

1.	अव्यपदेश्यम्	:	शब्द से जिसका कथन नहीं किया जा सकता।
2.	अव्यभिचारी	:	संशय, भ्रम आदि अयथार्थ ज्ञान से भिन्न।
3.	व्यवसायात्मक	:	निश्चयात्मक।
4.	अन्वय	:	एक के होने पर दूसरे का भी होना।
5.	व्यतिरेक	:	एक के नहीं होने पर दूसरे का भी नहीं होना।
6.	अवान्तर व्यापार	:	बीच में होने वाली क्रिया।
7.	आप्त	:	यथार्थ वक्ता

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न एवं अभ्यास

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर कोष्ठक में लिखिए और अपने उत्तरों को इकाई क अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाईये –

1. श्रोत्र से शब्द के ज्ञान में सन्निकष प्रयुक्त होता है –
   (क) संयोग (ख) संयुक्त समवाय
   (ग) समवाय (घ) समवेत समवाय उत्तर ( )
2. दो वस्तुओं के नित्य साहचर्य के नियम को कहते है –
   (क) प्रमा (ख) व्याप्ति
   (ग) सविकल्पक (घ) सादृश्य उत्तर ( )

3. निम्न में से कौन सा पंचावयव वाक्य का अंग नहीं है –
   (क) प्रतिज्ञा (ख) हेतु
   (ग) उपमिति (घ) उपनय उत्तर ( )
4. वाक्यार्थ ज्ञान के लिये निम्न में से कौनसा आवश्यक है –
   (क) व्याप्ति (ख) उपाधि
   (ग) आकांक्षा (घ) सन्देह उत्तर ( )

अभ्यास

1. प्रमाण से आप क्या समझते है? अधिकतम पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।
2. प्रत्यक्ष के भेदों को 100 शब्दों में समझाईये।
3. अनुमान से क्या तात्पर्य है? साथ ही उसके भेदों को अधिकतम दस पंक्तियों में बतलाइये।

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ग)
4. (ग)

अभ्यास

1. देखिये इकाई 14.2
2. देखिये इकाई 14.4
3. देखिये इकाई 14.5

14.10 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आपने भारतीय दर्शन के न्यायदर्शन के प्रमाण तथा उसके चार प्रकार के भदों के बारे में जानकारी प्राप्त की है। प्रमाण न्याय का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख पदार्थ है। इसी के कारण न्याय को प्रमाण शास्त्र भो कहा जाता है।

यथार्थ ज्ञान रखने वाले प्रमाता को जिन साधनों से विषय का यथार्थ ज्ञान होता है उन्हें प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण के बिना व्यक्ति किसी भो कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

प्रस्तुत इकाई में आपने प्रमाण के सामान्य लक्षण के साथ–साथ उसके चार भदों यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द का विस्तार सहित ज्ञान प्राप्त किया है। इन्हीं की सहायता से अन्य सभो पदार्थो का तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर भारतीय दर्शन के मुख्य उद्देश्य अपवर्ग को प्राप्त किया जा सकता है।

14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. न्याय सूत्र,प्रो० दयाकृष्ण,चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1973.
2. न्यायसिद्धांतमुक्तावली,गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली,2011.
3. तर्क भाषा : व्याख्याकार – श्री बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1973.
4. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,1942.
5. भारतीय दर्शन का इतिहास – भाग–1 एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1978.

इकाई–15

हेत्वाभास (तर्कभाषा)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 सद्हेतु का स्वरूप
15.3 हेत्वाभास का लक्षण
15.4 हेत्वाभास के प्रकार
15.4.1 असिद्ध हेत्वाभास
15.4.1.1 आश्रयासिद्ध
15.4.1.2 स्वरूपासिद्ध
15.4.1.3 व्याप्यत्वासिद्ध
15.4.2 विरुद्ध हेत्वाभास
15.4.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास
15.4.3.1 साधारणानैकान्तिक
15.4.3.2 असाधारणानैकान्तिक
15.4.3.3 अनुपसंहारी अनैकान्तिक
15.4.4 प्रकरणसम हेत्वाभास
15.4.5 बाधित हेत्वाभास
15.5 पारिभाषिक शब्दावली
15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.7 सारांश
15.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

15.0 उद्देश्य

आचार्य गौतम ने न्याय दर्शन में चार प्रमाण स्वीकृत किये हैं। अनुमान प्रमाण के सम्यक् ज्ञान के लिए हेतु के स्वरूप को समझना आवश्यक है और उसके लिए हेत्वाभास का ज्ञान होना आवश्यक है ताकि दुष्ट हेतु के प्रयोग से बचा जा सके और सही सही अनुमान किया जा सकें। इस इकाई में आप इन बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

- हेत्वाभास की पृष्ठभ्मि
- हेत्वाभास के लक्षण
- हेत्वाभास के भदोपभद

15.1 प्रस्तावना

न्याय शब्द का सामान्य अर्थ है (नीयते अनेन इति न्यायः) वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कष तक पहुँच सके। वह दर्शन जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ तर्क विषय का प्रतिपादन करता है न्यायदर्शन कहलाता है। संकुचित अर्थ में न्याय शब्द परार्थानुमान के लिए प्रयुक्त किया गया है जबकि व्यापक रूप में प्रमाणों द्वारा किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना न्याय है। इसीलिए यह तर्कशास्त्र या प्रमाणशास्त्र भो कहा जाता है।

प्रत्येक ज्ञान के लिए निम्न चार की आवश्यकता होती है–

1. प्रमाता– जो ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है,
2. प्रमेय– जिसके ज्ञान के लिए साधनों का प्रयोग किया जाता है,
3. ज्ञान या प्रमिति और
4. प्रमाण– ज्ञान प्राप्त करने के साधन।

ज्ञान मान्य है या अमान्य, यथार्थ है या भम, सत्य है या असत्य यह सब प्रमाण पर निभर करता है। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहा गया है– यथार्थानुभवः प्रमा। इस प्रमा के करण या साधन प्रमाण हैं– प्रमाकरणं प्रमाणम्। प्रमाण की उपस्थिति के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रमाण प्रमेय का भमरहित एवं निश्चित ज्ञान कराता है।

प्रमाणशास्त्र न केवल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है, बल्कि यह ज्ञान की यथार्थता के जाँचने में भो सहायक होता है। न्यायदर्शन ने स्वस्वीकृत प्रमेयसिद्धि व अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता प्रतिपादित करने की दृष्टि से चार प्रमाण स्वीकृत किए हैं,– प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है और अनुमिति का करण अनुमान है। अनुमान का यौगिक अर्थ है किसी वस्तु के पश्चात् मापना, यह वह ज्ञान है जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है। वात्स्यायन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अनुमान हो ही नहीं सकता। केवल उसी अवस्था में धुएं को देखकर स्थान विशेष पर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है, जब देखने वाला आग और धुएं को एक दूसरे के साथ सम्बन्ध देख चुका है।

अनुमान साधन है अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श यदि ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भो शुद्ध होगा। अतः न्यायदर्शन में परामर्श व परामर्श के लिए आवश्यक तत्त्व व्याप्ति व लिंग पर विशेष ध्यान दिया गया है। लिंग या हेतु वह है जिस से किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है–

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। (तर्कसंगह पृ. 112)

नैयायिकों की अनुमिति परामर्श पर आधारित है और परामर्श हेतु की शुद्धता व साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध पर। अनुमान प्रमाण के द्विविध भदों परार्थानुमान और स्वार्थानुमान में परार्थानुमान पंचावयव वाक्य पर निभर करता है।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पंचावयवाः। (तर्कभाषा पृ. 239)

प्रतिज्ञा का अर्थ है पक्ष में साध्य की घोषणा **(साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा)** पर्वतो वह्निमान्।

हेतु लिंग का प्रतिपादक वाक्य है **(उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः, तथा वैधर्म्यात्) धूमात्।**

उदाहरण वाक्य में हेतु से प्रतिज्ञा सिद्ध की जाती है (साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्) यो यो धूमवान् स स वह्निमान्,यथा महानसः।

उपनय वाक्य द्वारा उदाहरण को प्रतिज्ञा और हेतु पर लागू किया जाता है (उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः) वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः, तथा चायम्। निगमन द्वारा साध्य का समर्थन किया जाता है (हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्) तस्मात्तथा (तस्माद्वह्निमान् पर्वतः)।

इस प्रकार पंचावयव वाक्यों के अध्ययन से भो प्रतीत होता है कि अनुमान प्रमाण में लिंग या हेतु का सम्यक् ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। यदि लिंग शुद्ध होगा तो अनुमान भो शुद्ध होगा। वह लिंग तीन प्रकार का हो सकता है – केवल विधिपरक (केवलान्वयि), केवल निषेधपरक (केवलव्यतिरेकि) व दोनों प्रकार का (अन्वयव्यतिरेकी)।

15.2 सद्हेतु का स्वरूप

सद्धेतु के पाँच लक्षण बताए गए हैं–

1. पक्षधर्मत्व– हेतु को सदैव पक्ष में रहना चाहिए।
2. सपक्षसत्त्व– सपक्ष में रहना चाहिए क्योंकि सपक्ष में हेतु को देखकर ही पक्ष में उसका अनुमान किया जाता है।
3. विपक्षव्यावृत्ति– विपक्ष में हेतु की व्यावृत्ति होनी चाहिए अन्यथा अनुमान खण्डित हो जाएगा।
4. अबाधितविषयत्व– किसी अन्य बलवत्तर प्रमाण से उसका खण्डन नहीं होना चाहिए।
5. असत्प्रतिपक्षत्व– और कोई ऐसा कारण नहीं होना चाहिए जिससे साध्य का अभाव सिद्ध हो जाए।

जहाँ हेतु में ये पाँच लक्षण विद्यमान हैं वह सद्धेतु है। जहाँ पक्षधर्मत्व नहीं होगा वहाँ आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा, जहाँ सपक्षसत्त्व नहीं होगा वहाँ असाधारण सव्यभिचार और अनुपसंहारी होगा जहाँ विपक्षासत्त्व होगा वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध और साधारण सव्यभिचार हेत्वाभास होता है। जहाँ बलवान अन्य प्रमाण व कारण विद्यमान होगा वहाँ बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होता है।

अनुमान प्रमाण से असन्दिग्ध यथार्थ ज्ञान के लिए हेतु की शुद्धता पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है और इसी लिए सद्धेतु के लक्षण भो शास्त्रकारों ने गिनायें हैं। सद्धेतु के ज्ञान के अनन्तर उसके दोष जान लेना भो अनिवार्य है। हेतु के दोष न्यायदर्शन में हेत्वाभास नाम से कहे गए हैं।

15.3 हेत्वाभास का लक्षण

हेतुवदाभासते अर्थात् जो हेतु जैसा लगे पर हेतु हो नहीं। हेतु का आभास मात्र हो अर्थात् हतु में निर्दुष्टता लक्षित हो लेकिन वास्तव में वह दोषयुक्त हो तो हेत्वाभास कहलाता है।

हेतोराभासः हेतो सदृशः वा अर्थात् जो हेतु जैसा दिखाई पडे लेकिन हेतु न हो। जो हेतु दुष्ट होता है, वह हेत्वाभास होता है।

तर्कदीपिका में हेत्वाभास का लक्षण दिया है –

अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्। (तर्कदीपिका टीका तर्कसंग्रह पृ. 136)

अर्थात् जो ठीक अनुमिति द्वारा यथार्थज्ञान न होने दे।

वात्स्यायन के अनुसार हेतु के लक्षण का अभाव होने से हेतु सामान्य होने से हेतु के समान आभासित होने से ये हेत्वाभास कहलाते हैं। अर्थात् जो पंचमी विभक्ति के प्रयोग आदि के कारण हेतु की तरह प्रतीत तो हो परन्तु जो लक्षण हेतु का कहा गया हैं उससे रहित हो तो हेत्वाभास कहते हैं–

हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः ते इमे।। (न्यायसूत्र पृ.44)

15.4 हेत्वाभास के प्रकार

सद्धेतु के जो पाँच लक्षण बताये गए हैं, उनमें से किसी एक का भो अभाव होने पर हेतु दोषयुक्त होने के कारण हेत्वाभास की श्रेणी में आता है। इसी आधार पर गौतम ने हेत्वाभास पाँच माने हैं–

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। (न्यायसूत्र 1/2/4)

उनके अनुसार सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत भद से हेत्वाभास पाँच प्रकार के हैं।

तर्कसंग्रह के अनुसार भो हेत्वाभास संख्या में पाँच है–

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पंचहेत्वाभासाः। (तर्कसंग्रह पृ.136)

अन्नम्भट्ट के अनुसार सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध एवं बाधित भद से पाँच हेत्वाभास हैं।

न्यायसूत्र का प्रकरणसम तर्कसंग्रह का सत्प्रतिपक्ष है, साध्यसम असिद्ध है और कालातीत बाधित है। प्रशस्तपाद के अनुसार चार हेत्वाभास माने गए हैं। उनके अनुसार– असिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वम्।

अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध और अनध्यवसित इस प्रकार चार प्रकार के दुष्ट हेतु होते हैं। इनमें पक्षसत्त्व न होने से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्व न होने से अनध्यवसित व विरुद्ध तथा विपक्षसत्व से सन्दिग्ध हेत्वाभास मानते हैं।

कुछ विद्वानों ने अनध्यवसित को अनैकान्तिक का भद मानकर कणाद के अनुसार तीन ही हेत्वाभास माने हैं– असिद्ध, विरुद्ध व सन्दिग्ध।

केशवमिश्र के अनुसार हेतु के पाँच रूपों (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति,अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) के अतिरिक्त हेतु हेत्वाभास हैं। ये पाँच हैं–

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध–विरुद्ध– अनैकान्तिक– प्रकरणसम– कालात्ययापदिष्टभदात् पंचैव। (तर्कभाषा पृ. 90)

अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि हेतु के अतिरिक्त हेतु हेत्वाभास कहलाता है।

इस प्रकार न्यायदर्शन में पंचविध हेत्वाभासों का विवेचन किया गया है।

15.4.1 असिद्ध हेत्वाभास

तत्र लिंगत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः। लिंगरूपत्व से अनिश्चित हेतु असिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। गौतम ने असिद्ध को साध्यसम कहा है अर्थात् जो साध्य के समान हो या जिस प्रकार साध्य सन्दिग्ध होता है उसी प्रकार जहाँ हेतु भो सन्दिग्ध हो वह साध्यसम है।

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः। (न्यायसूत्र 1.2.8)

जो हेतु साध्य को सिद्ध करने की बजाय स्वयं साध्य हो, वह साध्यसम हेत्वाभास है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् साध्यव्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। असिद्धि परामर्श में बाधक होकर अनुमान में बाधक बनती है। परामर्श में व्याप्ति, पक्षता और पक्षधर्मता तीन अनिवार्य घटक हैं। जहाँ पक्ष में कोई दोष होता है वहाँ आश्रयासिद्ध, जहाँ हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध और जहाँ व्याप्ति में दोष हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

असिद्ध हेतु हेतु विषयक मूल सिद्धान्त का विरोधी है। हेतु को वस्तु विशेष में जहाँ अनुमान किया जाता है, विद्यमान रहना आवश्यक होता है। यदि पर्वत पर धूम (हेतु) विद्यमान न हो तो अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता। असिद्ध हेतु इस तथ्य से हीन होता है। जिस प्रकार पक्ष में साध्य को सिद्ध करना पडता है, उसी प्रकार हेतु को भो सिद्ध करना पडता है, वह निश्चित रूप से वहाँ विद्यमान नहीं रहता। इसीलिए वह साध्य के समान सिद्ध किया जाने वाला होने से साध्यसम और पक्ष में न होने से असिद्ध भो कहलाता है।

असिद्ध हेत्वाभास के भद :– यह असिद्ध हेतु भो तीन प्रकार का कहा गया है–1. आश्रयासिद्ध, 2.स्वरूपासिद्ध, व 3. व्याप्यत्वासिद्ध। परामर्श की त्रिविध शर्तों को पूरा नहीं कर पाने से ही असिद्ध हेतु तीन प्रकार का कहा गया है।

15.4.1.1 आश्रयासिद्ध

न्यायकुसमांजलि क अनुसार जिस हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष न हो उसको आश्रयासिद्ध कहते हैं

यस्य हेतोराश्रयो न विद्यते स आश्रयासिद्धः।

अन्नम्भट्ट के अनुसार जो हेतु पक्ष को अवच्छिन्न न करें वह आश्रयासिद्ध है।

पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः। (तर्कसंग्रह पृ. 144)

पक्ष ही हेतु का आश्रय कहा जाता है और जिस हेतु का आश्रय पक्ष ही सिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध है। यथा, गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्।

इस उदाहरण में 'अरविन्दत्वात्' (पंचम्यन्त) हेतु है और उसका आश्रय या पक्ष 'गगनारविन्द' है। वस्तुतः 'गगनारविन्द' जैसी कोई वस्तु संसार में नहीं है, अतएव इस हेतु का आश्रय असिद्ध होने से 'अरविन्दत्वात्' यह हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

जब विशेष्य विशिष्ट में न रह सके तो उसे विशेषण में मान लिया जाता है– सति विशेष्ये बाधे विशिष्टा बुद्धिर्विशेषणमुपसंक्रामति। गगनारविन्द में यद्यपि आश्रय अरविन्द असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें गगनीयत्व असिद्ध है।

15.4.1.2 स्वरूपासिद्ध

जो हेतु अपने आश्रय अर्थात् पक्ष में न पाया जाए उसको स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः।

आश्रयासिद्ध में आश्रय ही असिद्ध होता है जबकि स्वरूपासिद्ध में आश्रय तो यथार्थ होता है किन्तु हेतु उसमें नहीं होता अर्थात् पक्षधर्मता नहीं होती। यथा,

'अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्, घटवत्।'

यहाँ 'चाक्षुषत्वात्' हेतु है। उसका आश्रय या पक्ष 'शब्द' है। 'चाक्षुषत्व' हेतु उस आश्रय या 'शब्द' में नहीं रहता है क्योंकि शब्द चाक्षुष (चक्षग्र्राह्य) नहीं अपितु श्रावण (श्रोत्रग्राह्य) है। इसलिए आश्रय या पक्ष में नहीं पाए जाने के कारण 'चाक्षुषत्वात्' हेतु स्वरूपासिद्ध है।

15.4.1.3 व्याप्यत्वासिद्ध

जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। स्वरूपासिद्ध हेतु पक्ष में नहीं रहता जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। स्वरूपासिद्ध हेतु से पक्षधर्मता दुष्ट होती है जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से व्याप्ति। अन्नभट्ट के अनुसार सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है,

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः।

उपाधिवाला हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। यथा पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् यहाँ वह्निमत्त्वात् हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है क्योंकि इसमें 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। यह अनुमान साध्य धूम का व्यापक है जहाँ जहाँ धूम होगा वहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' अवश्य रहता है और वह्नि रूप साधन का अव्यापक है क्योंकि जहाँ जहाँ वह्नि होता है वहाँ वहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' आवश्यक नहीं है, अतः 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है।

अतः धूमरूपत्व का साध्य व वह्निरूप साधन का अव्यापक होने से 'आद्रन्धन संयोग' उपाधि है और वह्निरूप हेतु इस उपाधि से सिद्ध है अतः यह व्यापयत्वासिद्ध हेत्वाभास है। इसके भो दो भद प्राप्त होते है–1. व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभावात् 2.उपाधिसद्भावात्। जहाँ व्याप्ति ग्राहक प्रमाण न हो वहाँ प्रथम भद होता है। यथा,

'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत् सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरपटलम् तथा च शब्दादिरिति'।

यहाँ 'यत् सत् तत्क्षणिकं' इस व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता।

15.4.2 विरुद्ध हेत्वाभास

जिस हेतु की व्याप्ति साध्य के साथ न होकर साध्य विपर्यय अर्थात् साध्याभाव के साथ हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

साध्यविपर्ययव्यापतो हेतुर्विरुद्धः। (तर्कसंग्रह पृ. 141)

जिस हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि न होकर उसके विरुद्ध की सिद्धि हो। जो हेतु साध्य के अभाव से व्याप्त है और साध्याभाव वाले स्थल में रहता है विरुद्ध हेत्वाभास है। यथा,

'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्।' (शब्द नित्य है जन्य होने से)

यहाँ 'कृतकत्वात्' हेतु है उसका साध्य नित्यत्व है परन्तु 'कृतकत्व' की व्याप्ति नित्यत्व के साथ नहीं अपितु उसके अभाव 'अनित्यत्व' के साथ है। जो वस्तु कृतक या जन्य होती है वह नित्य नहीं होती अपितु अनित्य होती है। यथा,

'यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम् यथा घटादिकम्'। इस प्रकार साध्याभाव के साथ ही 'कार्यत्व' हेतु की व्याप्ति बनती है। अतः विरुद्ध हेतु साध्य के विपरीत साध्य को सिद्ध करता है।

न्यायसूत्र के अनुसार विरुद्ध हेतु से जो हम सिद्ध करना चाहते हैं, उससे विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। (न्यायसूत्र 1.2.6)

अर्थात् जिस सिद्धान्त को स्वीकार कर प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्त का विरोधी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। विरुद्ध हेतु कभो सपक्ष में नहीं रहता।

15.4.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास

अनैकान्तिक या सव्यभिचार हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक ही हेतु से विरोधी निष्कष निकलते हैं। साध्य से भिन्न पदार्थों में भो रहने वाला हेतु सव्यभिचारी कहलाता है। इस हेतु से किसी भो परिणाम तक पहुँचना असम्भव होता है। इसके परिणाम विपरीत ही होते हैं। यह हेतु साध्य की स्थिति वाले स्थानों के साथ साथ साध्य के अभाव वाले स्थान पर भो रहता है। सव्यभिचारी हेत्वाभास का लक्षण है–

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः। (न्यायसूत्र 1.2.5)

केशवमिश्र के अनुसार सव्यभिचारी ही अनैकान्तिक है–

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। (तर्कभाषा पृ. 94)

सव्यभिचार वह है जिससे साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं,

साध्यसंदेहजनकोभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपत्वम्।

न्यायकुसुमांजलि व तर्कभाषा ने सव्यभिचारी हेत्वाभास के दो भद किये हैं–

1. साधारणानैकान्तिक
2. असाधारणनैकान्तिक

तर्कसंग्रह में अन्नम्भट्ट ने एक तीसरा भद अनुपसंहारी भो स्वीकार किया है।

15.4.3.1 साधारणानैकान्तिक

जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है, वह साधारणानैकान्तिक है,

तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः।

साधारण व्यभिचारी वह है जिसमें अतिव्याप्ति हो अर्थात् जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हों। यथा–

'पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वात्।'

इस अनुमान में 'प्रमेयत्व' हेतु साधारण अनैकान्तिक है क्योंकि यह महानसादिरूप सपक्ष व ह्रदादिरूप विपक्ष दोनों में रहता है। वे दोनों प्रमेय हैं। अन्नम्भट्ट ने साधारण को केवल साध्याभाव के साथ ही व्याप्त माना है किन्तु तर्ककौमुदी में उसे सपक्ष विपक्ष वृत्ति माना है।

15.4.3.2 असाधारणानैकान्तिक

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में ही नहीं रहता हो, किन्तु केवल पक्ष में ही रहता है, वह **असाधारणानैकान्तिक है।**

सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तोऽसाधारणः।

विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष में नहीं रहता। साधारण अतिव्याप्त है तो असाधारण अव्याप्त, क्योंकि उसे जहाँ व्याप्त होना चाहिए उस सपक्ष में भो नहीं रहता। वह पक्ष का ही असाधारण गुण होता है। यथा–

'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्।'

यहाँ 'शब्दत्व' हेतु है यह आकाशादि रूप सपक्षों में तथा घट पटादिरूप विपक्ष में नहीं रहता अपितु केवल शब्दरूपपक्ष में ही रहता है, यह शब्द का असाधारण धर्म है और कहीं नहीं रह सकता। अतः यह असाधारण हेत्वाभास है। इसीलिए तर्कभाषा में केशवमिश्र ने कहा है –

सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः।

15.4.3.3 अनुपसंहारी अनैकान्तिक

जिसका अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त न हो वह अनुपसंहारी है।

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी।

अनुपसंहारी हेत्वाभास पक्ष के अतिरिक्त जहाँ जहाँ साध्य होता है वहाँ वहाँ नहीं होता। यह तभो सम्भव है जब समस्त पदार्थों को पक्ष बना लिया जाए। यथा,

'सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्। यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्रानित्यत्वम्। यथा घटे पटे।'

यहाँ सब पदार्थ पक्ष हैं तो उदाहरण रूप में घट पट आदि पदार्थ नहीं दिए जा सकते।

वस्तुतः सव्यभिचार का लक्षण है कि जहाँ साध्य के साथ पूर्ण व्याप्ति न हो। वह न तो पूरी तरह साध्य के साथ रहे न साध्याभाव के। अतः तीन स्थितियां बन सकती हैं,

1. हेतु सपक्ष में तो न रहे और विपक्ष में रहे यह अनुपसंहारी हुआ।
2. हेतु सपक्ष में तो रहे किन्तु विपक्ष में भो रहे। यह साधारणानैकान्तिक है।
3. हेतु विपक्ष में तो न रहे किन्तु सपक्ष में भो न रहे। यह असाधारणानैकान्तिक है।

अनुपसंहारी में सपक्ष नहीं होता और न विपक्ष व्यावृत्ति होती। साधारण सपक्ष विपक्ष दोनों में रहता है। इसमें सपक्षसत्त्व तो होता है किन्तु विपक्षव्यावृत्ति नहीं होती है। असाधारण न सपक्ष में होता है न विपक्ष में। सव्यभिचारी हेत्वाभास के ये तीन भद होते हैं।

15.4.4 प्रकरणसम हेत्वाभास

जिस हेतु के साध्य के विपरीत का साधक दूसरा हेतु विद्यमान है, वही प्रकरणसम है। इसी को सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भो कहा गया है।

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते, स सत्प्रतिपक्षः।

जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु है, वह सत्प्रतिपक्ष है। गौतम के अनुसार विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं। उसकी चिन्ता विमर्श से लेकर निर्णय तक जिज्ञासा जिस के कारण की गई है, वह निर्णय के लिए उपयुक्त दोनों पक्षों की समता से प्रकरण का उल्लघंन नहीं करता है, अतएव इस का नाम प्रकरणसम हेत्वाभास होता है

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः।
साध्यविपरीतसाधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः।

अर्थात् एक हेतु का जो साध्य हो दूसरा हेतु उसके विपरीत बात को सिद्ध करता हो और वे दोनों हेतु तुल्यबल हों तो वे एकदूसरे के प्रतिपक्ष कहलाते हैं। वे दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास होंगे। यथा,

'शब्दो नित्यः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः'। इसके विपरीत

'शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः'।

यहाँ प्रथम अनुमान शब्द को नित्य सिद्ध करता है और दूसरा उसको अनित्य सिद्ध करता है। इन दोनों की सिद्धि के लिए दिए हेतु अनित्यधर्मानुपलब्धे (अनित्यधर्म के न पाए जाने से) नित्यधर्मानुपलब्धे (नित्य धर्म के न पाए जाने से) दो परस्पर विरोधी बातों को सिद्ध कर रहे हैं और दोनों तुल्यबल हैं। इसलिए वे दोनों प्रतिपक्षभ्त् हैं और दोनों हेतुओं का प्रतिपक्ष विद्यमान होने से वे दोनों सत्प्रतिपक्ष अथवा प्रकरणसम कहलाते हैं। इन दोनों में से कोई भो अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

सत्प्रतिपक्ष को वैशेषिक बाधित के अन्तर्गत ही मानते हैं किन्तु बाधित और सत्प्रतिपक्ष में अन्तर है। बाधित में अनुमान का साध्य वस्तुतः बलवत्तर प्रमाण द्वारा असिद्ध किया जाता है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं होता वहाँ दो समान बल वाले अनुमान एक दूसरे के विरोधी होते हैं और इसलिए किसी एक के लिए हमारा निर्णय नहीं हो पाता। गौतम ने इस हेत्वाभास का इसीलिए प्रकरणसम नाम रखा है।

15.4.5 बाधित विषय हेत्वाभास

जिस हेतु के पक्ष में किसी अन्य बलवत्तर प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो गया है वह बाधित विषय हेत्वाभास है। इसी का नाम कालात्ययापदिष्ट है।

पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः।

बाधित हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये।

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः, स बाधितः।

यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो, साध्य के साधक प्रमाण से बलवान होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुलयबल होंगे तो सत्यप्रतिपक्ष होगा बाधित नहीं। यथा,

'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्'।

वह्नि अनुष्ण है द्रव्यत्व के कारण। यहाँ साध्य है अग्नि का 'अनुष्णत्व'। उसका अभाव 'उष्णत्व' स्पर्श प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है अतः यह बाधित हेत्वाभास है।

न्यायसूत्र में इसे कालात्ययापदिष्ट कहा गया है।

'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'।

अर्थात् जिस अर्थ का एक देशकाल के ध्वंस से युक्त हो उसे कालातीत हेत्वाभास कहते हैं। यह उन स्थानों पर होता है जहाँ साध्य का अभाव अनुमान से भिन्न प्रमाणों के द्वारा सिद्ध रहता है। जैसे अग्नि का उष्णत्व प्रत्यक्ष द्वारा पहले से ही सिद्ध है।

बाधित हेत्वाभास साध्याभाव का निश्चय कराने के कारण तथा सत्प्रतिपक्ष विरोधी ज्ञान कराने के कारण साक्षात् अनुमिति में प्रतिबन्धक हैं। शेष हेत्वाभास परामर्श में प्रतिबन्धक हैं। इनमें
साधारण, विरुद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध व्याप्तिज्ञान में प्रतिबन्धक है। आश्रयासिद्ध तथा स्वरूपासिद्ध पक्षधर्मता ज्ञान में प्रतिबन्धक है। उपाधि भो व्याप्ति ज्ञान में ही प्रतिबन्धक है।

15.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. प्रमा– 'यथार्थानुभवो प्रमा'– यथार्थज्ञान प्रमा है।
2. प्रमाण– 'प्रमीयते अनेन, प्रमायाः करणं प्रमाणम्'– जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो या जो यथार्थ ज्ञान का साधन है, वह प्रमाण है।
3. प्रत्यक्ष– 'इन्द्रियार्थसन्निकषजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'– इन्द्रिय और अर्थ का षड्विध सन्निकष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है।
4. अनुमान– 'अनुमितिकरणमनुमानम्'– अनुमिति ज्ञान का करण अनुमान है।
5. अनुमिति– 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः'– परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है।
6. परामर्श– 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'– व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष में रहने का ज्ञान परामर्श है। जैसे यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूमवाला है– यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला पर्वत वह्निमान् है यह ज्ञान अनुमिति है।
7. व्याप्ति– 'साहचर्यनियमो व्याप्तिः'– साहचर्य नियम व्याप्ति है, जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है।
8. पक्षधर्मता– 'व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता' व्याप्य का पर्वतादि में रहना पक्षधर्मता है हेतु का पक्ष में रहना पक्षधर्मता है।

9. केवलान्वयि– जिस हेतु की केवल अन्वय व्याप्ति हो। जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयी लिंग कहलाता है। ऐसे साध्य का कहीं भी अत्यन्ताभाव नहीं होता। उदाहरणतः 'अभिधेयत्व' का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। केवलान्यी वहाँ होता है जहाँ ऐसी वस्तु साध्य हो जो सत्ता मात्र में रहती हो।

10. केवलव्यतिरेकि–जिस हेतु की अन्वयव्याप्ति न हो। 'पृथ्वीं इतरभेदवती गन्धवत्वात्। यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं हो सकती। यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र पृथ्वीतरभेदं' नहीं कहा जा सकता। अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है उसका अभाव यहाँ व्यापक होता है और जो व्यापक होता है उसका अभाव यहाँ व्याप्य होता है। अन्वय मे साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, उससे भिन्न में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है। जिस हेतु का अन्वयव्याप्ति में उदाहरण न मिल सके और केवल व्यतिरेक व्याप्ति में उदाहरण मिले उसको केवलव्यतिरेकि हेतु कहते हैं।

11. अन्वयव्यतिरेकी– जिसका साध्य अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त हो वह अन्वयव्यतिरकी है जिस हेतु के उदाहरण अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति के उदाहरण मिल जायें, वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है।

12. पक्ष– 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' – जिसमें साध्य सन्दिग्ध हो वह पक्ष है। जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् अनुमान में पर्वत।

13. सपक्ष– 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः'। –जिसमें साध्य निश्चित हो वह सपक्ष है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में महानस।

14. विपक्ष– 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' – जहाँ साध्य का अभाव निश्चित हो वह विपक्ष है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में सरोवर।

15. उपाधि– 'उपसमीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः'। जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रमित कर दे। इस प्रकार उपाधि परिस्थिति विशेष है जो कि किसी पदार्थ को थोडी देर के लिए हमें किसी और रूप में दिखला देती है। जसे आर्द्रेन्धन अग्नि की उपाधि है।

उपाधि चार प्रकार की होतो है। 1. जो साध्य के साथ सदा रहती है 2. जो पक्ष धर्मावच्छिन्न साध्य के साथ केवल रहती है 3.जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है। 4. जो उदासीन धर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है।

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

रिक्तस्थानों की पूर्ति करें।

1. न्यायदर्शन के प्रर्वतक आचार्य .... हैं।
2. तर्कसंग्रह के लेखक .... हैं।
3. तर्कभाषा के रचयिता का नाम ....है।
4. न्यायकुसुमांजलि के लेखक .... हैं।

लघूत्तरात्मक प्रश्नः–

5. केशवमिश्र के अनुसार हेत्वाभास कितने हैं?
6. कालात्ययापदिष्ट का अपर नाम क्या है?
7. सत्प्रतिपक्ष को किस हेत्वाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया है?
8. गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, में कौनसा हेत्वाभास है?
9. सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात् में कौनसा हेत्वाभास है?
10. वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् में कौनसा हेत्वाभास है?

निबन्धात्मक प्रश्नः–

11. अनुमान के पंचावयवों को स्पष्ट कीजिए।

12. सद्धेतु के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
13. हेत्वाभास का लक्षण समझाइये।
14. असिद्ध हेतवाभास को भेद सहित स्पष्ट कीजिए।
15. विरुद्ध हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।
16. अनैकान्तिक हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।
17. प्रकरणसम हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।
18. बाधित विषय हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्नों / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

रिक्तस्थान की पूर्ति करों।

1. गौतम
2. अन्नम्भट्ट
3. केशव मिश्र
4. उदयनाचार्य

लघूत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर

5. पाँच। असिद्ध–विरुद्ध– अनैकान्तिक– प्रकरणसम– कालात्ययापदिष्टभेदात् पंचैव।
6. बाधित विषय हेत्वाभास।
7. प्रकरणसम हेत्वाभास।
8. आश्रयासिद्ध हेत्वाभास।
9. अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास।
10. बाधित विषय हेत्वाभास।

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

11. इकाई 15.1 देखें।
12. इकाई 15.2 देखें।
13. इकाई 15.3, देखें।
14. इकाई 15.4.1 शीर्षक 1,2,3 देखें।
15. इकाई 15.4.2 देखें।
16. इकाई 15.4.3 से 15.4.3 शीर्षक 1,2,3 देखें।
17. इकाई 15.4.4 देखें।
18. इकाई 15.4.5 देखें।

15.7 सारांश

निष्कषतः हेतु के पाँच गुणों में से साधारणानैकान्तिक में तृतीय गुण विपक्ष से व्यावृत्ति का अभाव रहता है। असाधारण व अनुपसंहारी में द्वितीयगणु (सपक्ष में स्थिति) का उल्लघंन, विरुद्ध हेत्वाभास में प्रथम तीनों गुणों का अभाव रहता है। सत्प्रतिपक्ष में चतुर्थ गुण का तथा बाधित में पाँचवें गुण (अबाधितविषयत्व) का अभाव दृष्टिगत होता है। असिद्ध के तीनों प्रकारों में भो यही दशा होती हैं आश्रयासिद्ध में पक्ष नहीं होता, स्वरूपासिद्ध में पक्ष में हेतु नहीं रहता, व्याप्यत्वासिद्ध में व्याप्ति सही नहीं जमती अतः अनुमान सिद्ध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि सत् हेतु के गुणों के न रहने पर ही हेत्वाभास होता ह।

15.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. न्यायसूत्र – महर्षि गौतम– ठाकुर उदयनारयण सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1997.
2. तर्कभाषा– केशव मिश्र, व्या. विश्वेश्वराचार्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2006.
3. तर्कसंग्रह– अन्नम्भट्ट, व्या0 डॉ. दयानन्द भार्गव मोती लाल बनारसीदास दिल्ली 1992.
4. भारतीय दर्शन का इतिहास– एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
5. भारतीय दर्शन की रूपरेखा– प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली,1991.
6. भारतीय दर्शन–आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,1991।
7. प्रशस्तपादभाष्य– व्या.आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,1980.
8. भारतीय दर्शन– डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली, 2004.

इकाई–16

प्रामाण्यवाद (तर्कभाषा)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 प्रामाण्यवाद
16.2.1 प्रामाण्यवाद की आवश्यकता
16.2.2 प्रामाण्यवाद का अर्थ
16.2.3 प्रामाण्यवाद के प्रकार
16.2.3.1 स्वतः प्रामाण्यवाद
16.2.3.2 परतः प्रामाण्यवाद
16.2.4 प्रामाणवाद–विषयक विभिन्न मत
16.3 प्रामाण्यवाद–विषयक मीमांसक मत
16.3.1 तर्कभाषा में वर्णित मीमांसा का प्रामाण्य–विषयक मत
16.3.2 ज्ञातता
16.4 मीमांसक मत का खण्डन
16.4.1 ज्ञातता का खण्डन
16.4.2 प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन
16.5 प्रामाण्यवाद–विषयक न्याय का सिद्धान्त : परतः प्रामाण्यवाद
16.5.1 ज्ञान का मानस–प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण
16.5.2 ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से
16.5.3 प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व न होकर याथार्थ्य
16.5.4 परतः प्रामाण्य की सिद्धि
16.6 निष्कर्ष
16.7 व्याख्या
16.7.1 व्याख्या सं.1
16.7.2 व्याख्या सं.2
16.8 पारिभाषिक शब्दावली
16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.10 सारांश
16.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

16.0. उद्देश्य–

संस्कृत के एम.ए. पूर्वार्द्ध के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन से सम्बन्धित इस इकाई में न्याय–दर्शन में वर्णित प्रामाण्यवाद के विषय में विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

1. प्रमाण्यवाद क्या है– यह जान सकेंगे।
2. प्रामाण्यवाद विषयक कितने मत दर्शन में प्रचलित हैं, इससे परिचित हो सकेंगे।
3. स्वतः तथा परतः प्रामाण्य को समझ सकेंगे।
4. प्रामाण्य विषयक मीमांसकमत तथा न्याय द्वारा किए गये उसके खण्डन को जानेंगे।
5. प्रामाण्यवाद विषयक न्याय दर्शन के मत को समझ सकेंगे।
6. पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रन्थ तर्क भाषा के प्रमुख अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना–

भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय प्राप्त करने के बाद स्नातकोत्तर कक्षा में आप प्रमुख भारतीय दर्शनों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का अधिक विस्तार से अध्ययन कर रहे हैं। इसी क्रम में न्यायदर्शन के सिद्धान्तों से परिचित होने के लिए आप केशव मिश्र प्रणीत तर्क भाषा का अध्ययन कर रहे हैं । न्याय को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। न्याय–सम्मत चार प्रमाणों का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त प्रामाण्यवाद का प्रश्न उपस्थित होता है। इस इकाई में प्रामाण्यवाद के विषय में न्याय दर्शन का क्या मत है, यह स्पष्ट किया गया है। मीमांसा दर्शन में भो प्रामाण्यवाद की समस्या पर विचार किया गया है। न्याय मीमांसा के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं है। अतः तर्कभाषा में मीमांसको के मत का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। प्रामाण्यवाद क्या है, उसके कितने प्रकार हो सकते हैं, स्वतः प्रामाण्य व परतः प्रामाण्य से क्या तात्पर्य है तथा सांख्य, न्याय आदि दर्शन किस मत को मानते है, इस विषय में इस इकाई में विवेचन किया गया है तथा विषय को पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रन्थ तर्कभाषा के संदभ में समझाने की चेष्टा की गई है।

16.2 प्रामाण्यवाद–

न्याय शास्त्र तथा मीमांसा शास्त्र में प्रामाण्यवाद को सबसे कठिन विषय कहा जाता है। आचार्य उमेश मिश्र ने इस विषय में एक रोचक घटना का उल्लेख किया है कि मिथिला की विद्वन्मण्डली में प्रसिद्ध है कि एक समय 14वीं सदी में एक बहुत बड़े विद्वान और कवि किसी अन्य प्रान्त से मिथिला के महाराज की सभा में आए । उनकी कवित्वशक्ति और विद्वत्ता से सभो चकित हुए । वह मिथिला में रहकर प्रामाण्यवाद का विशेष अध्ययन करते थे। कुछ समय पश्चात् महाराज ने उनसे एक दिन नवीन कविता सुनाने को कहा, तो बहुत देर सोचने के बाद उन्होंने एक कविता की रचना की– 'नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे'। उसकी दूसरी पंक्ति की पूर्ति करने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की । वास्तव मे प्रामाण्यवाद बहुत कठिन है और इसके अध्ययन करने वालों का ध्यान और कहीं नहीं जा सकता है। आइए देखते है कि यह प्रामाण्यवाद आखिर है क्या?

16.2.1 प्रामाण्यवाद की आवश्यकता–

विविध प्रमाणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ है या अयथार्थ इसका निश्चय कैसे होता है ? इसे तर्कशास्त्र की भाषा में इस प्रकार कहा जाता है ''ज्ञान का प्रामाण्य कैसे गृहीत होता है ?'' इस प्रश्न को लेकर भारतीय दर्शनों में काफी विवाद दिखाई पड़ता है। संभवतः सर्वप्रथम वेद की प्रामाणिकता के विषय में इस प्रकार के विवाद का उदय हुआ था । बाद में यह विचार सामान्यतः सभो ज्ञानों के विषय में किया जाने लगा । जो हम जान रहे हैं वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ, इसे जानना भो आवश्यक है। यही ज्ञान का प्रामाण्य है। प्रामाण्यग्रह को लेकर होने वाले विवादों (प्रामाण्यवाद) को जानने की आवश्यकता का कारण भो ज्ञान की यथार्थता विषयक जिज्ञासा ही है।

16.2.2 प्रामाण्यवाद का अर्थ–

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस लक्षण के अनुसार प्रमा (यथार्थ अनुभव) का करण प्रमाण कहलाता है। किन्तु 'प्रमाण' शब्द का 'यथार्थ ज्ञान' अर्थ में भो प्रयोग किया जाता है। 'प्रामाण्यवाद' शब्द में 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है– यथार्थ ज्ञान । प्रमाण का भाव प्रमाणत्व या प्रामाण्य कहलाता है। अतः प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता 'ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यम्' (तर्कभाषा) ज्ञान की यथार्थता ही उसका प्रामाण्य है। इस प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विषयक विचार या वाद को ही प्रामाण्यवाद कहा जाता है–

प्रामाण्यसम्बन्धीवादः– प्रामाण्यवादः । शुकदेव शास्त्री के अनुसार प्रामाण्यवाद उस चिन्तन पद्धति का नाम है, जिसमें ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का विचार किया जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी भो प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान स्वयं यथार्थ माना जाए अथवा उसकी यथार्थता के लिए किसी दूसरे प्रमाण की सहायता ली जाए। तात्पर्य है कि प्रत्येक प्रमाण स्वतंत्र रूप से ज्ञान को उत्पन्न करता है और वह ज्ञान स्वयं यथार्थ है अथवा एक प्रमाण के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है तथा दूसरे प्रमाण के द्वारा

उस ज्ञान की यथार्थता सिद्ध होती है। यही प्रामाण्यवाद का विचारणीय विषय है तथा इस विषय विषयक विभिन्न मत ही प्रामाण्यवाद है।

16.2.3 प्रामाण्यवाद के प्रकार –

कोई ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ (प्रामाण्य–अप्रामाण्य) इसका निश्चय या ग्रहण कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर–भारतीय दर्शनों में सामान्यतः दो प्रकार से दिया गया है। एक है कि एक सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति के लिए जिन कारणों की आवश्यकता होती है, उन्हीं कारणों से ही ज्ञान की यथार्थता अथवा प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाता है तथा दूसरा है कि प्रामाण्य के ग्रहण हेतु उत्पादक कारणों से भिन्न कारणों की अपेक्षा रहती है। इसी आधार पर प्रामाण्य विषयक दो मत प्रमुख रूप से सामने आते हैं।

16.2.3.1 स्वतः प्रामाण्यवाद–

ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता । यह प्रामाण्य ज्ञान का धर्म है, ज्ञान इसका धर्मी है। दूसरे शब्दों में ज्ञान नामक धर्मी में प्रामाण्य नाम का धर्म रहता है। ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है। तात्पर्य है कि जिस कारण–सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता ह उसी सामग्री के द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का भो ग्रहण होता है। ऐसा नहीं होता कि एक कारण–सामग्री से ज्ञान का ग्रहण करने के पश्चात् किसी अन्य साधन से ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता हो। अतः ज्ञान नामक धर्मी तथा प्रामाण्य नामक उसके धर्म का एक ही कारण सामग्री से ग्रहण हो जाता है। इसी बात को निषेधात्मक रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण करने के लिए ज्ञान–ग्राहक–सामग्री से अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती– 'येनैव यज्ज्ञानं गृकृते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञान–धर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य।'

16.2.3.2 परतः प्रामाण्यवाद–

जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ज्ञान के प्रामाण्य अथवा यथार्थता की उत्पत्ति के लिए उनसे भिन्न कारणों की अपेक्षा होती है, यह सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद कहलाता है। न्याय–वैशेषिक इस सिद्धान्त का पोषक है। उनके अनुसार ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है किन्तु ज्ञाता की सफल प्रवृत्ति अथवा विफल प्रवृत्ति के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान द्वारा होता है। इस प्रकार ज्ञान तथा प्रामाण्य के ग्रहण के कारण भिन्न हो गए। यही परतः प्रामाण्यवाद है। 'ज्ञानं हि मानस प्रत्यक्षेणैव गृकृते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन।'

16.2.4 प्रामाण्यवाद विषयक विभिन्नमत –

स्वतः तथा परतः प्रामाण्यवाद को जानने के बाद यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि विभिन्न भारतीय दर्शन इनमें से किस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस प्रश्न का उत्तर जानने से पहले एक बार ज्ञान की उत्पत्ति विषयक सामान्य प्रक्रिया को दोहरा लेना उचित रहेगा । घट ज्ञान की प्रक्रिया में आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रियों से और इन्द्रिय अर्थ (घट) से, तब उसके बाद ज्ञान होता है। उसके बाद मैं 'घड़े को जानता हूँ' (घटमहं जानमीति)– यह दूसरा ज्ञान–विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे घड़े के ज्ञान का ज्ञान होता है। नैयायिक इसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। प्रथम ज्ञान निश्चयात्मक होने के कारण व्यवसाय है और यह उसके बाद होने के कारण अनुव्यवसाय है। अन्य दार्शनिक भो ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त से मिलती–जुलती प्रक्रिया मानते हैं। संक्षेप में इन्द्रियार्थ–सन्निकष से ज्ञान की उत्पत्ति तथा ज्ञानान्तर (अनुव्यवसाय) से ज्ञान की ज्ञप्ति मानी जाती है। ज्ञप्ति से तात्पर्य है ज्ञान का ज्ञान। यह अनुभ्ति कि मैं जानता हूँ।

प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत विचारणीय यह है कि एक सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के लिए जो कारण अपेक्षित हैं, क्या उनसे ही प्रामाण्य और अप्रामाण्यभो उत्पन्न और ज्ञात हो जाता है। प्रथमतः इस प्रश्न का जो उत्तर प्राप्त होता है उसके आधार पर स्वतः प्रामाण्यवाद व परतः प्रामाण्यवाद ये दो भद सामने आते है। इन दोनों का सामान्य परिचय हम प्राप्त कर चुके हैं।

अब उत्पत्तिगत व ज्ञप्तिगत प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर विचार करने पर प्रामाण्यवाद के अवान्तर मत सामने आते हैं। उत्पत्ति व ज्ञप्ति दो दृष्टियों से विचार करने पर प्रामाण्य व अप्रामाण्य का स्वतस्त्व दो प्रकार का है– एक उत्पत्ति में स्वतस्त्व दूसरा ज्ञप्ति में स्वतस्त्व । उत्पत्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य भो उत्पन्न हो जाता है। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय है कि जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसके द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार प्रामाण्य का परतस्त्व भो दो प्रकार का है । उत्पत्ति में परतस्त्व तथा ज्ञप्ति में परतस्त्व । उत्पत्ति में परतस्त्व का अर्थ है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे भिन्न कारणों से प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय तथा अर्थ के संयोग आदि से ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु गुण अथवा दोष से ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। ज्ञप्ति में परतस्त्व का अर्थ है, जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उससे अन्य साधन द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय किया जाता है। तर्कभाषा में प्रामाण्य के उत्पत्ति विषयक स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार नहीं किया गया है। यहाँ केवल ज्ञप्ति विषयक स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार किया गया है।

प्रामाण्य के ग्रहण के विषय में एक मत सांख्य दर्शन का है जो प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को ही स्वतोग्राह्य मानता है तथा दूसरा मत न्याय–वैशेषिक का है जो प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को ही परतोग्राह्य स्वीकार करते हैं। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों को इन दोनों के मध्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। वे या तो एक को स्वतः और दूसरे को परतः मानते हैं अथवा प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को ही कहीं स्वतः और कहीं परतः मानते हैं। इस प्रकार इस विषय में भारतीय दर्शन में निम्नलिखित मत दृष्टिगोचर होते है–

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उभयस्वतः –

सांख्य दर्शन किसी प्रमाण से होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को स्वतः मानता है । अतः यह उभय–स्वतः–वादी दर्शन है। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।– सर्वदर्शनसंग्रह।

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उभय परतः –

किसी प्रमाण से होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों में न्याय–वैशेषिक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं।

प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः –

किसी प्रमाण से होने वाले ज्ञान की प्रामाणिकता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है किन्तु उसको अप्रामाणिकता की सिद्धि परतः होती है। इस मत को स्वीकार करने वाले मीमांसक तथा वेदान्ती हैं।

अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः –

एकदेशी बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं।

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों किंचित् स्वतः किंचित् परतः –

यह भो बौद्धों का ही मत है।

उत्पत्ति में दोनों स्वतः ज्ञप्ति में दोनों परतः –

जैन दर्शन इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला है।

तर्कभाषा में इन सभो मतों की विवेचना नहीं की गई है। अतः यहाँ उनका नाम–निर्देश मात्र किया गया है। तर्क भाषा में पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक के मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया गया है। अब मीमांसक मत को देखते हैं।

16.3 प्रामाण्यवाद–विषयक मीमांसक मत–

मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों की दृष्टि से स्वतः प्रमाण होता है, जो ज्ञान के हेतु होते हैं वे ही उसके प्रामाण्य के हेतु भो हैं। इसी तरह ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान भो तभो हो जाता है जब ज्ञान का ज्ञान होता है। इसके लिए किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। उसका प्रामाण्य किसी हेतु पर निभर

नहीं होता। हेतु जानने की आवश्यकता केवल तब होती है, जब कोई ज्ञान अप्रमाण होता है। हम सदैव यह मानकर चलते हैं कि जो ज्ञान हमें हुआ है, वह सही है; लेकिन यदि बाद में पता चले कि उसका कोई भाग सही नहीं है, तो हमें यह जिज्ञासा होती है कि वे कौन सी बाह्य परिस्थितियां हैं जिन्होंने ज्ञान के कारणों के व्यापार में बाधा डालकर उसमें अप्रामाण्य उत्पन्न किया है। अप्रामाण्य का कारण ज्ञान के कारण में रहने वाला कोई दोष होता है। कोई आदमी दृष्टि–दोष के कारण शुक्ति को रजत के रूप में देख सकता है। इसी कारण मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान के मिथ्यात्व का पता बाद के अनुभव से उसके असंगत होने से चलता है। जब कोई व्यक्ति, जो किसी दूरस्थ चीज को सांप समझे बैठा है, उसके निकट जाता है और देखता है कि वह तो रस्सी है, तब वह मान लेता है कि पहले उसे जो ज्ञान हुआ था, वह मिथ्या था । इस प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्य के बारे में मीमांसा का मत न्याय के समान है, किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य के बारे में मीमांसा का मत भिन्न है। तर्कभाषा में पूर्वपक्ष के रूप में मोमांसा के मत को प्रस्तुत किया गया है–

16.3.1 तर्कभाषा में वर्णित मीमांसा का प्रामाण्य–विषयक मत–

लोक–व्यवहार में प्यासा व्यक्ति पानी की खोज करता है। यह ज्ञान हो जाने पर कि वहाँ पानी है, व्यक्ति प्रामाण्य का निश्चय करके जल ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाता है। अथवा जल ग्रहण करन में प्राप्त सफलता के आधार पर बाद में ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय करता है। इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक का कथन है कि –

प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय–

प्रवृत्ति से पहले ही प्रामाण्य का निश्चय करके पुरूष जल–ग्रहण–कार्य में प्रवृत्त होता है। कारण है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही हो जाता है। जिस कारण –सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाता है। ज्ञान के ग्राहक से भिन्न, ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का ग्राहक दूसरा कोई नहीं है। प्रामाण्य के ग्रहण हेतु ज्ञान–ग्राहक सामग्री के अतिरिक्त अन्य सामग्री की अपेक्षा का न होना ही प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है।

अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण–

मीमांसक के अनुसार ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है। उस अर्थापत्ति से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाता है। उस प्रामाण्य के ग्रहण के लिए अर्थापत्ति से भिन्न किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती है। यही प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है।

भाट्ट मीमांसक के अनुसार इन्द्रिय तथा घट आदि के सन्निकष के अनन्तर 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा घट में कोई धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है, जिसे 'ज्ञातता' कहते हैं। तभो हमें, 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है। यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान के बिना नहीं बन सकता। (उत्पन्न हो सकता) ज्ञातता के आधार पर ज्ञान की आपत्ति कर ली जाती है। यदि ज्ञान नहीं है तो ज्ञातता की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान की आपत्ति (ग्रहण) कराता है। इसी अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाता है।

प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के ग्रहण हेतु युक्ति–

अर्थापत्ति से ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य दोनों का ग्रहण हो जाता है, यह मान लेने पर भो यह प्रश्न उठता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण हो जाता है, इसमें क्या युक्ति है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है– 'ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव ग्रहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात् अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात्।' यदि प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण न हुआ करता तो उस ज्ञान के विषय में इस प्रकार का सन्देह न हुआ करता कि यह ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ। तात्पर्य है कि किसी व्यक्ति ने दूर से देखा कि वह घट है । दूरी के कारण वह निश्चय न कर सका और उसे संशय हुआ कि मेरा घटविषयक ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण। यहाँ जो उस व्यक्ति का घट विषयक ज्ञान है, उस ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का संशय होता है। ये प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ज्ञान के ही धर्म हैं। यदि उस व्यक्ति को ज्ञान का ग्रहण न होगा तो उस ज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रकार का संशय न होगा । क्योंकि जिस धर्मी का ज्ञान नहीं होता, उसके धर्म के विषय में

सन्देह नहीं हो सकता । जैसे यदि हम स्थाणु (ठूंठ) सा प्रतीत होने वाले पदार्थ को ही न देखें तो यह 'स्थाणु है या पुरूष' इस प्रकार का संशय नहीं होता । इस प्रकार का संशय प्रवृत्ति से पूर्व हुआ करता है। अतः प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण हो जाता है, यह मानना ही चाहिए। इस प्रकार प्रामाण्य–अप्रामाण्य विषयक संदेह ही प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के ग्रहण को सिद्ध करने हेतु युक्ति है।

16.3.2 ज्ञातता–

भाट्ट मीमांसक के अनुसार ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है तथा अर्थापत्ति से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है। उनके अनुसार ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री ज्ञातता है । सर्वप्रथम इस ज्ञातता के स्वरूप को देखते है–

ज्ञातता का स्वरूपः–

मीमांसक का मत है कि हम घट आदि को प्रत्यक्ष देखते हैं तो हमें 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् 'मया ज्ञातोऽयं घटः' (मैंने इस घट को जान लिया) इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट की ज्ञातता (जाना गया होना) का भान होता है। घट की ज्ञातता का प्रत्यक्षतः अनुभव हुआ करता है। ज्ञातता का यह अनुभव तभो सम्भव है, जब घट में ज्ञातता नाम का कोई धर्म हो। अतः यह अनुमान किया जाता है कि घट का ज्ञान होने पर उस घट में ज्ञातता नामक कोई धर्म उत्पन्न हो जाता है या कह सकते हैं कि ज्ञान से घट में ज्ञातता उत्पन्न हो जाती है। (ज्ञातता ज्ञान जन्या) ऐसा निश्चय किस आधार पर किया जाता है? यह बात 'स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात् ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते।' इस पंक्ति में स्पष्ट की गई है। भाव यह है कि घट ज्ञान से पूर्व 'ज्ञातोऽयं घटः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती और घट–ज्ञान हो जाने पर इस प्रकार की प्रतीति हुआ करती है। अतः यहाँ घट–ज्ञान होने पर ही ज्ञातता की प्रतीति होती है। (अन्वय व्याप्ति) ज्ञान के अभाव में ज्ञातता की प्रतीति नहीं होती (व्यतिरेक व्याप्ति); इस अन्वय–व्यतिरेक से यह निश्चय कर लिया जाता है कि घट–ज्ञान से घट में कोई नवीन धर्म उत्पन्न हो गया है। उस धर्म का अनुभव 'ज्ञातोऽयं घटः' इस रूप में होता है। अतः उस धर्म को ज्ञातता शब्द से कहा जाता है। (ज्ञातस्य भावः–ज्ञात+तल्) इसके लिए प्रकटता शब्द का भो प्रयोग किया जाता है।

ज्ञातता द्वारा ज्ञान का ग्रहण–

इस ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, कैसे? ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है। यह ज्ञातता कार्य है तथा ज्ञान इसका कारण है। ज्ञातता का हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है किन्तु ज्ञान का नहीं । ज्ञान की तो अर्थापत्ति से प्रतीति होती है। कार्य का यह स्वभाव है कि वह कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। फलतः ज्ञान का कार्य ज्ञातता अपने कारण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञातता की अन्यथा (ज्ञान के बिना) अनुपपत्ति से ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार भाट्ट मीमांसक के मत में ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं ।

यहाँ संक्षेप में ज्ञान की प्रतीति के तीन सोपान हैं–

क) ज्ञातता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव

ख) ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है।

ग) अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता से ज्ञान की प्रतीति। इस प्रकार ज्ञातता से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है।

16.4 मीमांसक मत का खण्डन –

न्याय–दर्शन परतः प्रामाण्यवादी है। वह स्वतः प्रामाण्य को मानने वाले मीमांसा दर्शन का विरोधी है। मीमांसा का स्वतोग्राह्यत्व ज्ञातता द्वारा सिद्ध किया गया है। इसलिए न्यायमतावलम्बी सर्वप्रथम ज्ञातता का खण्डन करता है।

16.4.1 ज्ञातता का खण्डन–

ज्ञातता का खण्डन करने के लिए सर्व प्रथम नैयायिक कहता है कि ज्ञातता विषयता से भिन्न कोई नवीन धर्म नहीं है।

ज्ञान विषयता ही ज्ञातता है–

मीमांसक के मत मे ज्ञान द्वारा घट आदि में एक नवीन धर्म उत्पन्न हो जाता है, जिसे ज्ञातता कहते है, इस विषय में न्याय का कथन है कि ज्ञान का विषय होना (ज्ञानविषयता) से भिन्न ज्ञातता नाम का कोई धर्म नहीं होता। कोई घट 'अयं घटः' इस प्रकार ज्ञान का विषय है, यही ज्ञातता है, इससे भिन्न कुछ नहीं । ज्ञातता कोई नवीन धर्म नहीं होता।

मीमांसक का तर्क : ज्ञान विषयता व ज्ञातता भिन्न हैं –

इस विषय में मीमांसक का तर्क है कि ज्ञानविषयता ही ज्ञातता नहीं है, अपितु उससे भिन्न एक विशेष धर्म है जो ज्ञान विषयता का निमित्त है; अथवा इसे इस प्रकार भो कह सकते हैं कि जिस पदार्थ में ज्ञातता रहती है वही किसी ज्ञान का विषय कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान विषयता (ज्ञान का विषय होना) ज्ञातता का कार्य है तथा ज्ञातता उसका कारण है। इस ज्ञानविषयता के द्वारा भो अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता की सिद्धि होती है। (कोई पदार्थ ज्ञान का विषय है, तो अवश्य उसमें ज्ञातता होगी।) इस प्रकार मीमांसा के अनुसार केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं बल्कि अर्थापत्ति द्वारा भो ज्ञातता की सिद्धि होती है।

विषयता का नियामक तादात्म्य या तदाकारता–

'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट है, पट नहीं, यह सभो को अनुभव होता है। विचारणीय यह है कि घट को इस ज्ञान का विषय किस आधार पर माना जाए, अर्थात विषयता का नियामक क्या है। प्रायः तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति को विषयता का नियामक माना जाता है। तादात्म्य का अर्थ है– उसी रूप या आकार का होना । यह कहा जा सकता है कि घट–ज्ञान आदि का जिस घट आदि के साथ तादात्म्य है, वही घट–आदि उस घट–ज्ञान आदि का विषय कहलाता है। ज्ञान तथा विषय का तादात्म्य दो प्रकार से माना गया है। एक तो विज्ञानवादी बौद्ध मत है कि प्रत्येक घट आदि बाह्य बाह्य पदार्थ वस्तुतः ज्ञान का ही आकार हैं। घट आदि का ज्ञान से अभद (तादात्म्य) है। जो घट आदि जिस ज्ञान का आकार है, वह घट आदि उसी ज्ञान का विषय कहलाता है। द्सरा, सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय मानता है कि घट आदि बाह्य विषय की ज्ञान से पृथक् सत्ता है, किन्तु घट आदि के द्वारा उसके आकार का ही ज्ञान उत्पन्न होता है । जिस पदार्थ के आकार वाला ज्ञान होता है। वही पदार्थ उस ज्ञान का विषय कहलाता है, अन्य नहीं। वेदान्त तथा योग के मत में भो बुद्धि विषयाकार में परिणत हो जाती है। अतः तादात्म्य या तदाकारता ही विषयता की नियामक कही जा सकती है।

ज्ञान व विषय की तादात्म्यता का निषेध–

मीमांसक का कथन है कि तादात्म्य को विषयता का नियामक नहीं माना जा सकता क्योंकि घट आदि जो ज्ञान के विषय हैं, वे बाह्य पदार्थ ह और घट–ज्ञान आदि विषयी ;जिसका कोई विषय होद्ध आन्तरिक हैं। फिर दोनों का तादात्म्य कैसे सम्भव है? ज्ञान तथा विषय का तादात्म्य न्याय को भो स्वीकार्य नहीं है। यह तो बौद्धों का सिद्धान्त है। इस प्रकार न्याय तथा मीमांसक दोनों ही तादात्म्य को विषयता का नियामक स्वीकार नहीं करत।

तदुत्पत्ति विषयता की नियामक है–

कुछ दार्शनिक तदुत्पत्ति को विषयता का नियामक मानते हैं, किन्तु वह भो मीमांसक को स्वीकार्य नहीं है। तदुत्पत्ति का अर्थ है– उससे उत्पत्ति (तस्मात् उत्पत्ति) अर्थात् जिस पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है, दूसरा नहीं । जैसे घट से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का विषय घट ही होगा, पट आदि नहीं। मीमांसक का कथन है कि ऐसा मानना भो ठीक नहीं है। क्योंकि घट–ज्ञान केवल घट से ही उत्पन्न नहीं होता। पहले हम पढ़ चुके हैं कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकष होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। प्रकाश आदि भो चाक्षुष ज्ञान में कारण होते हैं। यदि तदुत्पत्ति को विषयता की नियामक माना जाएगा, तब तो आत्मा, मन, चक्षु तथा प्रकाश आदि भो घट–ज्ञान के विषय होने लगेंगे क्योंकि उनसे भो तो घट–ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए यही मानना उचित है कि तदुत्पत्ति से विषयता की व्यवस्था नहीं होती ।

निष्कषतः अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता की सिद्धि—
इस प्रकार मीमांसक मत में कहा जा सकता है कि तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से विषयता का निश्चय नहीं हो सकता । इसलिए यह मानना चाहिए कि ज्ञान के द्वारा घट आदि में कुछ नवीन धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है, जिससे घट आदि ही ज्ञान का विषय कहलाता है, पट आदि या चक्षु एवं प्रकाश आदि नहीं। ज्ञान द्वारा घट में उत्पन्न होने वाले इस नवीन धर्म को ज्ञातता कहते हैं, इस ज्ञातता के आधार पर ही विषयता का निश्चय होता है। जो पदार्थ जिस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार होता है, वही उस ज्ञान का विषय कहलाता है।

इस प्रकार ज्ञातता के बिना विषयता नहीं बन सकती । अतः विषयता की अन्यथानुपपत्ति से (यदि ज्ञातता नहीं होगी तो विषयता भो नहीं होगी, विषयता है अतः ज्ञातता होगी) अर्थापत्ति द्वारा भो ज्ञातता की सिद्धि होती है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

न्याय का मत—विषय—विषयिभाव स्वाभाविक है —

न्याय का मत है कि ज्ञातता के आधार पर विषयता का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं है। विषय—विषयिभाव स्वभावतः हुआ करता है। घट आदि का स्वभाव है कि वह विषय हुआ करता है, ज्ञान का स्वभाव है कि वह विषयी होता है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह विषय कहलाती है तथा वह ज्ञान विषयी, यह स्वाभाविक स्थिति है। इसके लिए कोई आधार खोजने की आवश्यकता नहीं है। पदार्थों के स्वभाव के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि किसी पदार्थ का यही स्वभाव क्यों है, दूसरा क्यों नहीं।

ज्ञातता को विषयता का नियामक मानन में दो दोष—
नैयायिक कहते हैं कि यदि कुछ देर के लिए यह मान भो लिया जाए कि ज्ञातता ही विषयता की नियामक है, तब भो दोष होगा ।

अतीत तथा अनागत पदार्थों की विषयता न हो सकेगी—
यदि ज्ञातता को विषयता का नियामक माना जाएगा तो अतीत तथा अनागत पदार्थ ज्ञान का विषय न हो सकेगा। 'पिछले दिन वर्षा हुई थी' या 'अगले दिन वर्षा होगी', इत्यादि ज्ञानों में अतीत की वर्षा तथा भविष्यत् की वर्षा भो हमारे ज्ञान का विषय होती है। यदि ज्ञातता के आधार पर ही कोई पदार्थ ज्ञान का विषय माना जाए तो यह अतीत तथा अनागत वर्षा हमारे ज्ञान का विषय न हो सकेगी क्योंकि हमारे वर्तमानकालीन ज्ञान द्वारा अतीत तथा अनागत पदार्थ में ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति नहीं की जा सकती । जो पदार्थ अतीत है या अनागत है, वह वर्तमान काल में विद्यमान ही नहीं है, फिर उसमें किसी धर्म को उत्पन्न कैसे किया जा सकता है। जब हमारे वर्तमान ज्ञान द्वारा अतीत तथा अनागत पदार्थों में ज्ञातता को उत्पन्न नहीं किया जा सकेगा तो वे ज्ञान के विषय भो न बन सकेंगे। किन्तु अनुभव से सिद्ध है कि वे ज्ञान का विषय होते हैं। अतः ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने में यह दोष है।

ज्ञातता को जानने हेतु दूसरी ज्ञातता की आवश्यकता स अनवस्था दोष—
मीमांसकों के अनुसार जान ली गई ज्ञातता से ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की प्रतीति होती है। अतः ज्ञातता स्वयं भो 'यह ज्ञातता है', मैंने ज्ञातता को जान लिया' — इत्यादि ज्ञान का विषय है। इस ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने के लिए एक अन्य ज्ञातता की अवश्यकता होगी क्योंकि ज्ञातता ही मीमांसक के अनुसार विषयता की नियामक है। उस दूसरी ज्ञातता को भो ज्ञान का विषय बनाने के लिए एक तीसरी ज्ञातता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । यदि मीमांसक कहे कि ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने के लिए दूसरी ज्ञातता की कल्पना नहीं करनी होगी, वह तो स्वभाव से ही ज्ञान का विषय हो जाती है। फिर तो घट आदि को भो स्वभावतः ही ज्ञान का विषय मान लेना चाहिए । इसके लिए भो ज्ञातता को मानने की क्या आवश्यकता है। अन्यथा ज्ञातता को जानने के लिए भो ज्ञातता आवश्यक होगी और अनवस्था दोष से बचा न जा सकेगा ।

इस प्रकार ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो पाती और मीमांसक का यह कथन कि ज्ञातता से ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का ही अर्थापत्ति द्वारा ग्रहण हो जाता है तथा प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है– उचित नहीं है।

16.4.2 प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन–

यद्यपि यह सिद्ध किया जा चुका है कि ज्ञातता का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता और मीमांसक का स्वतोग्राह्यत्व ज्ञातता पर ही आधारित है। अतः वह भो सिद्ध नहीं होता। पुनः यदि ज्ञातता को स्वीकार भो कर लिया जाए तब भो ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

ज्ञान–ग्राहक तथा प्रामाण्य–ग्राहक ज्ञातता भिन्न है–

जिस प्रकार मनुष्य शब्द से सामान्य मनुष्य का बोध होता है तथा बुद्धिमान मनुष्य कहने से मनुष्य–विशेष का बोध होता है। अतः मनुष्य तथा बुद्धिमान मनुष्य में भद किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान तथा प्रमाण ज्ञान में भो भद है। इसलिए ज्ञान तथा प्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता में भो भद होगा, क्योंकि कारण के भद से कार्य में भद हो जाया करता है। अब प्रमाण ज्ञान के दो धर्म हुए– एक ज्ञानत्व और दूसरा प्रमाणत्व अर्थात् प्रामाण्य। जब प्रमाण ज्ञान द्वारा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होगा तो उस ज्ञातता के भो दो अंश होंगे– एक ज्ञातता मात्र और दूसरा प्रामाण्य विशिष्ट ज्ञातता । यह प्रामाण्य विशिष्ट ज्ञातता प्रमाण ज्ञान से ही उत्पन्न होती है, उसके बिना नहीं। अतः इसे ;प्रमाणज्ञानाव्यभिचारी प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वालीद्ध कहा गया है। मीमांसक के अनुसार ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है। तो ज्ञातता मात्र से ज्ञान का ग्रहण होगा और प्रामाण्यविशिष्ट ज्ञातता से ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होगा। ज्ञातता मात्र तथा प्रामाण्यविशिष्ट ज्ञातता भिन्न–भिन्न है। इसलिए ज्ञान ग्राहक सामग्री से प्रामाण्य का ग्रहण न हो सकेगा । उसके लिए विशिष्ट ज्ञातता रूपी पृथक् ग्राहक सामग्री उपस्थित होती है। इस प्रकार स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि नहीं हो पाती ।

यदि प्रामाण्य स्वतः है तो अप्रामाण्य भो स्वतः होगा–

नैयायिक कहता है कि यदि यह मान लिया जाए कि प्रमाण ज्ञान से जो प्रामाण्य विशिष्ट ज्ञातता उत्पन्न होती है, उसके द्वारा ही ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का एक साथ ग्रहण हो जाता है। इसलिए ज्ञान–ग्राहक सामग्री द्वारा ही ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होता है तथा प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध हो जाती है। तब तो अप्रामाण्य को भो स्वतोग्राह्य मानना चाहिए । उसके विषय में भो यही युक्ति दी जा सकती है कि अप्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने वाली विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान तथा ज्ञानगत अप्रामाण्य दोनो का ग्रहण हो जाता है। अतः ज्ञान का अप्रामाण्य भो स्वतोग्राह्य मान लेना चाहिए। किन्तु मीमांसक अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य नहीं मानते । उनके मत में दोष–ज्ञान या बाध–ज्ञान से किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता तथा अप्रामाण्य परतोग्राह्य होता है।

यदि अप्रामाण्य परतः है तो प्रामाण्य को भो परतः मानना चाहिए–

यदि भाट्ट मीमांसक अप्रामाण्य को परतोग्राह्य मानता है तो उसे प्रामाण्य को भो परतोग्राह्य मानना होगा। जिस युक्ति के आधार पर वह प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य सिद्ध करता है, उसी युक्ति को अप्रामाण्य के विषय में स्वीकार न करना युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य को परतोग्राह्य मानना ही उपयुक्त रहेगा।

16.5 प्रामाण्यवाद–विषयक न्याय का सिद्धान्त–परतः प्रामाण्यवाद–

नैयायिक के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतोग्राह्य हैं। न्याय के मत में जिस कारण–सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है उससे भिन्न सामग्री के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण हुआ करता है।

16.5.1 ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण –

यह पहले पढा जा चुका है कि किसी पदार्थ के निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। यह सविकल्पक ज्ञान ही किसी अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान है। इसमें वस्तु का नाम, जाति आदि सहित भली–भांति निश्चय हुआ करता है।

व्यवसाय या व्यवसायात्मक ज्ञान–

निश्चयात्मक ज्ञान को व्यवसायात्मक ज्ञान या व्यवसाय कहते हैं। इसका स्वरूप है 'यह घट है', 'यह पुस्तक है' इत्यादि । (अयं घटः, इदं पुस्तकम्)

अनुव्यवसाय –

इसके पश्चात् मैंने यह घट जान लिया (मया ज्ञातोऽयं घटः) अथवा मैं घट को जानता हूँ (अहं घटं जानामि) इत्यादि रूप में ज्ञान हुआ करता है। इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। अनुव्यवसाय का अर्थ है– व्यवसाय के अनन्तर होने वाला ज्ञान ।

मानस–प्रत्यक्ष–

यह ध्यान रखने योग्य है कि जो 'अयं घटः' इत्यादि व्यवसायात्मक ज्ञान है, वह घट–विषयक ज्ञान है, उसका विषय घट है; किन्तु जो 'अहं घटं जानामि' आदि अनुव्यवसाय ज्ञान है, वह घट ज्ञान का ज्ञान होता है। यह अनुव्यव्यसाय सभो के अनुभव से सिद्ध है। यह मानस प्रत्यक्ष (मन से किया गया प्रत्यक्ष) कहलाता है। इसमें मन नामक इन्द्रिय द्वारा ज्ञान का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इस प्रकार नैयायिक के अनुसार ज्ञान का ग्रहण मानस–प्रत्यक्ष से होता है।

16.5.2 ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से–

ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण इस मानस प्रत्यक्ष से नहीं होता। यदि ज्ञान के ग्रहण के साथ–साथ उसके प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाया करता तो ज्ञान के मानस–प्रत्यक्ष के पश्चात् जो संशय देखा जाता है, वह न हुआ करता। इसलिए न्याय का मानना है कि ज्ञान के प्रामाण्य–अप्रामाण्य का निश्चय तो प्रवृत्ति द्वारा अनुमान से हुआ करता है। प्रवृत्ति का अर्थ है किसी पदार्थ के ग्रहण या त्याग की इच्छा । यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है– सफला तथा अफला। सफला प्रवृत्ति को समर्थ प्रवृत्ति भो कहते हैं। यदि किसी ज्ञान के द्वारा प्रवृत्त हुए व्यक्ति को ज्ञान द्वारा जानी गई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसकी प्रवृत्ति सफला या समर्था कहलाती है। यदि किसी वस्तु के ज्ञान द्वारा प्रवृत्त हुए व्यक्ति को वही वस्तु प्राप्त नहीं होती तो उसकी प्रवृत्ति अफला कहलाती है। सफल प्रवृत्ति से ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) का अनुमान किया जाता है तथा अफला प्रवृत्ति से ज्ञान की अयथार्थता (अप्रामाण्य) का।

अनुमान का प्रयोग–

ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण न्याय के अनुसार अनुमान से होता है। इस अनुमान का प्रयोग इस प्रकार बताया गया है, यथा जल ज्ञान का याथार्थ्य या प्रामाण्य ग्रहण करना है। प्रामाण्य–ग्रह से पूर्व विवादग्रस्त जल–ज्ञान–विषयक अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है– विवादग्रस्त जलज्ञान प्रमाण है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि यह सफल प्रवृत्ति का जनक है। (हेतु) जो ज्ञान प्रमाण नहीं होता वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, जैसे–प्रमाणाभास (व्यतिरेक व्याप्ति) यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है।

इस अनुमान में सफल प्रवृत्ति का जनक जो जलज्ञान है, वह पक्ष है। उसका प्रामाण्य या यथार्थता साध्य है। (जिसमें साध्य का सन्देह होता है, वह पक्ष कहलाता है – सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः।)

16.5.3 प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व न होकर याथार्थ्य –

प्रमाण का भाव प्रामाण्य कहलाता है और प्रमाण शब्द का पारिभाषिक अर्थ है – प्रमाकरण (प्रमाकरणं प्रमाणम्)। अतः प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व होना चाहिए। इसका अर्थ याथार्थ्य करना उचित नहीं है, यदि यह शंका की जाए। इसका समाधान करते हुए कहा गया है। 'स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः' –यदि यहाँ प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व मानेंगे तो यथार्थ स्मृति में प्रामाण्य नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य है कि न्याय के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है– स्मृति और अनुभव । ये दोनों भो दो–दो प्रकार के होते हैं– यथार्थ तथा अयथार्थ । यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं तथा उस प्रमा का करण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार प्रमाण शब्द के द्वारा यथार्थ स्मृति का ग्रहण नहीं होता– यथार्थ स्मृति प्रमा के अन्तर्गत नहीं आती । अब यदि प्रामाण्य शब्द का अर्थ प्रमाकरणत्व लिया जाएगा और प्रामाण्य की सिद्धि के लिए समर्थप्रवृत्तिजनकत्व–यह हेतु दिया जाएगा तो हेतु दोषयुक्त होगा। क्यों? हमन कल एक पुस्तक अलमारी में देखी थी। आज हमें उस पुस्तक की आवश्यकता हुई । हमें याद आया पुस्तक अलमारी में है। इस स्मृति से हम पुस्तक लेने में प्रवृत्त हुए और पुस्तक अलमारी में मिल गई । इस प्रकार के उदाहरणों में स्मृति भो सफल प्रवृत्ति की जनक होती है। अतः इस प्रकार की स्मृति में समर्थ–प्रवृत्ति–जनकत्व हेतु विद्यमान है किन्तु यहाँ साध्य (प्रामाण्य–प्रमाकरणत्व) नहीं है। न्याय की परिभाषा में स्मृति तो प्रमा के अन्तर्गत ही नहीं है। इस प्रकार यह हेतु व्यभिचारी होगा सद् हेतु नहीं। यदि प्रामाण्य का अर्थ–याथार्थ्य–यथार्थ ज्ञान होना' लिया जाता है तो कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि इस प्रकार की स्मृति भो यथार्थ ज्ञान ही है। इसलिए यहाँ प्रामाण्य का अर्थ है– ज्ञान की यथार्थता (याथार्थ्य)।

16.5.4 परतः प्रामाण्य की सिद्धि–

मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है। उस ज्ञान के द्वारा प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति की सफल प्रवृत्ति से उस ज्ञान के प्रामाण्य का तथा असफल प्रवृत्ति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय ज्ञान–ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा होता है। (ज्ञान का ग्राहक मानस प्रत्यक्ष तथा प्रामाण्य–अप्रामाण्य का ग्राहक अनुमान है।) इसलिए प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतोग्राह्य हैं।

अभ्यास दशापन्न तथा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान–

यह शंका की जाती है कि यदि समर्थ प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है तो कहीं–कहीं प्रवृत्ति से पूर्व भो प्रामाण्य का निश्चय देखा जाता है, वह कैसे सम्भव होगा। वहाँ 'समर्थ प्रवृत्ति जनकत्वात्' यह हेतु तो दिया नहीं जा सकता; क्योंकि उस ज्ञान से प्रवृत्ति हुई ही नहीं। फिर उसे समर्थ प्रवृत्ति का जनक कैसे कहा जा सकता है। यह तभो संगत हो सकता है जब प्रवृत्ति से पूर्व स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय माना जाए। इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं–

ज्ञान दो प्रकार का होता है अभ्यासदशापन्न तथा अनभ्यासदशापन्न । अभ्यास का अर्थ है–बार–बार करना । जिस ज्ञान के द्वारा हम पहले सफल प्रवृत्ति कर लेते हैं ऐसा ज्ञान अभ्यासदशापन्न ज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ हम अपने घर के द्वार को देखकर उसमें बार–बार प्रवेश कर चुके हैं। अब हम जो यह जान रहे हैं कि यह हमारे घर का द्वार है–यह अभ्यासदशापन्न ज्ञान है। इस प्रकार के ज्ञान में प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। हम यह प्रतीक्षा नहीं करते कि जब हम द्वार में प्रवेश कर चुकेंगे तभो हमारा द्वार– विषयक ज्ञान प्रामाणिक होगा।

अभ्यासदशापन्न ज्ञान की भी परतोग्राह्यता–

कुछ बौद्ध तथा जैन विद्वानों ने अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य बताया है, किन्तु न्याय इस अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को भो परतोग्राह्य मानता है। इसके प्रामाण्य का निश्चय भो अनुमान द्वारा ही होता है। फिर भो इस ज्ञान, के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए 'समर्थ प्रवृत्ति जनकत्वात्' यह हेतु उपयुक्त नहीं है। इस हेतु से तो अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रमाण्य सिद्ध हुआ करता है। जहाँ किसी पदार्थ का प्रथम बार ही ज्ञान होता है और उस ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति सफल हो जाती है, वहीं 'सफलप्रवृत्तिजनकत्व' हेतु द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है।

अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो प्रवृत्ति से पूर्व ही हो जाता है। प्रामाण्य–निश्चय होने के समय तक तो प्रवृत्ति हो ही नहीं पाती। फिर इस हेतु से उस ज्ञान के प्रामाण्य–अप्रामाण्य का अनुमान कैसे किया जा सकता है। इसलिए वहाँ दूसरे प्रकार का अनुमान–प्रयोग होगा।

अभ्यासदशापन्न ज्ञान–विषयक अनुमान–प्रयोग–
यह अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया जाएगा–
अभ्यासदशापन्नं जलज्ञानं प्रमाणम्–प्रतिज्ञा
समर्थप्रवृत्तिजनकजलज्ञान सजातीयत्वात्–हेतु
अनभ्यास–दशापन्न–जलज्ञानवत्–अन्वयी उदाहरण अथवा यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभासः – व्यातिरेकी उदाहरण
यह अन्वय–व्यतिरेकी अनुमान है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान समर्थ प्रवृत्तिजनक अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का सजातीय होता है; अतः वह प्रमाण होता है। इन दोनों ज्ञानों में समानता या सजातीयता यह है कि जिस प्रकार समर्थ प्रवृत्ति का जनक अनभ्यासदशापन्न ज्ञान दोषरहित इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार यह अभ्यासदशापन्न ज्ञान भो उत्पन्न होता है। इस प्रकार जहाँ प्रवृत्ति से पूर्व प्रामाण्य का निश्चय देखा जाता है, वहाँ भो प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा ही हुआ करता है। इसलिए सभो अवस्थाओं में ज्ञान का प्रामाण्य परतोग्राह्य है। ज्ञान की ग्राहक सामग्री द्वारा ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ करता । ज्ञान का ग्रहण तो अनुव्यवसाय नामक मानस–प्रत्यक्ष से होता है तथा उसके प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से होता है।

16.6 निष्कर्ष –

इस इकाई को पढ़कर आप यह जान गए होंगे कि प्रामाण्यवाद की क्या आवश्यकता है। प्रामाण्यवाद क्या है। प्रामाण्यवाद के भद– स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद तथा विविध दर्शन इनमें से किसे स्वीकार करते हैं, यह भो आपने जाना। प्रामाण्यवाद विषयक मीमांसक मत को न्याय ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। अन्त में न्याय अपने प्रामाण्यवाद विषयक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है, जो परतः प्रामाण्यवाद है।
संक्षेप में न्याय के अनुसार अनभ्यास दशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का प्रवृत्ति के पश्चात् सफल प्रवृत्ति द्वारा अनुमान किया जाता है तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का प्रवृत्ति से पूर्व ही सफल–प्रवृत्ति–जनक ज्ञान के सजातीय होने से अनुमान कर लिया जाता है। ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय सर्वत्र अनुमान से होता है। अतः ज्ञान तथा प्रामाण्य का निश्चय कराने वाली सामग्री भिन्न–भिन्न होने के कारण न्याय परतः प्रामाण्यवादी है।

16.7 व्याख्या–

16.7.1 अत्र कश्चिदाह । प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यमवधार्य पुरूषः प्रवर्तते स्वतः एव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः, येनैव यज्ज्ञान गृकृते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञान ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य।

संदर्भ–

उद्धृत पंक्तियाँ पाठ्यक्रम में निर्धारित तर्कभाषा नामक ग्रन्थ से ली गई हैं। तर्कभाषा केशवमिश्र रचित, न्याय दर्शन का, लोकप्रिय प्रकरण–ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में केशव मिश्र ने प्रमाण सहित न्याय–दर्शन के सभो सिद्धान्तों का सरल तथा ग्राह्य शैली में वर्णन किया है।

प्रसंग–

किसी पदार्थ का प्रमाण द्वारा ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान के याथार्थ्य का निश्चय करने का प्रश्न उपस्थित होता है। यथा जलज्ञान हो जाने पर जलग्रहण में प्रवृत्त होने से पूर्व ही ज्ञान के याथार्थ्य (प्रामाण्य) का ग्रहण हो जाता है या प्रवृत्ति के बाद प्रवृत्ति की सफलता द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता है ? प्रामाण्य के विषय में न्याय दर्शन मीमांसा का प्रबल विरोधी है। अपना मत प्रस्तुत करने से पहले नैयायिक खण्डन हेतु पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक के मत का उल्लेख करता है–

व्याख्या– प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति से पूर्व होता है अथवा प्रवृत्ति की सफलता के बाद, इस विषय में कुछ दार्शनिकों (भाट्ट मीमांसकों) का कहना है कि प्रवृत्ति से

पहले ही जलज्ञान की प्रामाणिकता को समझकर व्यक्ति जलग्रहण करने में प्रवृत्त होता है क्योंकि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है। इस स्वतोग्राह्यत्व का तात्पर्य है कि जिस कारण–सामग्री से जिस ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी कारण–सामग्री से ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का भो ग्रहण हो जाता है, इसलिए ज्ञान का ग्रहण कराने वाली सामग्री के अतिरिक्त प्रामाण्य के ग्रहण हेतु किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं है। अतः प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है । तात्पर्य है कि ज्ञान धर्मी है तथा प्रामाण्य उसका धर्म। यदि धर्मी का ग्रहण होगा तो धर्म का ग्रहण उसके साथ ही होगा । यथा हिम धर्मी है शीतलता उसका धर्म है। यह कैसे सम्भव है कि हाथ द्वारा धर्मी हिम का ग्रहण कर लिया जाए किन्तु उसके धर्म शीतलता का ग्रहण किसी और के द्वारा किया जाए। यथा अग्नि धर्मी है, उष्णता उसका धर्म है । अग्नि का स्पर्श करने वाली त्वचा उसकी उष्णता को ग्रहण करने से बच नहीं सकती ।

ज्ञान ग्राहक सामग्री के विषय में मीमांसकों का विचार है कि ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है तथा ज्ञातता ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य की भो ग्राहक है। अतः ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों का ग्रहण ज्ञातता से हो जाता है, अन्य किसी कारण–सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही स्वीकार करने योग्य है।

टिप्पणी –

1. प्रमाण– प्रमाकरणं प्रमाणम्, यथार्थानुभवः प्रमा।
2. प्रामाण्य– ज्ञान का ज्ञान, जो ज्ञान ग्रहण हुआ है वह यथार्थता से युक्त है यह निश्चय। देखिए इकाई 16.2.2
3. पूर्वपक्ष– देखिए इकाई 16.8 (शब्दावली)
4. भाट्ट मीमांसक – देखिए इकाई 16.8 (शब्दावली)
5. स्वतोग्राह्यत्व – देखिए इकाई 16.2.3.1
6. ज्ञातता – देखिए इकाई 16.3.2
7. अर्थापत्ति– देखिए इकाई 16.8 (शब्दावली)

16.7.2 ज्ञानं ही मानसप्रत्यक्षेणैव गृकृते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन । तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती, अफला चेति। यत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते।

संदभ–16.7.1 के समान

प्रसंग–प्रामाण्य के विषय में दो प्रमुख मत हैं स्वतः प्रामाण्य तथा परतः प्रामाण्य। मीमांसक प्रथम मत को मानते हैं तथा न्याय द्वितीय को । पहले पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक मत को उपस्थित कर उनके समस्त तर्क–युक्तियों का खण्डन किया गया । मीमांसक मत स्वीकार्य नहीं है यह सिद्ध करने के बाद न्याय अपने मत परतः प्रामाण्यवाद को प्रस्तुत करता है–

व्याख्या–ज्ञान का ग्रहण मानस–प्रत्यक्ष द्वारा किया जाता है तथा प्रामाण्य का अनुमान से । (इस प्रकार ज्ञान का ग्राहक प्रत्यक्ष है तथा प्रामाण्य का ग्राहक अनुमान । दोनों की ग्राहक साम्रगी भिन्न–भिन्न होने के कारण परतः प्रामाण्य स्वीकार्य है।) प्रामाण्य–विषयक अनुमान को समझाते हुए कहते हैं कि मानस–प्रत्यक्ष द्वारा जल का ज्ञान हो जाने के बाद (कि वहाँ जल है) ज्ञाता जल ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति दो प्रकार की हो सकती है सफला तथा अफला। सम्भव है कि प्रवृत्त हुए ज्ञाता को जल प्राप्त हो जाए, यह भो सम्भव है कि जल प्राप्त न हो (जल का ज्ञान मिथ्या हो) जो सफल प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिससे जलग्रहण हो जाता है, उसे समर्था भो कहते हैं तथा इस समर्था प्रवृत्ति से प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। प्रामाण्य का अर्थ ज्ञान का याथार्थ्य है। (प्रामाण्य के अर्थ के विषय में प्रमाकरणत्व सम्बन्धी शंका का समाधान इसी इकाई में 16.5.3 में किया गया है।)

प्रामाण्य विषयक अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा– विवादग्रस्त जलज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह सफल प्रवृत्ति का जनक है (हेतु) जो ज्ञान प्रमाण नहीं होता, वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, जैसे–प्रमाणाभास (व्यतिरेकी उदाहरण) यह केवल–व्यतिरेकी अनुमान है, क्योंकि अन्वय व्याप्ति के लिए पक्ष के अतिरिक्त कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है।

टिप्पणोः–

1. मानस–प्रत्यक्ष–देखिए इकाई 5.1 का संबंधित अंश
2. प्रत्यक्ष– साक्षात्कारिणी प्रमा का करण प्रत्यक्ष है। इन्द्रियजा प्रमा साक्षात्कारिणी प्रमा है। उसका करण कभो इन्द्रिय, कभो इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष तथा कभो ज्ञान होता है। (मानस–प्रत्यक्ष में मन इन्द्रिय है।)
3. अनुमान– जिसके द्वारा अनुमान किया जाए वह अनुमान प्रमाण है। हेतु का ज्ञान प्राप्त करके व्याप्ति की सहायता से अर्थ की सिद्धि ही अनुमान है । यथा धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना ।
4. प्रमाणाभास– जिस ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो सके, यथा दूर से देखकर मरूमरीचिका में जलज्ञान होता है। प्रवृत्ति की असफलता से सिद्ध होता है कि वहाँ जल नहीं है। यह जलज्ञान प्रमाणाभास है। (प्रमाण का आभास मात्र)
5. प्रतिज्ञा, हेतु– इनके विषय में आप पहले की इकाइयों में पढ़ चुके हैं।
6. केवल व्यतिरेकी– देखिए– 16.8 (शब्दावली)

16.8 पारिभाषिक शब्दावली

पूर्वपक्ष–

विपक्षी मत – जिस का खण्डन किया जा रहा है। खण्डन करने के पूर्व विपक्षी का पक्ष सम्पूर्ण युक्तियों तथा तर्कों के साथ प्रस्तुत किया जाता है, इसे ही पूर्वपक्ष कहते हैं। (इसके बाद प्रतिपक्षी के एक–एक तर्क का क्रमशः खण्डन करते हुए अपने पक्ष की स्थापना की जाती है)

अर्थापत्ति–

दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति (संगति) जिस अर्थ के बिना न हो, उस अर्थ के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। ''अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः। तथाहि, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते।'' (तर्कभाषा) अर्थात् मोटा देवदत्त दिन में कुछ भी नहीं खाता–इस वाक्य में न खाना तथा मोटा होना–इन दो अर्थों में समन्वय की उपपत्ति नहीं होती। अतः उपपत्ति के लिए 'रात्रि में भोजन करता है, यह कल्पना की जाती है। मोटापे के आधार पर रात्रिभोजन रूपी अर्थ की आपत्ति –यही अर्थापत्ति है। दिवाभोजन के अभाव में मोटापे को देखकर या सुनकर रात्रिभोजन की सिद्धि हो जाती है। मीमांसकों ने अर्थापत्ति को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। न्याय–वैषेशिक अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण नहीं मानते।

मीमांसा–

बौद्धों के द्वारा वेद तथा वैदिक धर्म के ऊपर जब बहुत आक्षेप हुआ, उस समय वेद की रक्षा के लिए मीमांसाशास्त्र की रचना हुई। मीमांसक का सारा प्रयास यह सिद्ध करने हेतु है कि वेद नित्य, अपौरूषेय तथा स्वतः प्रमाण है। वेद आगम या शब्द प्रमाण है। वेद के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करने के कारण मीमांसक समस्त ज्ञानों के प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता पर विशेष बल देते हैं।

भाट्ट मीमांसक–

मीमांसकों के तीन प्रमुख आचार्य प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता को तीन प्रकार से सिद्ध करते हैं। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण तथा स्वप्रकाश है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है। दूसरे आचार्य कुमारिल भट्ट ज्ञातता द्वारा ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। इन्हीं के मत को भाट्ट मत कहा है। इनके अनुयायी भाट्ट

मीमांसक कहलाते हैं। तीसरा मत मुरारि मिश्र का है। वे अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य दोनों का ग्रहण मानते हैं। तर्कभाषा में कुमारिल भट्ट के मत का विशिष्ट रूप से खण्डन किया गया है।

व्याप्ति–

यत्र–यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्य–नियमो व्याप्तिः । अर्थात् अविनाभाव से एक साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं।

अन्वय व्याप्ति–

साध्य तथा हेतु दोनों की उपस्थिति अन्वय व्याप्ति है, जैसे– 'यत्र–यत्र धूमवत्त्वं तत्र–तत्र अग्निमत्त्वं यथा महानसे।' रसोई में धुआं तथा अग्नि साथ–साथ उपस्थित रहते हैं, अतः यहाँ अन्वय व्याप्ति है।

व्यतिरेक व्याप्ति–

साध्य तथा हेतु दोनों की अनुपस्थिति व्यतिरेक व्याप्ति है। 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे'– जलाशय में अग्नि तथा धूम दोनों साथ–साथ अनुपस्थित हैं। अतः यह व्यतिरेक व्याप्ति है।

केवल व्यतिरेकी–

जिस हेतु से केवल व्यतिरेक व्याप्ति बने वह केवल व्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे जीवित शरीर आत्मयुक्त होते हैं प्राणादियुक्त होने के कारण– इस अनुमान में व्यतिरेक–व्याप्ति है। जो आत्मयुक्त नहीं है उसमें प्राणादि नहीं होते जैसे घट। यहाँ अन्वय व्याप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि जो प्राणादि से युक्त है वही आत्मयुक्त है जैसे अमुक, इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं है। समस्त जीवित शरीर तो पक्ष हैं और उनसे भिन्न उदाहरण सम्भव नहीं है।

अन्यवय–व्यतिरेकी–

जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों व्याप्ति सम्भव हों । धूम द्वारा अग्नि का अनुमान अन्वय–व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों से युक्त है। अतः अन्वय–व्यतिरेकी है।

अनवस्था–

यह प्रमाण का दोष है। जब प्रमाण द्वारा एक अर्थ की सिद्धि की जाए किन्तु प्रमाण की सिद्धि के लिए एक और प्रमाण की आवयकता हो तथा यह क्रम चलता जाए, तो अनवस्था दोष होता है। जैसे हम कहें कि पत्थर आधार है क्योंकि पहला पत्थर दूसरे पत्थर के आधार पर टिका है, इसलिए दूसरा पत्थर आधार है। अब स्वाभाविक प्रश्न है कि आधार तो दूसरे पत्थर को भी चाहिए, उसका आधार तीसरा पत्थर, उसे भी आधार चाहिए– यह क्रम अनन्त काल तक चलता ही जाएगा तथा जो अन्तिम पत्थर होगा, उसे भी आधार की आवश्यकता होगी तब आधार क्या है, यह समस्या ज्यों की त्यों उपस्थित हो जाएगी। यही अनवस्था है।

बाध–ज्ञान–

ज्ञान के मिथ्यात्व या अप्रामाण्य को सिद्ध कर देने वाले बाधक प्रत्यय के ज्ञान को बाध–ज्ञान कहते हैं। यहाँ दूर से व्यक्ति सीपी को देखकर ज्ञान प्राप्त करता है कि यह चाँदी है किन्तु समीप जाने पर उसे बाधक ज्ञान प्राप्त होता है कि यह तो सीपी है। इस बाधक ज्ञान से वह जान जाता है कि पहले हुआ ज्ञान मिथ्या या अप्रामाणिक था।

दोष–ज्ञान–

यह भी अप्रामाण्य का निश्चय कराने का कारक है । ज्ञान के कारण में रहने वाला दोष मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करता है। दोष का ज्ञान होने पर ज्ञान का मिथ्यात्व या अप्रामाण्य ग्रहण हो जाता है। जैसे दृष्टि–दोष के कारण कोई व्यक्ति नमक को शक्कर समझ बैठता है किन्तु चखने पर स्वादेन्द्रिय से प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभव से उसे ज्ञान का अप्रामाण्य ज्ञात हो जाता है।

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

क) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 20 शब्दों में दीजिए–

1. प्रामाण्यवाद के अध्ययन की क्या आवश्यकता है?

2. प्रामाण्य शब्द का अर्थ क्या है?
3. प्रामाण्यवाद किसे कहते है?
4. प्रामाण्यवाद के मुख्य भेद कौन–कौन से है?
5. प्रामाण्यवाद के विषय में मीमांसक मत क्या है?
6. अर्थापत्ति क्या है?
7. अनवस्था दोष क्या है ?
8. प्रामाण्य–विषयक न्याय का मत क्या है?
9. न्याय के अनुसार ज्ञान का ग्रहण किस प्रमाण से होता है?
10. न्याय के अनुसार प्रामाण्य का ग्राहक प्रमाण कौन–सा है?
11. अभ्यासदशापन्न ज्ञान क्या है?
12. अनभ्यासदशापन्न ज्ञान क्या है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 150 शब्दों में दीजिए–

13. प्रामाण्यवाद क्या है?
14. ज्ञातता क्या है?
15. प्रामाण्य के ग्रहण में प्रयुक्त अनुमान को समझाइए।

ग) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए–

16. प्रामाण्यवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके भेद तथा उपभेदों को समझाइए।
17. प्रामाण्यवाद के विषय में भाटट–मीमांसकों के मत को समझाइए ।
18. नैयायिकों ने ज्ञातता का खण्डन किस प्रकार किया है?
19. न्याय द्वारा प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन करने हेतु क्या युक्तियाँ दी गई हैं? समझाइए।
20. प्रामाण्य–विषयक न्याय–मत को विस्तार से समझाइए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

क) 1. देखिए इकाई 16.2.1
2. देखिए इकाई 16.2.2
3. देखिए इकाई 16.2.2
4. देखिए इकाई 16.2.3.1 तथा 16.2.3.2
5. देखिए इकाई 16.3
6. देखिए इकाई 16.8
7. देखिए इकाई 16.8
8. देखिए इकाई 16.5
9. देखिए इकाई 16.5.1
10. देखिए इकाई 16.5.2
11. देखिए इकाई 16.5.4 का संबंधित अंश
12. देखिए इकाई 16.5.4 का संबंधित अंश

ख) 13. देखिए इकाई 16.2.2 तथा 16.2.3
14. देखिए इकाई 16.3.2
15. देखिए इकाई 16.5.2

ग) 16. देखिए इकाई 16.2 के संबंधित शीर्षक
17. देखिए इकाई 16.3 तथा संबंधित शीर्षक
18. देखिए इकाइ 16.4.1 तथा उसके सभी शीर्षक
19. देखिए इकाई 16.4.2 तथा उसके सभी शीर्षक
20. देखिए इकाई 16.5 तथा उसके सभी शीर्षक

16.10 सारांश

इस इकाई में हमने तर्कभाषा प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर प्रामाण्यवाद' का ज्ञान प्राप्त किया । शब्द में 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है– यथार्थ ज्ञान । प्रमाण का भाव प्रमाणत्व या प्रामाण्य

कहलाता है। अतः प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता 'ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यम्' (तर्कभाषा) ज्ञान की यथार्थता ही उसका प्रामाण्य है। इस प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विषयक विचार या वाद को ही प्रामाण्यवाद कहा जाता ह स्वतः प्रामाण्यवाद ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता । यह प्रामाण्य ज्ञान का धर्म है, ज्ञान इसका धर्मी है। जिन कारणों से ज्ञान की उत्पित्त होती है, ज्ञान के प्रामाण्य अथवा यथार्थता की उत्पित्त के लिए उनसे भिन्न कारणों की अपेक्षा होती है, यह सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद कहलाता है।प्रामाण्य विषयक मीमांसकमत तथा न्याय द्वारा किए गये उसके खण्डन का ज्ञान भी इस इकाई में किया ।

16.11संदर्भ ग्रंथ सूची

1. केशवमिश्रकृत तर्कभाषा – सम्पादक – डॉ.श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1981.
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा–एम.हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्लो, 1965.
3. भारतीय दर्शन– उमेश मिश्र, उत्तर–प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1942.
4. भारतीय दर्शन– आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1974.

इकाई– 17

नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय (सर्वदर्शनसंग्रह)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 बौद्ध दर्शन
17.2.1 चार आर्यसत्य
17.2.2 क्षणिकवाद
17.2.3 अनात्मवाद
17.2.4 अनीश्वरवाद
17.2.5 निर्विकल्प प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण
17.2.6 बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय
17.2.7 बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय
17.3 जैन दर्शन
17.3.1 सात तत्त्व
17.3.2 षड्द्रव्य
17.3.3 प्रमाण–नय–स्याद्वाद
17.3.4 जैन आचार
17.4 पारिभाषिक शब्दावली
17.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.6 सारांश
17.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

17.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन में दो विचारधाराएं समानान्तर चली आ रही हैं– नास्तिक दर्शन व आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शनों का उद्भव व विकास वेद के विरोध में हुआ और आस्तिक दर्शन वैदिक विचारधारा को लेकर प्रवृत्त होते हैं और नास्तिक विचारों का खण्डन करते हैं। नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय आस्तिक दर्शनों के अध्ययन में सहायक है। साथ ही दोनों दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी इनकी विचारधारा को समझना आवश्यक है। इस इकाई का उद्देश्य निम्न विषयों का अध्ययन करना है जो इन दर्शनों की विचारधारा को समझने में सहायक रहेगा।

- नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय
- बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त
- जैन दर्शन के सिद्धान्त

17.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक, जैन व बौद्ध इन तीनों दर्शनों को प्रायः नास्तिक दर्शनों के रूप में स्वीकार किया जाता है। छः आस्तिक दर्शनों में इनकी गणना नहीं होती। चार्वाक का साहित्य ऐसा उपलब्ध नहीं, जिससे उसकी परम्परा का पता चल सके, किन्तु जैन व

बौद्ध इन दोनों की अपनी एक परम्परा है– श्रमण परम्परा, जो वैदिक परम्परा से मूलभत् पार्थक्य रखती है। आस्तिकता नास्तिकता का आधार मूलतः वेद प्रामाण्य– अप्रामाण्य था– नास्तिको वेदनिन्दकः – मनुस्मृति 2/11

प्रस्तुत इकाई 11 में आप बौद्ध एवं जैन दर्शन का परिचय प्राप्त करेंगे तथा इकाई 18 में चार्वाक दर्शन का परिचय एवं की जानकारी प्राप्त करेंगे।

17.2 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध का जन्म ईसा की छठी शताब्दी पूर्व हुआ था। तत्त्वज्ञान अर्थात् बोधि प्राप्त कर लेने के बाद वे बुद्ध की संज्ञा से विभ्षित हुए। सत्यज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद बुद्ध ने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने सन्देशों को जनता तक पहुँचाने का संकल्प किया।

बौद्ध दर्शन के अनेक अनुयायी थे। अनुयायियों में मतभद होने के कारण बौद्ध दर्शन की अनेक शाखाएं निर्मित हो गईं। बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों ने बुद्ध के उपदेशों का संग्रह त्रिपिटक ग्रन्थों में किया। इनकी रचना पाली भाषा में हुई। ये पिटक हैं– सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक और विनयपिटक। सुत्त पिटक में धर्म सम्बन्धी बातों की चर्चा है। अभिधम्म पिटक में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संकलन है। विनयपिटक में नीति सम्बन्धी बातें संकलित हैं। इनका रचनाकाल तीसरी शताब्दी ई. पू. माना गया है। इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ मिलिन्दपन्हो ;मिलिन्दप्रश्नद्ध माना जाता है।

बुद्ध सामान्यतः तत्त्वशास्त्र विषयक चिन्तन के प्रति मौन रहे हैं। बुद्ध के अनुसार संसार दुःखों से परिपूर्ण है। उन्होंने दुःख के सम्बन्ध में जितने भो प्रश्न हैं उनका उत्तर जानने क लिए प्रेरित किया। उन्होंने दर्शन का उद्देश्य दुःखों का अन्त कहा है। इसलिए उन्होंने दुःख की समस्या और दुःख निरोध पर ही विशेष बल दिया है। दुःख से पीडित मानव के लिए आत्मा, जगत्, ईश्वर जैसे प्रश्नों के अनुसन्धान में निमग्न रहना निरर्थक है। अतः तत्त्वशास्त्र के प्रश्नों के प्रति बुद्ध का मौन प्रयोजनात्मक है।

17.2.1 चार आर्य सत्य

बुद्ध के सारे उपदेश चार आर्य सत्यों में सन्निहित है।

यथा– दुःखसमुदयनिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि।

ये चार आर्यसत्य इस प्रकार है– 1. संसार दुःखों से परिपूर्ण है। 2. दुःखों का कारण भो है। 3.दुःखों का अन्त सम्भव है। 4 दुःखों के अन्त का मार्ग है। प्रथम आर्यसत्य को दुःख, द्वितीय को दुःख समुदय, तृतीय को दुःख निरोध एवं चतुर्थ आर्यसत्य को दुःख निरोध का मार्ग कहा गया है। इन चार आर्यसत्यों में बौद्ध दर्शन का सार है। इन्हीं से अनासक्ति, वासनाओं का नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव हो सकते हैं।

1. दुःखः– संसार दुःखमय है। सब कुछ दुःखमय हैं। जीवन में अनेक प्रकार के दुःख है। रोग, बुढापा, मृत्यु, चिन्ता, असन्तोष, नैराश्य, शोक इत्यादि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बुद्ध के अनुसार– जन्म में दुःख है, नाश में दुःख है, रोग दुःखमय है, मृत्यु दुःखमय है, अप्रिय से संयोग दुःखमय है, प्रिय से वियोग दुःखमय है। संक्षेप में पंचस्कन्ध : विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप दुःखमय हैं। बुद्ध ने सांसारिक सुख को दुःख इसलिए भो कहा है कि वे क्षणिक एवं नाशवान हैं। जो वस्तु क्षणिक होती है, उसके नष्ट होने पर उसका अभाव खटकता है जिसके फलस्वरूप दुःख का प्रादुर्भाव होता हैं क्षणिक सुख को सुख कहना मूर्खता है। सभो शास्त्रकार संसार को दुःखात्मक मानते हैं– सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थंकरसम्मतम् (सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन,16)।
2. दुःख समुदय– यह भवचक्र सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। इसके अनुसार एक वस्तु के उपस्थित रहने पर किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् एक के आगमन से दूसरे की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त कार्यकारण सिद्धान्त पर आधारित है, यह

प्रामाणित करता है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है। जरा मरण का कारण जाति अर्थात् जन्म ग्रहण करना है। यदि मानव शरीर धारण नहीं करता तो उसे सांसारिक दुःख का सामना नहीं करना पडता। जाति का कारण भव है। भव का कारण उपादान है। उपादान का कारण तृष्णा, तृष्णा का कारण वेदना है। वेदना का कारण स्पर्श है। स्पर्श का कारण षडायतन है। षडायतन का कारण नामरूप हैं। नामरूप का कारण विज्ञान है। विज्ञान का कारण संस्कार है। संस्कार का अर्थ है–व्यवस्थित करना। संस्कार का कारण अविद्या है अतः अविद्या ही समस्त दुःखों का मूल कारण है। यह सिद्धान्त द्वादश निदान कहा जाता है। यही संसारचक्र कहा जाता है। यथा– समुदयो दुःखकारणम्।

3. दुःख निरोध– वह अवस्था जिसमें दुःख का अन्त होता है दुःख निरोध कहलाती है। यथा– तदुभयनिरोधः। यही निर्वाण है। मोक्ष ही निर्वाण है। निर्वाण इस जीवन में भो सम्भव है। इस जीवन में भो दःखों का निरोध हो सकता है। जब मनुष्य राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकार इत्यादि पर विजय पा लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। मुक्त ही अर्हत् कहा जाता है। निर्वाण के बाद भो शरीर बना रहता है क्योंकि शरीर पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। जब तक कम समाप्त नहीं होते शरीर रहता है। निर्वाण जीवन मुक्ति है। परिनिर्वाण मृत्यु के बाद निर्वाण की प्राप्ति है। निर्वाण निष्क्रिय अवस्था नहीं है। निर्वाण को प्राप्त कर व्यक्ति लोककल्याण की भावना से काम करता है। निर्वाण का अर्थ बुझा हुआ मानने वाले इसे पूर्ण विनाश कहते हैं, हीनयान सम्प्रदाय का यही मत ह। कुछ ने निर्वाण का अर्थ शीतलता माना है। निर्वाण काम क्रोध आदि दुःखरूपी अग्नि को ठण्डा रखता है। वस्तुतः निर्वाण अनिर्वचनीय है।

4. दुःख निरोध मार्ग– बुद्ध ने कहा है कि दुःखों का निरोध सम्भव है। बुद्ध ने चतुर्थ आर्य सत्य में निरोध की अवस्था को अपनाने के लिए एक मार्ग की चर्चा की है। इस मार्ग को दुःख निरोध मार्ग कहा जाता है। यह अष्टांगिकमार्ग भो कहलाता है।

1. सम्यक् दृष्टि– बुद्ध ने दुःख का मूल अविद्या को माना है। अविद्या से मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना सम्यक् दृष्टि है। इसका अर्थ हैं बुद्ध के चार आर्यसत्यों का यथार्थ ज्ञान। ये आर्य सत्य निर्वाण की ओर ले जाने वाले हैं।

2. सम्यक् संकल्प– बुद्ध के चार आर्य सत्यों का जीवन में पालन करने का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाक्– सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्ति सम्यक् वाक् है। कोई व्यक्ति सम्यक् वाक् का पालन तभो कर सकता है जब वह निरन्तर सत्य व प्रिय बोलता हो। सिर्फ सत्य ही नहीं क्योंकि जिस वचन से दूसरों को कष्ट हो उसका परित्याग अभोष्ट है।

4. सम्यक् कर्मान्त– सम्यक् कर्मान्त का अर्थ है– बुरे कर्मों का परित्याग। हिंसा, स्तेय व इन्द्रिय भोग तीन बुरे कम हैं। इनका त्याग सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यक आजीविका– सम्यक् आजीविका का अर्थ है ईमानदारी से जीविकोपार्जन करना। निर्वाण की प्राप्ति के लिए कटुवचन एवं बुरे कर्मों के परित्याग के साथ साथ जीवन निर्वाह के अशुभ मार्ग का त्याग भो परमावश्यक है।

6. सम्यक् व्यायाम– हमारे मन में घर कर चुके पुराने बुरे विचार तथा निरन्तर प्रवाहमान नवीन बुरे विचारों में पुराने विचारों को मन से निकालना व नये बुरे विचारों को मन में आने से रोकना, अच्छे भावों को मन में भरना, और अच्छे भाव बनाये रखने के लिए निरन्तर क्रियाशील रहना सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति– सम्यक् स्मृति द्वारा इस बात पर जोर दिया जाता है कि हम वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के प्रति जागरुक रहें। निर्वाण की कामना रखने वाले को शरीर

को शरीर, मन को मन, संवेदना को संवेदना समझना आवश्यक है। इस प्रकार नाशवान् वस्तुओं की स्मृति ही सम्यक् स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि– निर्वाण की चाह रखने वाला अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर समाधि की अवस्था अपनाने योग्य हो जाता है। समाधि की प्रथम अवस्था में साधक को चार आर्यसत्यों का स्मरण, मनन, चिन्तन करना पडता है। सन्देह दूर करना पडता हैं उसके बाद आर्यसत्यों में श्रद्धा उत्पन्न होती है। दूसरी अवस्था में तर्क वितर्क की आवश्यकता नहीं रहती। आनन्द व शान्ति की अनुभ्ति होती है। तीसरी अवस्था में आनन्द व शान्ति की चेतना के प्रति उदासीनता का भाव आता है। चौथी अवस्था में यह भाव भो नष्ट हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर वह अर्हत् संज्ञा प्राप्त करता है।

बुद्ध का यह मार्ग प्रज्ञा, शील, समाधि नामक अंगों में विभाजित किया गया है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञा है। सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका व सम्यक् व्यायाम शील है। सम्यक् स्मृति व सम्यक् समाधि समाधि के अन्तर्गत आते हैं।

17.2.2 क्षणिकवाद

प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त अनित्यवाद में प्रतिफलित होता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु चलायमान है। संसार में कोई भो ऐसी वस्तु नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। अतः विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। अनित्यवाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्यमार्ग है। मध्यममार्ग का सिद्धान्त है कि जीवन परिवर्तनशील है। जीवन को परिवर्तनशील कहकर बुद्ध ने सत् एवं असत् का समन्वय किया है। क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणमात्र के लिए होता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य ही नहीं क्षणभगुर भो है। किसी वस्तु की सत्ता तभो तक मान्य है जब तक उसमें कार्य करने की शक्ति विद्यमान है, यही अर्थक्रियाकारित्व है। क्षणिकवाद के समर्थन में वे कहते हैं–

यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी।

सत्ता शक्तिरिहार्थमकमणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।

नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिभंवेद्

द्वेधापि क्षणभंगसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति।।

अर्थात् जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है जैसे जलधर ;बादलद्ध और ये सत्ता सम्पन्न भाव (वस्तुएँ घट पट आदि) हैं। अर्थ कम की शक्ति ही सत्ता में प्रमाण है। यह सत्ता सिद्ध (स्थिर) पदार्थों में स्थिर नहीं है, एक ही प्रकार नहीं है नहीं तो दूसरे के द्वारा दूसरे की क्रिया उत्पन्न हो सकती ह। इसप्रकार दोनों रीतियों (क्रम और अक्रम) से क्षण पदार्थों के भग (विनाश) की संगति होती है और अन्त में हमारे साध्य शक्तिवाद की सिद्धि होती है।

बौद्धों के अनुसार संसार में जितनी भो वस्तुएं हैं, परिवर्तनशील हैं। उनकी परिवृत्ति क्षण क्षण में होती जा रही है। एक ही चीज को हम दो बार नहीं देख सकते, एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते और न एक ही मनुष्य को दो बार प्रणाम नहीं कर सकते हैं। किसी की भो सत्ता क्षणमात्र के लिए है। कार्योत्पत्ति ही वस्तुओं का उद्देश्य है। एक क्षण में रहना, दूसरे क्षण में अर्थक्रिया और विनाश यही है बौद्धों का सत्ताविषयक सिद्धान्त।

17.2.3 अनात्मवाद

बुद्ध के अनुसार संसार की सब वस्तुएं क्षणिक हैं। यदि आत्मा का अर्थ स्थायी तत्त्व में विश्वास करना है तो बुद्ध का मत अनात्मवाद कहा जा सकता है, क्योंकि उनके मतानुसार स्थायी आत्मा में विश्वास करना भामक है। बुद्ध ने शाश्वत आत्मा का निषेध किया है, उनके अनुसार– विश्व में न कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार स्वरूप मन और मन की वेदनायें, वे सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य हैं। बुद्ध के मतानुसार आत्मा अनित्य है। यह अस्थायी शरीर व मन का संकलन मात्र है। दूसरे शब्दों में आत्मा पाँच स्कन्धों की समष्टि का नाम है। ये

पाँच स्कन्ध हैं– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। स्कन्धों के परिवर्तनशील होने से आत्मा भो परिवर्तनशील है।

बुद्ध के अनुसार पुनर्जन्म का अर्थ एक आत्मा का दूसरे में प्रवेश करना नहीं है। जब एक विज्ञान प्रवाह का अन्तिम विज्ञान समाप्त हो जाता है तब अन्तिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है और एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इसी को बुद्ध ने पुनर्जन्म कहा है। वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था में भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था का विकास सम्भव है। अतः नित्य आत्मा के बिना भो बुद्ध पुनर्जन्म की व्याख्या करने में सफल होते हैं।

17.2.4 अनीश्वरवाद

बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है। बुद्ध के अनुसार यह संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम स संचालित होता है। सारा विश्व उत्पत्ति और विनाश के नियम से शासित है। विश्व परिवर्तनशील एवं अनित्य है। इस नश्वर एवं परिवर्तनशील जगत् का स्रष्टा ईश्वर को ठहराना, जो नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, असंगत है। यदि ईश्वर विश्व का निर्माता है तो विश्व में भो परिवर्तन व विनाश का अभाव होना चाहिए। जबकि विश्व सुख, दुःख एवं परिवर्तन युक्त है। ईश्वर विश्व का निर्माण किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए करता है, तब ईश्वर की अपूर्णता परिलक्षित होती है, क्योंकि प्रयोजन किसी न किसी कमी को ही अभिव्यक्त करता है। बुद्ध के मतानुसार यह संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से ही संचालित होता है। विश्व की समस्त वस्तुएं कार्य कारण की एक श्रृंखला हैं। कोई भो ऐसी वस्तु नहीं है जो अकारण हो। कारण नियम के स्रष्टा के रूप में ईश्वर को मानना दोषपूर्ण है। इससे ईश्वर की अपूर्णता सिद्ध होगी।

17.2.5 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण

सर्वदर्शनसग्रह में माधवाचार्य ने बौद्धमत के अनुसार कहा है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कल्पना से रहित तथा भान्ति रहित होने से प्रमाण है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तुओं की प्रतीति होती है जो एकमति से नहीं होने के कारण भम है और शब्द, लिंग, इन्द्रियादि से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण भो नहीं है–

कल्पनापोढमभान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः।।24।।

17.2.6 बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

बुद्ध दार्शनिक विषयों पर प्रायः मौन रहते थे। उनके विपरीत बौद्ध विद्वानों ने दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया और उनकी कई दार्शनिक शाखाएं हुईं। ये हैं– माध्यमिक (शून्यवाद),योगाचार (विज्ञानवाद),सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवाद), वैभाषिक (बाह्यप्रत्यक्षवाद)।

1. माध्यमिक – शून्यवाद

इस सम्प्रदाय के प्रर्वतक नागार्जुन माने जाते हैं। उनकी माध्यमिक कारिका के अनुसार शून्य का अर्थ है वर्णनातीत। नागार्जुन के अनुसार परमतत्त्व अवर्णनीय है। माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता को मानते हैं, लेकिन वे उसे अवर्णनीय बतलाते हैं। वे प्रत्यक्ष जगत् से परे पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं लेकिन उसे वर्णनातीत कहते हैं। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को भो शून्य कहा है। शून्यवाद सापेक्षवाद है, उसके अनुसार वस्तुओं का स्वभाव अन्य वस्तुओं पर निभर होता है। यह मध्यम मार्ग भो कहलाता है। उनके अनुसार दृश्य जगत् के सभो अनुभव सापेक्ष हैं, परन्तु निर्वाण में जो अनुभ्ति होती है वह पारमार्थिक है, नित्य है तथा निरपेक्ष है। वे दो प्रकार के सत्य संवृत्ति व पारमार्थिक को मानते हैं।

2. योगाचार – विज्ञानवाद

योगाचार के प्रवर्तक दिङ्नाग, असंग और वसुबन्ध है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान सत्य है। यदि विज्ञान अर्थात् मन की सत्ता को नहीं माना जाय तब सभो विचार असिद्ध हो जाते हैं। अतः विचार की सम्भावना के लिए चित् को मानना अपेक्षित है। इनके अनुसार चित्त ही एकमात्र सत्ता है। विज्ञानवादी मन के बाहर के शरीर आदि सभो पदार्थों को मानसिक विकल्प मानते हैं। विज्ञान के दो भद हैं– प्रवृत्ति विज्ञान व आलय विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान

चक्षु, श्रोत्र, धारण, रसना, काय, मन तथा विशिष्टि मनोविज्ञान रूप में सात प्रकार का है। इन सबका संयोजन करने वाला चित्त है। प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान पर अवलम्बित है। सभो ज्ञान बीज रूप में यहाँ एकत्रित रहते हैं। यह अन्य दर्शनों की आत्मा के समान है। सामान्यतः इसका अर्थ है परिवर्तनशील चेतना का प्रवाह। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान से अलग किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ये योग के आचरण के आधार पर बाह्य जगत् की काल्पनिकता को प्रमाणित करने का प्रयास करते थे।

3. सौत्रान्तिक– बाह्यार्थानुमेयवाद

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत हीनयान सम्प्रदाय के दो रूप हैं। सूत्रपिटक को आधार मानते हुए सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्य वस्तुओं, दोनों के अस्तित्व को मानते हैं। वे बाह्य जगत् को चित्त के समान सत्य मानते हैं। उनके अनुसार वस्तु ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान आभ्यन्तर अथवा आत्मनिष्ठ है परन्तु वस्तु बाह्य अथवा विषयगत है। उनके अनुसार ज्ञान के चार कारण है– आलम्बन, समनन्तर, अधिपति एवं सहकारी प्रत्यय। बाह्य विषय आलम्बन है। ज्ञान के लिए चेतन मन तथा पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था का रहना आवश्यक है जो आकार का ज्ञान दे सके। इन्द्रियों को ज्ञान का अधिपति प्रत्यय कहा गया है। इन्द्रियों के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। आकार, आवश्यक दूरी आदि भो ज्ञान के सहायक कारण है। ये ही सहकारी प्रत्यय हैं।

4. वैभाषिक– बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद

बौद्ध धर्म के अभिधर्म पर लिखी विभाषा टीका पर आधारित होने से ये सम्प्रदाय वैभाषिक कहलाता है। ये चित्त और जड़ दोनों की सत्ता मानते हैं। ये सभो वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इसलिये इन्हें सर्वास्तित्ववादी कहा जाता है। ये बाह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से मानते हैं। मानसिक प्रतिरूपों से ज्ञान मानना भामक है। बाह्य विषय अणुओं का संघात है। अणु में रूप, शब्द, संवाद, आकार नहीं है। ये निर्वाण को भावरूप मानते हैं। निर्वाण दुःख का पूर्ण विनाश व अनन्त है, वह अनिर्वचनीय है।

17.2.7 बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय

1. हीनयान

हीनयान बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है। इसके अनुसार सभो वस्तुएं क्षणभगुर हैं। ये आत्मा की सत्ता नहीं मानते। ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। संसार का नियामक धम्म है जिसके कारण व्यक्ति के कम फल का नाश नहीं होता। इसके अतिरिक्त संघ में निष्ठा आवश्यक है। जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् होना या निर्वाण प्राप्त करना है। ये स्वावलम्बन पर जोर देते हैं। वे व्यक्ति के निजी मोक्ष की चिन्ता करते हैं। ये संन्यास को मानते हैं। वे बुद्ध को महात्मा के रूप में मानते हैं।

2. महायान

हीनयान धर्म की संकीर्णता एवं अव्यावहारिकता में ही महायान का बीज अन्तभ्त् है। महायान का अर्थ है बडी गाडी अथवा प्रशस्त मार्ग। इसके द्वारा निर्देशित मार्ग पर असंख्य व्यक्ति चलकर चरम लक्ष्य को अपना सकते हैं। इन्होंने बोधिसत्व की कल्पना की। जो करुणा से पूर्ण हैं। वे संसार में रहते हैं लेकिन संसार की आसक्ति से प्रभावित नहीं होते। वे बुद्ध को ईश्वर के रूप में मानते हैं। उन्होंने बुद्ध को पारमार्थिक सत्य का एक अवतार माना है। ये आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। संन्यास व पलायन की पद्धति के ये कटु आलोचक हैं। इस सम्प्रदाय में कम विचार में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया है। कमसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कम के अनुसार फल पाता है। बोधिसत्व अपने कर्मों के फल से दूसरों को लाभान्वित कर सकते हैं, तथा दूसरे व्यक्तियों के पापमय कर्मों का स्वयं भोग कर सकते हैं।

17.3 जैन दर्शन

जिस समय भारतवर्ष में बौद्धदर्शन का विकास हो रहा था उसी समय यहाँ जैन दर्शन भो विकसित हो रहा था। जैन मत के संस्थापक इसके चौबीस तीर्थंकर हैं। इन्होंने अपने प्रयत्नों क बल पर बन्ध का त्यागकर मोक्ष को स्वीकार किया है। ये 'जिन' कहलाते हैं क्योंकि इन्होंने राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली हैं। जैन एवं बौद्ध दोनों ही वेद विरोधी हैं। दोनों ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानते। दोनों ने अहिंसा पर बल दिया है। जैन आत्मा में विश्वास करते हैं, बोद्ध आत्मा को नहीं मानते। बौद्ध जड़ का निषेध करते हैं जबकि जैन जड़ की सत्ता को सत्य मानते हैं। इनका दार्शनिक ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' सूत्र शैली में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं। इन्हें त्रिरत्न या रत्नत्रय भो कहा जाता है। यथार्थरूप से तत्त्वों (पदार्थों) का निश्चय करने की रुचि सम्यक् दर्शन है, नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और जीव की हिंसा आदि दोषों का त्याग और अहिंसा आदि अणुव्रतों और महाव्रतों का आचरण सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार जैन दर्शन को समझने के लिए सर्वप्रथम जीवादि तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है, अतः इस इकाई में जैन दर्शन सम्मत सात तत्त्वों अथवा नौ तत्त्वों का निरूपण किया जा रहा है।

17.3.1 सात तत्त्व

उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं– 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'। 1/ 4

बहुत से ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व कहे गये हैं किन्तु बन्ध तत्त्व में पुण्य और पाप का अन्तर्भाव मान लेने से सात तत्त्व ही प्रमुख हैं।

तत्त्व का अर्थ है मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी होना। जीव मोक्ष का अधिकारी है, अजीव अधिकारी नहीं है, बन्ध मोक्ष का विरोधी है और आस्रव उस बन्ध का कारण है, संवर मोक्ष का कारण है और निर्जरा से मोक्ष का क्रम सूचित होता है अतः ये सात तत्त्व कहलाते हैं।

1. जीव तत्त्व– जीव का लक्षण उपयोग है। जीव को आत्मा भो कहते हैं, यह अनादि एवं स्वतन्त्र द्रव्य है। जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, स्वदेहपरिणाम, भोक्ता, ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला कहा गया है। इन्द्रिय– बल– आयु–श्वासोच्छवास इन चार प्राणों से जीने वाला व्यवहार से जीव कहलाता है तथा निश्चय से चेतना स्वभाव वाला जीव है। 'जीवति प्राणिति चतुर्भिरिन्द्रियबलायुःश्वासोच्छवासाख्यैः प्राणैः व्यवहारेण निश्चयेन तु स्वचेतनात्मकस्वभावेन स जीवः'। जीव के प्रमुख दो भद हैं 1. संसारी 2. मुक्त।

तस्य द्वौ भदौ संसारस्थो मुक्तश्चेति। संसारी जीव त्रस और स्थावर दो प्रकार के हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले होने से स्थावर जीव हैं। गतिहीन जीवों को स्थावर जीव कहा जाता है।

द्वि– इन्द्रिय, त्रि– इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव उद्देश्यपूर्वक हिलने डुलने की शक्ति वाले होने से त्रस जीव कहलाते हैं। त्रस जीव गतिशील हैं।

द्वि– इन्द्रिय अर्थात्स्पर्शन इन्द्रिय तथा रसन इन्द्रिय वाले जैसे कृमि, लट आदि, त्रि– इन्द्रिय अर्थात् उक्त दो के साथ घ्राणेन्द्रिय सहित जैसे चींटी, खटमल आदि, चतुरिन्द्रिय अर्थात् उक्त तीन के साथ चक्षुरिन्द्रिय सहित मक्खी, मच्छर, बिच्छू, भोरे आदि, पंचेन्द्रिय अर्थात् उक्त चार के साथ श्रोत्रेन्द्रिय वाले पशु, पक्षी, मनुष्य आदि।

मुक्त जीव– मुक्त जीव वे आत्माएं हैं जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, बद्ध जीव वे आत्माएं हैं जो बन्धनग्रस्त हैं। जो संसार रूप पर्याय से रहित है, अष्ट कम क्षय होने से जिसके केवल ज्ञान प्रकट हो गया हो, चार घाति कमक्षय से जो अरिहंत है या अष्टकम क्षय होने से जो सिद्धस्वरूप को पा चुका हो, वह मुक्त जीव है। बन्धन मुक्त होने से मुक्त जीव ऊर्ध्व गति करता है।

2. अजीव तत्त्व– आत्मा तत्त्व के अतिरिक्त संसार में जो कुछ दृश्य या अदृश्य हैं वह सभो अजीव हैं। जिसमें चेतना और उपयोग नहीं हो वह अजीव है। अजीव के पाँच भद हैं– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय और काल। ठीक ही कहा है– 'आत्मतत्त्वातिरिक्तं यत्किंचित् दृश्यमदृश्यं चास्ति तत्सर्वम् अजीवतत्त्वं प्रोच्यते'।

धर्मास्तिकाय– जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में उदासीन निमित्त कारण होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे स्वयं गतिशील मछली की गति में जल उदासीन निमित्त कारण होता है।

अधर्मास्तिकाय– जो द्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति (ठहरने) में उदासीन निमित्त कारण होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे पथिक के ठहरने में वृक्ष की छाया उदासीन निमित्त कारण होती है। पथिक अपनी इच्छा से रुकता है, छाया केवल निमित्त होती है, उपादान नहीं।

आकाशास्तिकाय– आकाश का लक्षण अवगाह (स्थान) देना है अतः जीव आदि द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देने का निमित्त कारण जो द्रव्य है उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं। यह दो प्रकार का है– लोकाकाश और अलोकाकाश। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म जहाँ रहते हैं वह लोकाकाश है। उससे बाहर अनन्त अलोकाकाश है।

पुद्गलास्तिकाय– रूप,रस, गन्ध,स्पर्शवान द्रव्य पुद्गलास्तिकाय कहलाते हैं। मूर्त पदार्थों को पुद्गल माना जाता है। जिनका संयोजन विभाजन सम्भव हो वह पुद्गल है। पुद्गल अणु तथा स्कन्ध भद वाले हैं। अणु पुद्गल का अविभाज्य अंश है। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोजन को स्कन्ध कहते हैं। संसार में प्रतीयमान तथा इन्द्रियगम्य सभो भोतिक पदार्थ पुद्गल के अन्तर्गत आते हैं।

काल द्रव्य– काल अनस्तिकाय है क्योंकि वह स्थान नहीं घेरता। पदार्थों में परिणमन (नये से पुराना होना) या वर्तना का निमित्त कारण काल है। द्रव्यों के परिणाम और क्रियाशीलता की व्याख्या काल द्रव्य के द्वारा ही सम्भव है। पल, प्रहर, घंटा आदि व्यवहार काल हैं।

3. आस्रव तत्त्व– काया, वचन और मन की जिस क्रिया से आत्मा में कम प्रवेश करते हैं उसे आस्रवकहते हैं। जैसे जलाशय में जल को प्रवेश कराने वाली नाली को आस्रव कहते हैं उसी प्रकार जीव अपनी क्रिया के अनुसार कम पुद्गलों को आकृष्ट करता है तो उसे आस्रव कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण आदि आठ कम माने गये हैं जो जीव (आत्मा) के स्वाभाविक गुणों को आवृत्त करते हैं। जैसे आत्मज्ञान को आवृत्त करने वाले ज्ञानावरणीय कम कहलाते हैं। आठकम में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय ये चार घाति कम आत्मस्वरूप का हनन करते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघाति कम हैं।

4. बन्ध तत्त्व– मिथ्यात्व, अविरति (असंयम), प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के हेतु हैं। अथवा कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) बन्ध के हेतु हैं। उपर्युक्त मिथ्यात्व, अविरति ओर प्रमाद का अन्तर्भाव कषाय में हो जाता है। आस्रव से आये हुए कर्मों का बन्ध जाना बन्ध है। बन्ध के चार भद हैं– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाव बन्ध और प्रदेशबन्ध।

कम पुद्गल कौन से स्वभाव ;ज्ञान का या दर्शन का या अन्यद्ध का आवरण करता है यह प्रकृतिबन्ध है।

कमपुद्गल जितने समय के लिए बंधते हैं यह स्थितिबन्ध है।

स्वभाव निर्माण के साथ ही उसमें तीव्रता मन्दता आदि रूप में फलानुभव कराने वाली विशेषताएँ बंधती हैं, ऐसी विशेषता ही अनुभाव बन्ध है।कमपुद्गलों का स्वभाव के अनुसार परिणाम को प्राप्त करना प्रदेशबन्ध है।

5. संवर तत्त्व– कर्मास्रव रोकने में आत्मा का जो परिणाम कारण बनता है वह संवर है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है– आस्रवनिरोधः संवरः। वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

6. निर्जरा तत्त्व– तप से निर्जरा होती है। पूर्वसंचित कम आत्मा के जिस परिणाम से क्षीण हो जाते हैं वह निर्जरा है। कम का उदय भोगने पर कर्मों का क्षय होना सकाम निर्जरा है तथा बिना भोगे तप द्वारा कमक्षय अकाम निर्जरा कहलाती है। चिकनाई से चिपकी हुई रेत का ढेर चिकनाई मिटते ही झर जाता है तथैव राग द्वेष का अभाव होते ही कम चूर चूर होकर खिर जाते हैं यही निर्जरा है।

7. मोक्षतत्त्व– समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। किसी भो क्रिया में राग– द्वेष नहीं होने पर वह क्रिया कम नहीं बनतो और कोई कम शेष नहीं रहना ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों का एकसाथ होना मोक्ष का मार्ग है और आत्मा का साक्षात्कार हो जाना ;कमक्षय हो जाने सेद्ध मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त होने पर आठ कर्मों के क्षय होने से आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख आदिगुण व्यक्त हो जाते हैं।

मोक्ष प्राप्त जीव ही सिद्ध या मुक्त कहलाता है इसे ही ईश्वर या तीर्थंकर कह देते हैं किन्तु जैन दर्शन में जगत् के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है।

17.3.2 षड्द्रव्य

उपर्युक्त सप्त तत्त्वों में से जीव तथा अजीव के पाँच भदों को षड्द्रव्य कहा जाता है– जीव, पुद्गलद्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य। जो सत् है उसे द्रव्य माना गया है। सत् की परिभाषा जैन दर्शन के अनुसार 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्' है अर्थात् जिसमें द्रव्य की अपेक्षा से ध्रौव्य (नित्यता) रहे तथा पर्याय को अपेक्षा से उत्पाद–व्यय ;उत्पत्ति और नाश) होता रहे उसे द्रव्य कहते हैं। संसार के सभो द्रव्यों का स्वभाव नित्य है अतः उनमें गुण ध्रौण्य है किन्तु उनका आकार– प्रकार पर्याय बदलती रहती है पुरानी नष्ट होती है, नई उत्पन्न होती रहती है, अतः उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य साथ साथ रहने मे विरोध नहीं है। सभो द्रव्यों में यह परिभाषा घटित होती है क्योंकि सभो द्रव्य गुण और पर्याय वाले हैं– गुणपर्यायवद् द्रव्यम् त.सू. 5 /37

इन छः द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्त है तथा शेष अमूर्त हैं इसलिये पुद्गल के गुण तथा पर्याय गुरु लघु कहे जाते हैं परन्तु शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण और पर्याय अगुरुलघु कहे जाते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्यों के दो प्रकार बताए जाते हैं–1. अस्तिकाय 2. अनस्तिकाय। काल के अतिरिक्त शेष पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि वे स्थान घेरते हैं। अस्तिकाय द्रव्यों के प्रदेश कायवत् मिले हुए रहते हैं और काल के अणु एक एक पृथक् पृथक् रहते हैं अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना जाता।

17.3.3 प्रमाण, नय, स्याद्वाद

उपर्युक्त जीव आदि सप्त तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। प्रमाण वस्तु के अनेक अंशों का बोध कराता है और नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है। प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञान स्व तथा पर का प्रकाशक हो उसे प्रमाण कहते हैं। अतः प्रमाण के भद जानने से पूर्व ज्ञान के भद जानना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार

'मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्' अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

प्रमाण दो प्रकार का है–1. परोक्षप्रमाण 2. प्रत्यक्षप्रमाण।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाते हें क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवल ज्ञान ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होते हैं।

(नोटः न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण भिन्न प्रकार से दिया गया है। न्यायदर्शन में इन्द्रियजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। जैन दर्शन आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष

प्रमाण है। कहीं कहीं लौकिक दृष्टि से जैन दार्शनिकों ने न्यायदर्शन के अनुसार इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कह दिया है।)

अन्यदर्शनों में माने गये प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि का अन्तर्भाव मतिज्ञान में कर दिया गया है क्योंकि जैन दर्शन में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इन सभो को पर्यायवाची माना है।

मतिज्ञान– श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों तथा मन अन्तः इन्द्रिय के निमित्त से होने वाला श्रोत्रज, चाक्षुष, घ्राणज, रसनेन्द्रियज, स्पार्शन तथा मानस ज्ञान मतिज्ञान है जो परोक्षप्रमाण है।

श्रुतज्ञान– इन्द्रिय तथा मन से जन्य शब्दोल्लेख सहित ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। आचारांगसूत्र आदि 12 अंग तथा अन्यशास्त्रज्ञान श्रुतज्ञान के प्रकार हैं। ये भो परोक्ष प्रमाण माने जाते हैं।

अवधिज्ञान– ज्ञानादि का आवरण (बाधा) का क्षय या उपशम होने पर बिना इन्द्रिय मन की सहायता लिये रूपी पदार्थों का अवधि (सीमा) पर्यन्त ज्ञान हो जाना अवधिज्ञान है, इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है। यह अवधिज्ञान किसी किसी को जन्म लेते ही प्राप्त होता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं और किसी को तप आदि अनुष्ठान पूर्वक प्राप्त होता है उसे यथोक्त निमित्त कहते हैं।

मनः पर्यायज्ञान– मन के पर्यायों (आकृतियों) का साक्षात् जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान है। इस ज्ञान से चिन्तनीय वस्तुएं नहीं जानी जाती अपितु चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं। यह ज्ञान भो आत्ममात्र सापेक्ष होने से प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

केवलज्ञान– सभो द्रव्यों में और सभो पर्यायों में जिस आत्मज्ञान की प्रवृत्ति होती है वह केवल ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण है। यह केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है इसम एक वस्तु की समस्त पर्यायों एवं सभो वस्तुओं के भो भावों का ग्रहण हो जाता है।

नय– नय पूरी वस्तु को न समझकर उसके अंश का समझना है। नय किसी वस्तु को समझने का दृष्टिकोण है। नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है।

नय के भद– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभ्त ये सात नय माने जाते हैं। इनमें से प्रथम तीन वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करते हैं अतः द्रव्यार्थिक नय हैं तथा शेष चार नय वस्तु के विशेष ग्राही होने से पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं।

नैगम नय– संज्ञा, लोकरूढि आदि के आधार पर वस्तु का ज्ञान नैगम नय कराता है, वस्तु में उस कथन की सार्थकता होना आवश्यक नहीं है जैसे किसी अन्धे को नयनसुख नाम से जानना।

संग्रह नय– पदार्थों में रहने वाले सामान्य (जाति) के आधार पर वस्तु को जानना जैसे गोत्व के द्वारा समस्त गायों के समूह को जानना संग्रहनय से सम्भव होता है।

व्यहार नय– जो नय व्यवहार में उपयोग के प्रसंग से ज्ञान कराता है जैसे आटा पिसवाने का अर्थ गेहूँ पिसवाना है यह व्यवहार नय से ही जाना जा सकता है। डॉक्टर नहीं बनने पर भो प्रवेश लेने मात्र से डॉक्टर कहना व्यवहार नय से सम्भव है।

उपर्युक्त तीनों नय सामान्यग्राही होने से द्रव्यार्थिक नय की कोटि मे आते हैं।

ऋजुसूत्र नय– भ्त और भविष्य को छाजड़कर केवल वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाला नय ऋजुसूत्र नय है। जैसे गमनशीला हो तभो गौ कहना ऋजुसूत्र नय से कथन होगा।

शब्द नय– वर्तमान काल में भो शब्द के काल, लिंग आदि भदों को ध्यान में रखकर वस्तु के अर्थ को समझना शब्दनय है। रम् धातु समान होने पर भो उपसर्ग भद से अर्थ भद समझना जैसे आराम, विराम आदि। आसीत्, अस्ति आदि कालभद समझना। दारा, स्त्री आदि लिंग भद समझना। यह शब्द नय का विषय है।

समभिरूढ नय– शब्द भद से बढकर व्युत्पत्तिभद का ग्रहण समभिरूढ नय से होता है जैसे राजा, नृप, भ्पति आदि एकार्थक शब्दों में भो व्युत्पत्तिभद से अर्थभद समभिरूढ नय से सम्भव है।

एवम्भ्त नय– व्युत्पत्तिभद से भो परे क्रिया योग्यता के आधार पर कथन एवंभ्तनय से होता है जैसे– दरबार लगा हो, न्यायाधिपति न्याय सुन रहा हो उस व्यक्ति को उसी समय न्यायाधिपति कहना या मानना एवंभ्त नय से सम्भव होता है। इस नय से अन्य अवसर पर उसी व्यक्ति को न्यायाधिपति नहीं कहा जा सकता।

उक्त चारों नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं पर्याय विशेषता ग्रहीत होती है अतः इन्हें पर्यायार्थिक नय कहा जाता है।

स्याद्‌वाद

संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है यह चिन्तन अनेकान्तवाद कहलाता है तथा एक समय में एक वस्तु के अनेक धर्मों में से केवल एक प्रधान अपेक्षावाले धर्म का ही कथन किया जा सकता है ;शेष धर्म गौण रहते हैंद्ध इसे स्याद्‌वाद कहते हैं। यह स्याद्‌वाद सापेक्षवाद भो कहलाता है क्योंकि कथन शैली में एक बार में एक अपेक्षा से ही कथन होता है यद्यपि अन्य अपेक्षाएं गौण रहती हैं। स्याद् एक अव्यय है जिसका अर्थ है किसी अपेक्षा से। स्याद् का अर्थ शायद या संशय नहीं है। स्याद्‌वाद के आधार पर ही तत्त्वों के स्वरूप को समझने में सुविधा होती है जैसे स्याद् द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य है, स्याद् पर्यायदृष्टि से आत्मा ;जीवद्ध अनित्य है। यहाँ आत्मा को नित्य और अनित्य कहने में विरोध नहीं हैं क्योंकि दोनों के कथन की दृष्टियों में अपेक्षा भिन्न भिन्न है। यही सापेक्षता का सिद्धान्त स्याद्‌वाद है जिससे परस्पर मतों को समझने में सौहार्द रहता है, कलह नहीं। दृष्टिकोण का भद समझने पर संघर्ष नहीं होता। स्याद्‌वाद जैन दर्शन की ऐसी कुंजी है जिससे जैन तत्त्वमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा के रहस्यों को आसानी से समझा जा सकता है।

स्याद्‌वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। किसी भो वस्तु के सम्बन्ध में हमारा जो निर्णय होता है वह सभो दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता विशेष परिस्थिति व विशेष दृष्टि से ही मानी जाती है। परस्पर मतभद का कारण अपने विचारों को ही सत्य मान लेना है। इसके लिए जैन दार्शनिक 'एक हाथी व छः अन्धों' का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जैन परम्परा के अनुसार परामर्श सात प्रकार के हैं जिसे सप्तभगी भो कहा जाता है–

1. स्यात् अस्ति–यह भावात्मक वाक्य है।
2. स्यात् नास्ति– यह अभावात्मक परामर्श है।
3. स्यात् अस्ति च नास्ति च– एक वस्तु की सत्ता विशेष दृष्टिकोण से हो भो सकती है नहीं भो।
4. स्यात् अवक्तव्यम्– यदि किसी परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों का विचार करना हो तो स्यात् अवक्तव्यम् का प्रयोग करना चाहिए। जब निश्चित रूप से न कहा जा सके।
5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च– एक वस्तु एक ही समय में हो सकती है और फिर भो अवक्तव्यम् रह सकती है।
6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च– किसी विशेष दृष्टिकोण से किसी भो वस्तु के विषय में 'नहीं है' कह सकते हैं परन्तु दृष्टि स्पष्ट न होने पर कुछ भो नहीं कहा जा सकता।
7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च– यह एक दृष्टि से वस्तु की स्थिति, दूसरी से नकारात्मक स्थिति व तीसरी दृष्टि से अस्पष्ट अतः अवक्तव्य हो सकती है।

स्याद्‌वाद को सन्देहवाद नहीं कहा जा सकता। जैन ज्ञान की सम्भावना की सत्यता में विश्वास करता है। वह पूर्ण ज्ञान की सम्भावना पर भो विश्वास करता है। यह सापेक्षता का सिद्धान्त है। जैन मतानुसार ज्ञान निभर करता है स्थान, काल और दृष्टिकोण पर।

17.3.4 जैन आचार

जैन दर्शन की आचार परम्परा में श्रावक श्राविका (गृहस्थों) के लिए 12 अणुव्रतों का विधान तथा साधु साध्वी (मुनियों) के लिए पंचमहाव्रत का विधान किया गया है। साधु साध्वी

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण पालन करते हैं उनके आचरण में किसी काल, स्थान , परिस्थिति की छूट नहीं रहती है। वे हिंसा आदि न तो करते हैं, न करवाते हैं और न ही अनुमोदन करते हैं मन, वचन और काया से। इस प्रकार वे पंचमहाव्रत का पालन तीन करण और तीन योग से करते हैं। गृहस्थ लोगों को संसारी व्यवहार के कारण स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी आदि के त्याग का विधान है अकारण हिंसादि का त्याग विहित है किन्तु गृहकार्यों या आजीविका में हिंसादि का पूर्ण त्याग सम्भव नहीं है अतः उनके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

जैन साधु साध्वी कनक कामिनी के त्यागी, केशलोचन करने वाले, पदयात्री, निर्दोष भिक्षाभोजी, श्वेतवस्त्रधारी अथवा दिगम्बर, तपस्वी, संयमी होते हैं।

जैनदर्शन में श्रमणाचार गृहत्यागी साधु साध्वियों के लिए विहित हैं तथा श्रावकाचार गृहस्थ महिला–पुरुषों के लिये।

पंच समिति, त्रिगुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बावीस परीषहजय, बारह श्रावक के व्रत और पाँच साधु के महाव्रत जैन आचार की आधारशिला है जिसे सम्यक् चारित्र भो कहा जाता है।

सम्यक् चरित्र के लिए समिति का पालन आवश्यक है। हिंसा से बचने के लिए निश्चित मार्ग से जाना ईर्या समिति है, नम्र और अच्छी वाणी बोलना भाषा समिति है, उचित भिक्षा लेना एषणा समिति व चीजों को उठाने और रखने में सतर्कता आदान निक्षेपण समिति है। शून्य स्थान में मलमूत्र विसर्जन उत्सर्ग समिति है।

मन, वचन और शारीरिक कर्मों का संयम त्रिविध गुप्ति है। यही काय, वाग् और मनोगुप्ति कहलाती है। सत्य, क्षमा, शौच, तप, संयम, त्याग, विरक्ति, मार्दव, सरलता और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का पालन आवश्यक है। जीव अजीव के स्वरूप का चिन्तन अनुप्रेक्षा है। सर्दी, गर्मी आदि से प्राप्त दुःखों को सहना परीषहजय है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पंच महाव्रत है। इन सब आचार को अपनाकर मनुष्य मोक्षानुभ्ति के योग्य होता है। कर्मों का आस्रव जीव में बन्द हो जाता है। पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार जीव अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करता है। यही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ सिर्फदुःखों का नाश ही नहीं अपितु आत्मा के अनन्त चतुष्टय– अनन्त ज्ञान, शक्ति, दर्शन और आनन्द की प्राप्ति भो है।

जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखता न ही उसे सृष्टि का रचयिता मानते हैं क्योकि ईश्वर अवयवहीन है, अतः जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता। यदि ईश्वर को करुणा या अन्य किसी स्वार्थ से सृष्टि रचना को प्रेरित माने तो उसकी न्यूनता परिलक्षित होगी। सृष्टि के पूर्व दुःखों का निर्माण भो असंगत है। जैन दर्शन ईश्वर को एक सर्वशक्तिमान और पूर्ण मानने का विरोध करता है। जैन धर्म मूल्यों में विश्वास करता है। त्रिरत्न व पंच महाव्रत जैन को धर्म के रूप में स्थापित करने में सहायक हैं। नैतिक मूल्यों के नियन्त्रण के लिए वे तीर्थंकरों में विश्वास करते हैं और अर्हत् रूप में उनके प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित करते हैं जो मात्र व्यावहारिक रूप से ही ईश्वर की संज्ञा है।

सर्वदर्शनसंग्रह से चयनित अंश

नास्तिक दर्शन परम्परा में चार्वाक, बौद्ध व जैन दर्शन प्रमुख हैं। इनकी दार्शनिक विचारधारा का संक्षेप में प्रतिपादन करते हुए बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है–

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभगुरम्।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्।।30।।

दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चैत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः।। 31।।

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पंच प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च।। 32।।

पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंचमानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु।। 33।।
रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः।। 34।।
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते।। 35।।
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः।। 36।।
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः।। 37।।
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः।। 38।।
रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता।। 39।।
कृत्तिः कमण्डलुमौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
संघो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः।। 40।।

विवेकविलास में बौद्धमत को इस प्रकार कहा गया हैः–

बौद्धों के देवता सुगत (बुद्ध) हैं। संसार क्षणभगुर है। आर्यसत्य नामक चार तत्त्व इस प्रकार हैं।। 30।। दुःख, दुःख का स्थान, समुदय और मार्ग इनकी क्रमशः व्याख्या श्रोतव्य है।। 31।। दुःख का अर्थ है सांसारिक प्राणी के पाँच स्कन्ध–

1. विज्ञान 2. वेदना 3. संज्ञा 4. संस्कार 5.रूप।। 32।। पाँच इन्द्रियां, शब्दादि पाँच विषय, मन तथा धर्म ये बारह आयतन हैं।। 33।। मनुष्यों के हृदय में जिस कारण से राग आदि का समूह उत्पन्न होता है वह अपने स्वभावरूप से जाना जाने वाला समुदय है।। 34।। सभो संस्कार क्षणिक हैं यह जो स्थिर वासना संस्कार है इसे ही मार्ग जानना चाहिय। इसे ही मोक्ष भो कहते हैं।। 35।। प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। वैभाषिक आदि (सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक) चार बौद्धों के प्रस्थान हैं।। 36।। वैभाषिक लोग अर्थ को ज्ञानान्वित (प्रत्यक्षगम्य) मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य नहीं मानते हैं, अपितु अनुमेय मानते हैं।। 37।। योगाचार के मत से अर्थ विज्ञान (बुद्धि) का ही आकार विशेष हैं। माध्यमिक केवल ज्ञान को ही अपने में स्थित मानते हैं।। 38।।

उपर्युक्त सभो बौद्ध मानते हैं कि राग आदि ज्ञान की परम्परा रूपी वासना संस्कार के नष्ट होने पर मुक्ति कहलाती है।। 39।। चर्म, कमण्डलु, मुण्डन, वस्त्र, एकबार पूर्वाह्ण में भोजन, संघ में रहना, कषाय–वस्त्र धारण करना ये बौद्ध भिक्षु स्वीकार करते हैं।। 40।।

जैन दर्शन के सार को संकलित करते हुए सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है–

बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः।
अन्तरायस्तथा निद्रा भोरज्ञानं जुगुप्सितम्।। 51।।
हिंसा रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः।। 52।।
जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्त्वज्ञानोपदेशकः।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी।। 53।।
स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा।। 54।।
जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्रवः संवरोऽपि च।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याऽधुनोच्यते।। 55।।

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कमपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः।। 56।।
आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः।
प्रवेशः कमणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम्।। 57।।
अष्टकमक्षयान्मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्रवे क्रियते पुनः।। 58।।
लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः।
क्षीणाष्टकमणो मुक्तिर्निव्यावृत्तिर्जिनोदिता।। 59।।
सरोजहरणा भक्षभजो लुंचितमूर्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसंगा जैनसाधवः।। 60।।
लुंचिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः।। 61।।
भक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भदो महांश्वेताम्बरैः सह।। 62।।

सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने जिनदत्तसूरी रचित विवेक विलास से जैनमत का सारांश निम्न प्रकार से व्यक्त किया है। बल,भोग, उपभोग (इन्द्रिय सुख),दान तथा लाभ के अन्तराय, निद्रा, भय, अज्ञान, घृणा, हिंसा, रति, अरति, राग, द्वेष, अविरति, काम, शोक और मिथ्यात्व इन अठारह दोषों से रहित जिनगुरु सम्यक्रूप से तत्त्वज्ञान का उपदेशक है। ज्ञान दर्शन चारित्र्य ये अपवर्ग के मार्ग हैं।। 51–53।। स्याद्वाद के सिद्धान्त में दो प्रमाण हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। तत्त्व नौ या सात हैं जो सभो स्याद्वाद के अनुसार नित्यानित्यात्मक हैं।। 54।। जीव– अजीव, पुण्य–पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरण और मुक्ति इनकी व्याख्या की जाती है।। 55।। चेतना जीव का लक्षण है, उससे भिन्न अचेतन अजीव होता है, सत्कार्यों से उत्पन्न होने वाले पुद्गल पुण्य हैं उससे विपरीत बुरे कार्यों से उत्पन्न पुद्गल पाप हैं।। 56।। आस्रव पाप स्रोत का द्वार है, जो उसे ढक ले वह संवर है। कर्मों का प्रवेश करना बन्ध है और उनसे अलग हो जाना निर्जरा है।। 57।। आठ प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। पुण्य का अन्तर्भाव संवर में करने तथा पाप का आस्रव में करने से तत्त्व सात रह जाते हैं।। 58।। अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख जिसके प्रकट हो गए हों, उसको जिनेश्वर द्वारा कथित निर्व्यावृत्ति अर्थात् निर्वाणरूपी मुक्ति की प्राप्ति होती है। जहाँ से लौटना नहीं होता।। 59।। जैन श्वेताम्बर एवं दिगम्बर के आचार पक्ष को कहते हैं कि रजोहरण रखने वाले, गोचरी (भिक्षा) से आहार लेने वाले, केशों का लोच करने वाले, क्षमाशील, आसक्ति रहित जैन साधु हैं। (जिनमें श्वेत वस्त्रधारी श्वेताम्बर हैं)।। 60।। और इन जैन साधुओं में लुंचित केश वाले मोर के पंख का रजोहरण हाथ में लिए हुए, हाथों को ही पात्र मानने वाले करपात्री तथा गोचरीदाता के घर पर ही खड़े खड़े आहार लेने वाले जैन साधु दिगम्बर हैं।। 61।। दिगम्बर साधुओं की मान्यता है कि केवल ज्ञान से युक्त पुरुष भोजन नहीं करते और स्त्री को मोक्ष नहीं मिलता, यह श्वेताम्बर और दिगम्बरों में भद माना जाता है।। 62।।

टिप्पणी – स्त्रैण मलिन विचारों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती मुक्ति के लिए पौरुष पुरुषार्थ प्रयत्न आवश्यक है।

इस प्रकार सामान्यतः संक्षेपरूप से दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों को समझा जा सकता है।

17.4 पारिभाषिक शब्दावली

बौद्ध

1. आलम्बन– विषयों का आधार आलम्बन है।
2. समनन्तर– उत्तर क्षण के ज्ञान को आकार ग्रहण की शक्ति देते हुए पूर्व क्षण का ज्ञान समनन्तर है

3. सहकार्य– मन से वस्तु का संयोग होना भी सहकारी ही है।
4. अधिपति– इन्द्रियों को अधिपति कहा गया है।
5. रूपस्कन्ध– जिनसे विषयों का निरूपण होता है और जो विषय हैं–विषयाणीन्द्रियाणि।
6. विज्ञानस्कन्ध– आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः।
7. वेदनास्कन्ध– प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः।
8. संज्ञास्कन्ध– शब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः।
9. संस्कारस्कन्ध– वदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः।

जैन

10. परोक्ष– अविशदप्रतिभासं परोक्षम्।
11. प्रत्यभिज्ञान्– दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।
12. नयः– नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति नयः।
13. धर्म– जीवपुद्‌गलानां गतिरूपपरिणतानामुदासीनतया गतिहेतुत्वम्।
14. अधर्म– तेषां तथैव स्थितिरूपपरिणतानां स्थितिहेतुत्वम्।
15. आकाश– यस्मिन् सर्वे पदार्थाः अवकाशमाप्नुवंति तदाकाशम्।
16. काल– यः स्वयं परिवर्तमानानां वस्तूनां परिवर्तनायां निमित्तकारणं भवति स एव कालः।
17. प्रमाणम्– सम्यग्ज्ञानम्।
18. संशय– संशयो हि प्रमाणासिद्धानेककोटिस्पर्शात्मकः प्रत्ययः।
19. स्मृति– तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः।

17.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. बुद्ध के चार आर्यसत्यों की व्याख्या कीजिए।
3. बुद्ध के अनुसार अष्टांगिकमार्ग को स्पष्ट कीजिए।
4. बौद्धों के अनुसार क्षणिकवाद का प्रतिपादन कीजिए।
5. बौद्धों के अनात्मवादी सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
6. बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों का विवेचन कीजिए।
7. बौद्धदर्शन के धार्मिक सम्प्रदाय कौन कौन से हैं? परिचय दीजिए।
8. जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण कौन कौन से हैं? परिचय दीजिए।
9. जैन दर्शन के अनुसार स्वीकृत तत्त्वों का विवेचन कीजिए।
10. जैन दर्शन के स्यादवाद का प्रतिपदान कीजिए।
11. जैन दर्शन के अनुसार त्रिरत्न कौन से हैं?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई सं. 17.2.1 देखें।
2. इकाई सं.17.2.1 देखें।
3. इकाई सं. 17.2.1 का 4 बिन्दु दुःख निरोध के मार्ग देखें।
4. इकाई सं.17.2.2 देखें।
5. इकाई सं. 17.2.3 देखें।
6. इकाई सं. 17.2.6 देखें।
7. इकाई सं. 17.2.7 देखें।

8. इकाई सं. 17.3.3 देखें।
9. इकाई सं. 17.3.1 देखें।
10. इकाई संख्या17.3.3 देखें।
11. इकाई संख्या 17.3.4 देखें।

17.6 सारांश

इकाई 17 में नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय दिया गया है जिसमें बौद्ध एवं जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों, विचारधाराओं को प्रस्तुत करते हुए उनकी तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा का वर्णन किया गया है। चार्वाक दर्शन का परिचय हम अगली इकाई में प्राप्त करेंगे।

17.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन का इतिहास– एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली,1991.
3. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी,1991.
4. सर्वदर्शनसंग्रह, प्रो0 उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,1984.
5. भारतीय दर्शन– डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली,2004.
6. जैनदर्शन सार, चैनसुखदास, वीर पुस्तक भण्डार,1998.
7. उमास्वाति : तत्त्वार्थसूत्र, (सम्पा.) सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, 1951.

इकाई– 18

चार्वाक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त (सर्वदर्शनसंग्रह)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 प्रमाण मीमांसा

- 18.2.1 प्रत्यक्ष प्रमाण
- 18.2.2 अनुमान प्रमाण का खण्डन
- 18.2.3 उपमान प्रमाण का खण्डन
- 18.2.4 शब्द प्रमाण का खण्डन

18.3 तत्त्वमीमांसा

- 18.3.1 पृथ्वी आदि चार भ्त तत्व
- 18.3.2 आत्मा विषयक विचार
- 18.3.3 ईश्वर विषयक विचार
- 18.3.4 मोक्ष विषयक विचार

18.4 चार्वाक की विचारधारा

18.5 पारिभाषिक शब्दावली

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.7 सारांश

18.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

18.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन की दो धाराएं प्रचलित हैं– नास्तिक व आस्तिक। नास्तिक दर्शन परम्परा में चार्वाक, बौद्ध व जैन दर्शन आते हैं और आस्तिक दर्शन में न्याय – वैशेषिक, सांख्य–योग, पूर्वमीमांसा व उत्तर मीमांसा ये षड्दर्शन सम्मिलित हैं। नास्तिक दर्शन परम्परा में चार्वाक पूर्णतः अनीश्वरवादी, प्रत्यक्षवादी एवं जड़वादी दर्शन है। इसके प्रवर्तक बृहस्पति कहे जाते हैं। एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण वह दृष्ट पदार्थों की सत्ता ही स्वीकार करता है और ईश्वर व मोक्ष के सम्बन्ध में उसके विचार भो अन्य दर्शनों से बिल्कुल अलग हैं। इस अध्याय में आप निम्न बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे। इसके माध्यम से चार्वाक दर्शन की विचारधारा का पूर्ण परिचय हो जाता है।

- चार्वाक की प्रमाण मीमांसा का सामान्य अध्ययन कर सकेंगे।
- चार्वाक की तत्त्वमीमांसा का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- चार्वाक के तत्त्वों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- चार्वाक की मोक्ष विषयक अवधारणा को समझ सकेंगे।
- चार्वाक की विचारधारा को जान सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

एम.ए पूर्वार्द्ध के तृतीय प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन के अन्तर्गत आपने 17 वीं इकाई में नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत बौद्ध एवं जैनदर्शन का परिचय प्राप्त किया। अब इकाई 18 में आप चार्वाक दर्शन की परम्परा एवं विचारधारा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई का अध्ययन कर आप भारतीय दर्शनों में प्रमुख जड़वादी चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन की प्रमुख प्रवृत्ति आध्यात्मिक है लेकिन भारतीय विचारधारा में अध्यात्मवाद के अतिरिक्त जड़वाद के भो दर्शन होते हैं। नास्तिक दर्शन की परम्परा में चार्वाक एक जड़वादी दर्शन है। इनके अनुसार भ्त ही चरम सत्ता हैं तथा इन्हीं से चैतन्य अथवा मन का आविर्भाव होता है। भारतीय दर्शन में चार्वाक ही जड़वाद का एकमात्र निदर्शन है। इसके प्रवर्तक बृहस्पति कहे गए हैं।

चार्वाक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निर्मित है। 'चर्व' का अर्थ 'चबाना अथवा खाना' होता है।

अन्य विद्वान् 'चारु वाक्' इन दो शब्दों से 'चार्वाक' शब्द निर्मित मानते हैं, अतः चार्वाक का अर्थ हुआ 'मीठे वचन बोलने वाला'। इस दर्शन के सिद्धान्त सामान्य लोगों को प्रिय एवं मधुर प्रतीत होते हैं क्योंकि वे सुख एवं आनन्द की चर्चा करते हैं।

कुछ विद्वान् चार्वाक व्यक्तिविशेष का नाम मानते हैं, जो जड़वाद के समर्थक थे। चार्वाक दर्शन को लोकायत मत भो कहा जाता है। यह दर्शन सामान्य जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। डॉ.राधाकृष्णन का मत है कि चार्वाक को लोकायत इसलिये कहा जाता है कि वह इस लोक में ही विश्वास करता है। इस लोक के अतिरिक्त दूसरे लोक का, जिसे लोग परलोक कहते हैं, चार्वाक निषेध करता है।

18.2 प्रमाणमीमांसा

चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधन है और इसीलिए वह प्रत्यक्ष से ज्ञेय भ्तों की ही सत्ता स्वीकार करता है और उन्हीं पदार्थों या विचारों का प्रतिपादन करता है जो प्रत्यक्षगोचर हैं। जब प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एकमात्र साधन है तो प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय विषय ही एकमात्र सत्य है। प्रत्यक्ष से केवल भ्त का ज्ञान होता है। इसलिये भ्त को छोडकर कोई भो तत्त्व यथार्थ नहीं है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग व कम सिद्धान्त कल्पना मात्र हैं, क्योंकि वे अप्रत्यक्ष हैं।

18.2.1 प्रत्यक्षप्रमाण

चार्वाक का सम्पूर्ण दर्शन उसके प्रमाण विषयक चिन्तन पर आधारित है। प्रमाण विज्ञान इस दर्शन की विचारधारा निश्चित करता है। ज्ञान के साधन की विवेचना करना प्रमाणविज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एकमात्र साधन मानता है। उसके अनुसार यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है– 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'।

वस्तुतः प्रत्येक दर्शन ने स्वस्वीकृत पदार्थ एवं सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए प्रमाणों का प्रतिपादन किया है। चार्वाक द्वारा स्वीकृत पदार्थों की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण ही पर्याप्त है। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने के कारण चार्वाक अन्य प्रमाणों का खण्डन करता है। अन्य प्रमाणों के खण्डन द्वारा वह प्रत्यक्ष की महत्ता को प्रतिपादित करता है। सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है–

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनंगीकारेण प्रामाण्याभावात्।

ये चार्वाक केवल प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं, अनुमानादि को अस्वीकार करने से उनको प्रमाण नहीं माना गया है। एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण वह अन्य प्रमाणों का खण्डन करता है।

इस प्रकार चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं करता। पंचज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभ्त वस्तु ही प्रमाणभ्त है। चार्वाक अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही यथार्थज्ञान का साधन है। प्रत्यक्ष के माध्यम से वर्तमान देशकाल से अवच्छिन्न पदार्थ का ज्ञान होता है।

चार्वाक के अनुसार वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है– बाह्य प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तु या पदार्थों से संयोग होने पर बाह्य प्रत्यक्ष होता है। मानस प्रत्यक्ष बाह्य

प्रत्यक्ष के अधीन होता है। इसमें मन उसी दिशा में क्रिया करता है, जो प्रत्यक्ष से प्राप्त होता है।

प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने के कारण ये भ्त द्रव्य को हो एकमात्र सद्वस्तु मानते हैं। आत्मा, जन्मान्तरवाद, कम, ईश्वर आदि कोई अस्तित्व नहीं रखते, क्योंकि ये प्रत्यक्ष नहीं हैं। चार्वाक मात्र जगत् का अस्तित्व मानते हैं क्योंकि वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों को जगत् का उपादान कारण मानते हैं क्योंकि ये प्रत्यक्षगम्य है। वस्तुतः चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी है। वह प्रत्यक्षातीत पदार्थों में विश्वास नहीं करता।

18.2.2 अनुमान प्रमाण का खण्डन

बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक अनुमान की प्रामाणिकता मानते हैं। प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती और न समस्त लोक व्यवहार की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है, अतः अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है लेकिन चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानते।

अनुमान व शब्द को प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि धुआं देखकर अग्नि के प्रति बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति का कारण एवं नदी के किनारे फल है इस बात को सनकर फल चाहने वाले का नदी के किनारे चल पडने का कारण अनुमान व शब्द प्रमाण ही है।

चार्वाक के अनुसार यह केवल कल्पना ही है। अनुमान को प्रमाण मानने वाले लोग, सम्बन्ध बताने वाले लिंग को मानते हैं जो व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त रहता है। व्याप्ति से तात्पर्य है उपाधि से रहित पक्ष और लिंग का सम्बन्ध–

व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिंगगमकम् अभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यादिभिः। व्याप्तिश्च उभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नांगभावं भजते किं तु ज्ञाततया।

अनुमान को संशय रहित तभो माना जा सकता है जब व्याप्ति वाक्य सन्देह रहित हो। अनुमान की वास्तविकता व्याप्ति की सत्यता पर अवलम्बित है। यदि व्याप्तिवाक्य मिथ्या हो तो अनुमान निश्चय ही अवास्तविक होगा।

सर्वदर्शनसंग्रह में कहा है–

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्तज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसम्भवेऽपि भ्तभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्वोपसहारवत्याः व्याप्ते दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसंगात्। नाऽपि चरमः अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रियतन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्– चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः।

चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से तो व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष या तो बाह्य होता है या आन्तरिक। इनमें बाह्य प्रत्यक्ष से व्याप्तिज्ञान होना असम्भव है, बाह्य प्रत्यक्ष केवल बाहरी इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। बाह्य प्रत्यक्ष सम्बद्ध विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। यह ज्ञान वर्तमान काल के विषयों में तो सफल हो सकता है लेकिन भतकाल और भविष्यकाल की वस्तुओं का ज्ञान देने में तो असफल हो जाएगा। व्याप्ति सभो कालों का संग्रह करने वाली है, अतः प्रत्यक्ष से इसका ज्ञान होना दुष्कर है। व्याप्ति का ज्ञान सामान्य के विषय में होता है ऐसा भो नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर दो व्यक्तिगत उदाहरणों में व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित है। अनुमान को सन्देह रहित तभो माना जा सकता है जब व्याप्ति वाक्य सन्देह रहित हो।

व्याप्ति वाक्य को अनुमान द्वारा स्थापित नहीं कर सकते। व्याप्ति की सत्यता अनुमान द्वारा असिद्ध है। यदि व्याप्ति को अनुमान द्वारा स्वीकृत करें तो उसकी अनुमान सत्यता भो एक दूसरी व्याप्ति पर निभर होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि व्याप्ति अनुमान पर निभर है और अनुमान व्याप्ति पर।

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्र तत्रापि एवमित्यनवस्थादौःस्थ्यप्रसंगात्। नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात्।

उनके अनुसार व्याप्ति की स्थापना शब्द प्रमाण से भो नहीं हो सकती क्योंकि कणाद के अनुसार शब्द अनुमान के ही अन्तर्गत है। इसलिए अनुमान के खण्डन के साथ शब्द का भो खण्डन हो जाता है। यदि शब्द को अनुमान के अन्तर्गत नहीं माने तो वृद्ध पुरुष के व्यवहाररूपी चिह्न की तो आवश्यकता पड़ेगी ही। इससे फिर अनवस्था दोष हो सकता है। शब्द प्रमाण में शक्तिग्रह से वस्तुओं का बोध होता है। शक्तिग्रह के साधनों में वृद्ध पुरुष का व्यवहार भो है किन्तु यह शक्तिग्रह अनुमान प्रमाण से ही होता है। इस प्रकार शक्तिग्रह के लिए दूसरे व्यवहाररूपी लिंग की आवश्यकता होगी अर्थात् दूसरा अनुमान चाहिए और उस अनुमान में भो शक्तिग्रह चाहिए। शक्तिग्रह के सम्बन्ध में व्याकरणशास्त्र में लिखा ह–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात्कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यश्च शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

व्याप्ति की स्थापना कार्यकारण सम्बन्ध से नहीं हो सकती है। धूम और अग्नि में कार्यकारण सम्बन्ध माना जा सकता है। परन्तु चार्वाक इसका खण्डन करते हैं, क्योंकि कार्यकारण सम्बन्ध भो सामान्य होने से एक व्याप्ति है। अतः यहाँ एक व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए दूसरी को स्वीकार किया गया है। जिसे धूम और अग्नि के कार्यकारण या अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं उसे धूम से अग्नि का अनुमान नहीं होगा। धूमादि जानने के बाद अग्न्यादि जानने की जो प्रवृत्ति है वह या तो पूर्वकाल के प्रत्यक्ष पर आधारित है या बिल्कुल भम है। कभो कभो इससे फल की प्राप्ति हो जाती है, कभो इनके बिना भो कार्य सिद्धि होती है। अतः अन्वय व्यतिरेक की विधियों में न ठहर सकने के कारण इनमें कार्यकारण भाव नहीं है। काकतालीय न्याय से इनमें कार्यकारणभाव मान लेते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार यद्यपि सभो धूमवान् पदार्थों को अग्नियुक्त देखना सम्भव नहीं है, फिर भो धूम सामान्य और अग्नि सामान्य का ज्ञान अवश्य हो सकता है। इस प्रकार धूम सामान्य और अग्नि सामान्य में नियत सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। चार्वाक सामान्य की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार यदि सामान्य की सत्ता मान भो ली जाए तो धूम सामान्य और अग्नि सामान्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से असम्भव है क्योंकि सभो धूमवान् पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। कुछ व्यक्तियों को देखकर सामान्य की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती।

अनुमान की अप्रामाणिकता का दूसरा कारण यह है कि हमारे सारे अनुमान यथार्थ नहीं होते। व्यावहारिक जीवन में हमारे सारे अनुमान सटीक नहीं होते, ऐसी दशा में अनुमान को यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं कहा जा सकता।

18.2.3 उपमान प्रमाण का खण्डन

उपमान संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध मात्र बताता है, किसी द्सरे सम्बन्ध को बतलाने की शक्ति इसमें नहीं, अतः व्याप्ति का ज्ञान कराना उसके लिए साध्य नहीं क्योंकि व्याप्ति में उपाधि रहित सम्बन्ध का बोध होता है। यथा,

उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादिबोधकत्वेन अनौपाधिकसम्बन्ध–बोधकत्वासम्भवात्।

18.2.4 शब्द प्रमाण का खण्डन

अधिकांश दार्शनिक अनुमान के अतिरिक्त शब्द को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हैं– 'आप्तोपदेशः शब्दः'। आप्तपुरुष वे हैं जिनके कथन विश्वासयोग्य होते हैं। चार्वाक शब्द को ज्ञान का साधन नहीं मानते हैं। शब्द हमें अयथार्थ ज्ञान प्रदान कराता है। शब्द के विरुद्ध चार्वाक अनेक कारण प्रस्तुत करता है।

शब्द द्वारा ज्ञान तभो होता है जब कोई आप्तपुरुष उपलब्ध हो। यदि आप्त पुरुष मिल भो जाए तो यह ज्ञात करना मुश्किल है कि वह आप्त है। इसके लिए अनुमान की आवश्यकता होगी–

सभो आप्तपुरुष के वाक्य मान्य हैं,

यह आप्तपुरुष का वाक्य है। अतः यह मान्य है।

इस कारण से चार्वाक शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान को अनुमान पर आधारित मानते हैं। उनके अनुसार अनुमान अप्रामाणिक है, अतः उस पर आधारित शब्द ज्ञान भो अप्रामाणिक होगा। शब्द ज्ञान का स्वतन्त्र साधन नहीं है। शब्द प्रत्यक्ष पर आधारित है। शब्द द्वारा ज्ञान हमें तभो होता है, जब हम किसी विश्वासयोग्य व्यक्ति के वचन को सुनते हैं, या प्रामाणिक ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं। चार्वाक शब्द को प्रत्यक्ष पर आधारित मानने के बावजूद प्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि शब्द से ईश्वर, स्वर्ग, नरक जैसी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान होता है।

18.3 तत्त्वमीमांसा

सांख्य वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन पाँच महाभत् स्वीकार करते हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। सम्पूर्ण भोतिक जगत् प्रपंच इन्हीं पाँचों तत्त्वों का विस्तार माना जाता है। चार्वाक ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व माने हैं। वे आकाश को तत्त्व स्वीकार नहीं करते। आकाश की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानता अतः आकाश की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। सांख्य वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन पाँच महाभत् स्वीकार करते हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। सम्पूर्ण भोतिक जगत् प्रपंच इन्हीं पाँचों तत्त्वों का विस्तार माना जाता है। चार्वाक ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व माने हैं। वे आकाश को तत्त्व स्वीकार नहीं करते। आकाश की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानता अतः आकाश की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

18.3.1 पृथ्वी आदि चार भूत तत्त्व

चार्वाक ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व माने हैं। वे आकाश को तत्त्व स्वीकार नहीं करते। आकाश की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानता अतः आकाश की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इन चार तत्त्वों के शरीर के आकार में बदल जाने पर इन्हों चारों से चेतना स्वतः उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु में पृथक् पृथक् चैतन्य नहीं रहता, परन्तु ये चारों तत्त्व विकृत होकर देहरूप में परिणत होते हैं तो इनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा का देह के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है।

चार्वाक आकाश के अतिरिक्त चार भतों की सत्ता मानता है। इन पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के भोतिक तत्त्वों के संयोग से विश्व का निर्माण हुआ है, यथा–

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।

निर्माण का अर्थ है भतों का संयोग। इसके विपरीत प्रलय का अर्थ है भतों का वियोग। चार्वाक के अनुसार जगत् की सृष्टि का आधार भत हैं। प्राण और चेतना का विकास भत से ही हुआ है–

तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। तेभ्यश्चैतन्यम्।

जगत् की रचना के लिए भतों के अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता को मानना अनुचित है। ये भत ही विश्व की रचना के लिए पर्याप्त हैं। इन चारों भतों के भोतिक तत्त्वों का स्वभाव ऐसा है कि उसके सम्मिश्रण से न केवल निर्जीव वस्तु का विकास होता है, बल्कि सजीव वस्तु का भो निर्माण हो जाता है। यथा–

अत्र चत्वारि भतानि भमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।

इन निर्जीव भतों से चेतना के आविर्भाव के सन्दभ में चार्वाक उपमा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार पान, कत्था, कसैली और चूने में लाल रंग का अभाव है फिर भो उनको मिलाकर चबाने से लाल रंग निर्मित होता है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु के भत जब आपस में संयुक्त होते हैं तो चेतना का निर्माण हो जाता है।

चार्वाक विश्व को भतों के आकस्मिक संयोजन का फल मानता है। भतों में विश्व निर्माण की शक्ति विद्यमान है। जिस प्रकार आग का स्वभाव गर्म होना तथा जल का स्वभाव शीतलता प्रदान करना है उसी प्रकार भतों का स्वभाव विश्व का निर्माण करना है। इस प्रकार विश्व

की सृष्टि अपने आप हो जाती है। चार्वाक का यह सिद्धान्त स्वभाववाद कहलाता है, इसकी विश्व सम्बन्धी व्याख्या को स्वभाववाद कहा जाता है।

चार्वाक यन्त्रवाद का समर्थन करता है। वह विश्व प्रक्रिया को प्रयोजनहीन मानता है। उद्देश्य की पूर्ति विश्व रचना का अभोष्ट नहीं है। विश्व यन्त्र की तरह निरुद्देश्य है।

चार्वाक विश्व की व्याख्या के लिए वस्तुवाद को स्वीकार करता है। उसके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतन्त्र है। विश्व का द्रष्टा कोई हो या न हो विश्व का अस्तित्व यथार्थ है।

चार्वाक विश्व की व्याख्या जड़वाद के आधार पर करता है। भ्तों के आकस्मिक संयोजन से विश्व का निर्माण हुआ है।

18.3.2 आत्मा विषयक विचार

भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं लेकिन चार्वाक आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता। चार्वाक चैतन्य को यथार्थ मानता है क्योंकि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है परन्तु वह चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं मानता। उसके अनुसार चैतन्य शरीर का गुण है। चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए। चार भ्तों से चैतन्य की उत्पत्ति की व्याख्या वह ताम्बूल के दृष्टान्त से करता है। उसके अनुसार चैतन्य भो शरीर का ही विशेष गुण है। शरीर से अलग चेतना का अनुभव नहीं होता। चेतना शरीर से स्वतन्त्र नहीं है। वह आत्मा और शरीर में अभद मानता है। उसके अनुसार कृशता, स्थूलता आदि की अनुभ्ति से शरीर और आत्मा की एकता परिलक्षित होती है। यदि आत्मा शरीर से अलग होती तो मृत्यु के उपरान्त आत्मा का शरीर से पृथक्कृत रूप दिखाई देता लेकिन किसी ने मृत्यु के समय आत्मा को शरीर से अलग होते नहीं देखा। जब तक शरीर है तब तक आत्मा जीवित है।

जन्म के पूर्व और मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व मानना निराधार है। जन्म के पश्चात् चेतना का आविर्भाव होता है और मृत्यु के साथ ही उसका अन्त हो जाता है। चेतना का आधार शरीर है अतः वह शरीर से भिन्न नहीं हो सकती। यथा

देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी।।

कुछ विद्वान् चार्वाक के दो सम्प्रदाय मानते हैं 1. धूर्त चार्वाक 2. सुशिक्षित चार्वाक।

धूर्त चार्वाक आत्मा और शरीर को अभिन्न मानता है। शरीर चार भ्तों के संयोग का प्रतिफल है और चेतना आत्मा का आकस्मिक गुण है। उनके अनुसार आत्मा शरीर का ही दूसरा नाम है।

सुशिक्षित चार्वाक आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं। आत्मा की नाना प्रकार की अनुभ्तियां होती हैं। उनके अनुसार आत्मा ज्ञाता है। वे भो आत्मा को शाश्वत नहों मानते। शरीर का अन्त ही आत्मा का भो अन्त है। यथा– देहात्मवादे च स्थूलोऽहं कृशोऽहं कृष्णोऽहम् इत्यादि सामानाधिकरणोपपत्तिः। मम शरीरम् इति व्यवहारो राहोः इत्यादिवदौपचारिकः।

शरीर से अलग आत्मा की सत्ता नहीं मानने के कारण चार्वाक आत्मा विषयक प्रत्येक प्रश्न का निराकरण करता है। वह आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करता। पुनर्जन्म व परलोक भो मिथ्या है। यदि आत्मा का पुनर्जन्म होता तो हमें एक जन्म की अनुभ्ति दूसरे जन्म में भो होती। जैसे बाल्काल की अनुभ्ति वृद्धावस्था में रहती है, परन्तु आत्मा को पुनर्जन्म की अनुभ्ति नहीं होती, अतः पनर्जन्म मिथ्या है। शरीर मृत्यु के बाद भ्तों में मिल जाता है और आत्मा भो उसी में लीन हो जाती है। आत्मा की अमरता नहीं मानने के कारण चार्वाक स्वर्ग नरक को नहीं मानते। जब आत्मा का शरीर से भिन्न अस्तित्व नहीं है तो स्वर्ग नरक की प्राप्ति किसे होगी? अतः स्वर्ग नरक की अवधारणा खण्डित हो जाती है।

18.3.3 ईश्वर विषयक विचार

चार्वाक अनुमान को भो प्रमाण नहीं मानते, अतः वह ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता। स्वभावतः ही जगत् की सृष्टि एवं प्रलय होने से चार्वाक के लिए ईश्वर को मानने की जरुरत नहीं रहती। ईश्वर संसार का स्रष्टा है और विश्व ईश्वर को सृष्टि है। चार्वाक इसके

खण्डन में कहता है कि चार भ्तों के सम्मिश्रण से सृष्टि होती है। वे ही सृष्टि के निमित्त व उपादान कारण हैं, अतः ईश्वर को मानना अनुचित है। उसके अनुसार लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः है।

संसार की व्यवस्था का कारण भो ईश्वर नहीं है। चार्वाक के अनुसार विश्व की व्यवस्था का कारण स्वयं विश्व है। व्यवस्था विश्व का स्वभाव है। अतः ईश्वर को मानना व्यर्थ है।

ईश्वर की सत्ता में अविश्वास के कारण चार्वाक अनीश्वरवादी दर्शन कहलाता है। अतः सर्वज्ञता, दया, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापकत्व आदि ईश्वर के कल्पित गुण हैं। यदि ईश्वर दयालु होता तो भक्तों के दुःखों का अन्त करता। चार्वाक के अनुसार ईश्वर को प्रसन्न रखने का विचार बीमारी है। धर्म नशे की तरह हानिकारक है। पूजा अर्चना मन बहलाने के साधन हैं।

चार्वाक का जड़वादी दर्शन सभो प्रकार के आध्यात्मिक तथ्यों की अवहेलना करता है। वह अप्रत्यक्ष वस्तुओं का खण्डन करता है। आत्मा एक अवास्तविक वस्तु है ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। स्वर्ग नरक काल्पनिक धारणा है। इस प्रकार आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग, नरक, धर्म, पाप, पुण्य सभो का निषेध होता है और सिर्फप्रत्यक्ष जगत् ही बच जाता है। प्रत्यक्ष जगत् को एकमात्र सत्य मानने के फलस्वरूप चार्वाक जीवन के सुखों को स्वीकार करता है, अतः वह स्वतः सुखवादी है।

18.3.4 मोक्ष विषयक विचार

चार्वाक की मोक्ष की कल्पना भो विलक्षण है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। जब तक शरीर है तब तक जीव नाना प्रकार के कष्ट सहता हुआ जीवन व्यतीत करता हैं अतः इस देह के पतन के साथ हो दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध होती है। इस प्रकार मरणमेव अपवर्गः मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है। सभो दर्शनों में पुरुषार्थ चतुष्ट्य को स्वीकार किया गया है– धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। सभो ने मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। चार्वाक चारों पुरुषार्थों में से अर्थ एवं काम को स्वीकार करता है। उनके अनुसार धर्म मानव के कर्मों का लक्ष्य नहीं है। मोक्ष को भो चार्वाक स्वीकार नहीं करता। मोक्ष का अर्थ है दुःख विनाश। आत्मा ही मोक्ष को अपनाती है। चार्वाक के अनुसार आत्मा की सत्ता ही नहीं है तो मोक्ष किसे प्राप्त होगा? अतः मोक्ष का विचार स्वतः खण्डित हो जाता है।

चार्वाक का कहना है– देहच्छेदो मोक्षः। कोई भो बुद्धिमान व्यक्ति मृत्यु की कामना नहीं कर सकता है। अतः मोक्ष को पुरुषार्थ कहना निरर्थक है। चार्वाक के अनुसार–

देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।

चार्वाक मोक्ष को नहीं काम को जीव का चरम पुरुषार्थ मानता है– काम एवैकः पुरुषार्थः।

चार्वाक धर्म को नहीं मानता है। वेदानुकूल कम ही धर्म कहा जाता है लेकिन चार्वाक वेद को अस्वीकार करता है। ब्राह्मणों ने वेद की रचना की और धर्म, अधर्म, पाप कमों का अनुष्ठान निरर्थक है।

18.4 चार्वाक की विचार धारा

चार्वाक के अनुसार मांसभक्षण राक्षसवृत्ति है। मरणोत्तर कार्य जीविका के साधन मात्र हैं और कुछ नहीं। चार्वाक श्राद्धकम की मजाक बनाता है। प्रेतात्मा को तृप्त करने के लिए श्राद्ध में भोजन अर्पण किया जाता है। उसके अनुसार ऐसे व्यक्तियों के लिए भोजन अर्पण करना मूर्खता है। अगर श्राद्ध में अर्पित भोजन स्वर्ग में प्रेतात्मा की भ्ख शान्त कर सकता है। तब नीचे के कमरों में अर्पित भोजन छत पर रहने वाले व्यक्तियों को क्यों नहीं तृप्त कर सकता। चार्वाक कम सिद्धान्त का भो खण्डन करता है। कम सिद्धान्त के अनुसार शुभ कर्मों के करने से सुख तथा अशुभ कर्मों के करने से दुःख की प्राप्ति होती है। कम सिद्धान्त का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता है, अतः चार्वाक इस सिद्धान्त का निषेध करता है। चार्वाक के अनुसार यदि स्वर्ग नरक का अस्तित्व माना भो जाए तो भो वह इसी संसार में है। इसीलिए चार्वाक ने कहा है सुखमेव स्वर्गम्, दुःखमेव नरकम्।

भारतीय दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं। चार्वाक वेद विरोधी दर्शन है, अतः वह वेद की निन्दा करता है। वेद में ऐसे अनेक वाक्य हैं जो निरर्थक, द्वयर्थक, व्याघातक, अस्पष्ट तथा असंगत है।

वद की रचना ब्राह्मणों ने अपने जीवन निर्वाह के उद्देश्य से की है। उन्होंने जीविकोपार्जन के इस साधन की अत्यधिक प्रशंसा की है। चार्वाक ने उन्हें भाण्ड, निशाचर और धूर्त कहा है। अतः उनके द्वारा निर्मित वेद प्रामाणिक नहीं हो सकते।

वैदिक कमकाण्ड काल्पनिक हैं। यज्ञ विधियां अनर्गल प्रलाप हैं। वेद में परस्पर विरोधी बातों का विवेचन है। चार्वाक वेद को मानवीय रचना से भो तुच्छ मानते हैं। वे वेद को ईश्वरीय नहीं मानते।

चार्वाक सुखवादी दर्शन है। वह इन्द्रिय सुख पर अत्यधिक जोर देता है। हमारा अस्तित्व इसी शरीर और इसी जीवन तक सीमित है। अतः इस जीवन मे अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। अतः चार्वाक का कथन है–

यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

जिस प्रकार भो हो सुख के साधन देह की रक्षा का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार चार्वाक का दृष्टिकोण पूर्णतः देह सुखवादी है।देह की आयु वृद्धि के लिए घृत पीने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में भो आया है– घृतं वै आयुः। शरीर को ही आत्मा मानने के कारण से देह सुख की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सर्वदर्शनसंग्रह से चयनित अंश

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।। 12।।
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।। 13।।
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते?।। 14।।
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्।। 15।।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता।। 16।।
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते?।। 17।।
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?।। 18।।
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः?।। 19।।
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्।। 20।।
त्रयो वेदस्य कत्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जभरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।। 21।।
अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्।। 22।।

श्री माधवाचार्य कृत सर्वदर्शनसंग्रह में प्रस्तुत चार्वाकमतसार के उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ निम्नानुसार समझा जा सकता है–

बृहस्पति ने भो यह सब कहा है कि न तो स्वर्ग है, न अपवर्ग (मोक्ष) और न परलोक में रहने वाली आत्मा। वर्ण आश्रम आदि की क्रियाएं भो फल देने वाली नहीं हैं।। 12।।

अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना, भस्म लगाना–ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं जिन्हें ब्रह्मा ने बनाया।। 13।। यदि ज्योतिष्टोम– यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाएगा तो उसके स्थान पर यज्ञकर्ता अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?।। 14।। मरे हुए प्राणियों को यदि श्राद्ध से तृप्ति मिले तो बुझे हुए दीपक की शिखा को तो तेल अवश्य ही बढा देगा? अर्थात् नहीं बढा सकता।। 15।। बाहर जाने वाले लोगों के लिये रास्ते का भोजन देना व्यर्थ है, घर में किये गये श्राद्ध से ही तृप्ति मिल जानी चाहिये।। 16।। स्वर्ग में स्थित पितर यदि यहाँ दान करने से तृप्त हो जाते ह तो महल के ऊपर बैठे लोगों को तो कम से कम नीचे से ही देकर तृप्त कर देना चाहिये।। 17।। जब तक जीना है, सुख से जीना चाहिये। ऋण लेकर भो (शरीर की वृद्धि हेतु) घी पीना चाहिये क्योंकि (मरकर) भस्म बने हुए शरीर का संसार में पुनरागमन नहीं होता।। 18।। यदि (आत्मा) शरीर से निकलकर परलोक में चला जाता है तो बान्धवों के स्नेह से पसीज कर वापिस क्यों नहीं आता? ।। 19।। इसलिये ब्राह्मणों द्वारा यह जीविका का उपाय बनाया हुआ है, मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित समस्त कार्यकलाप इसके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।। 20।। वेद के कर्ता तीन हैं भाण्ड, धूर्त आर निशाचर। जभरी तुर्फरी आदि पण्डितों की वाणी समझी जाती है।। 21।। अश्वमेध के ग्राह्यविधान भो भाण्डप्रकीर्तित हैं।। 22।। तथा मांसभक्षण भो निशाचरों का कथन है। इत्यादि।

18.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. नरकः– दुःखमेव नरकः।
2. स्वर्गः–सुखमेव स्वर्गः।
3. मुक्ति–देहस्य नाशो मुक्तिः।
4. उपाधि– साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
   स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते।। साध्य के रूप में स्वीकृत वस्तु का जो व्यापक हो तथा साधन के रूप में स्वीकृत वस्तु का व्यापक न हो वही उपाधि है। अथवा साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः।
5. परमेश्वरः– लोकसिद्धो भवेद्राजा परमेश्वरः।

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रमाण कितने है? प्रत्यक्ष प्रमाण विषयक चार्वाक मत को स्पष्ट करें।
2. अनुमान के सम्बन्ध में चार्वाक मत का प्रतिपादन कीजिये।
3. उपमान के सम्बन्ध में चार्वाक के विचार स्पष्ट कीजिये।
4. शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में चार्वाक का क्या मत हैं? स्पष्ट करें।
5. चार्वाक के भूत विषयक विचारों को स्पष्ट कीजिए।
6. चार्वाक के आत्मा विषयक विचारों का प्रतिपादन कीजिये।
7. चार्वाक के ईश्वर सम्बन्धी चिन्तन की विशेषता क्या है?
8. चार्वाक की मोक्ष विषयक विचारधारा को स्पष्ट कीजिये।
9. चार्वाक की विचारधारा को प्रतिपादित कीजिये।

बोध प्रश्नों उत्तर

1. इकाई संख्या 18.2, 18.2.1 देखें।
2. इकाई 18.2.2 देखें।
3. इकाई 18.2.3 देखें।
4. इकाई 18.2.4 देखें।
5. इकाई 18.3.1 देखें।
6. इकाई 18.3.2 देखें।
7. इकाई 18.3.3 देखें।
8. इकाई 18.3.4 देखें।

9. इकाई 18.4 देखें।

18.7 सारांश

चार्वाक नास्तिक, अनीश्वरवादी, प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। चार्वाक वेद का खण्डन करता है। वेद विरोधी दर्शन होने के कारण ही चार्वाक को नास्तिक कहा जाता है। वह ईश्वर का विरोध करता है। ईश्वर की सत्ता में अविश्वास के कारण वह अनीश्वरवादी है, प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार नहीं करने से वह प्रत्यक्षवादी है और सुख अथवा काम को जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करने के कारण वह सुखवादी दर्शन कहलाता है।

चार्वाक जड़वादी हैं। उनके अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्त्व है और उसी से मन अथवा चेतना उत्पन्न होते हैं। प्रबोध चन्द्रोदय नामक रूपक में कृष्णपति मिश्र ने जड़वाद दर्शन का परिचय देते हुए लिखा है— लोकायत ही एकमात्र शास्त्र है, प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही एकमात्र तत्त्व हैं, सुखोपभोग ही मानव सत्ता का एकमात्र श्रेय है, मानव जड़ की एक उत्पत्ति मात्र है। कोई परलोक नहीं है, मृत्यु का अर्थ निर्वाण है।

18.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन का इतिहास— एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003.
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र सिन्हा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1991.
3. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1991.
4. सर्वदर्शनसंग्रह, प्रो0 उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984.
5. भारतीय दर्शन— डॉ.राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरगेट, दिल्ली, 2004.

इकाई–19

काश्मीर शैवदर्शन : सामान्य परिचय, प्रमुख विचारक एवं ग्रन्थ

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 काश्मीर शैवदर्शन : उद्भव एवं विकास
19.2.1 अति प्राचीन शैव धर्म
19.2.2 वेदों में शैव धर्म
19.2.3 पुराणों में शैव धर्म
19.2.4 वर्तमान युग में शिव
19.2.5 त्रिक दर्शन के शिव
19.3 काश्मीर शैवदर्शन के आधारभ्त ग्रन्थ
19.3.1 आगम
19.3.2 तन्त्र
19.3.3 अद्वैतपरक, द्वैताद्वैतपरक एवं अद्वैतपरक आगम
19.4 काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ
19.4.1 वसुगुप्त एवं शिवसूत्र
19.4.2 भट्टकल्लट एवं स्पन्दकारिका
19.4.3 सोमानंद एवं शिवदृष्टि
19.4.4 उत्पलादेव एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका
19.5 अभिनवगुप्त और उनके ग्रन्थ
19.5.1 अभिनवगुप्त के मौलिक ग्रन्थ
19.5.2 अभिनवगुप्त के टीका ग्रन्थ
19.6 काश्मीर शैवदर्शन के अन्य आचार्य
19.7 काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धांत
19.7.1 शुद्धाध्वा
19.7.2 अशुद्धाध्वा
19.7.3 त्रिविध मल
19.8 पारिभाषिक शब्दावली
19.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.10 सारांश
19.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

19.0 उद्देश्य

एम0 ए0 पूर्वार्द्ध संस्कृत के पाठ्यक्रम प्रश्नपत्र 03 के खण्ड से संबंधित इस इकाई में काश्मीर शैव दर्शन का उद्भव और विकास बताते हुए प्रमुख विचारक एवं ग्रन्थों का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। इस इकाई को पढने के बाद आप–

- काश्मीर शैव दर्शन के उद्भव और विकास की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख विचारकों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्राप्त कर सकेंग।

19.1 प्रस्तावना

शैवागमों पर आश्रित शिवाद्वयवाद का विकास काश्मीर में हुआ। इस शिवाद्वयवाद पर उपलब्ध साहित्य के अधिकांश रचयिता काश्मीर के निवासी होने के कारण इसे काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है। इसके सिद्धांतों के आधार पर इसे प्रत्यभिज्ञा, त्रिक दर्शन आदि अनेक नाम प्रदान किए गए हैं।

माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ में इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' नाम से प्रस्तुत किया है। इसका कारण यह है कि इस दर्शन का आधारभ्त सिद्धांत प्रत्यभिज्ञा है। इसके प्रमुख ग्रन्थ का नाम भो 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' है। काश्मीर शैव दर्शन के साहित्य में इस दर्शन को 'त्रिक मत' भो कहा गया है। शैवागमों में से सिद्धा, नामक और मालिनी इन तीन आगम ;तन्त्रद्ध को प्रधानता देने के कारण इसे त्रिकदर्शन कहा गया है। इसके अतिरिक्त शिव, शक्ति और पशु ;नरद्ध तत्त्वों की व्याख्या करने और परा, परापरा और अपरा इन देवी त्रय को अधिष्ठात्री मानने के कारण भो इसे त्रिक नाम दिया जाता रहा है।

संसार का आरम्भ विकास और लय एक ही तत्त्व 'शिव' से स्वीकार करने के कारण इसे 'शिवाद्वयवाद' कहा जाता है। प्रागैतिहासिक काल में भो प्रचलित रही शिवोपासना यद्यपि शैव धर्म का विषय है, तथापि शिवाद्वयवाद में दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर शिव का स्वरूप और उससे संसार की व्याख्या की गई है। शैव धर्म और दर्शन में अन्तर भो इस इकाई में स्पष्ट किया जाएगा। काश्मीर शैव दर्शन का उद्भव और विकास, कहाँ और किन परिस्थितियों में हुआ और इसके प्रमुख विचारक कौन थे ? उनके ग्रन्थ और उनमें विवेचित सिद्धांतों को प्रस्तुत इकाई में बताया जाएगा।

19.2 काश्मीर शैवदर्शन– उद्भव एवं विकास

वेदों के समान शैवागमों को भो अपौरूषेय और अनादि माना गया है। सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' के सातवें आह्निक में शैवशास्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अज्ञानान्धकार में भटक रहे दुःखी लोगों के प्रति करूणा से प्रेरित होकर भगवान् शिव ने श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतार लेकर महामुनि दुर्वासा को शैवशास्त्र के प्रचार का आदेश दिया। इस आदेश का पालन करने के लिए मुनि ने त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया और शेवागमों का सम्पूर्ण रहस्य उसमें संक्रमित करके, अद्वैत शैवागमों के प्रचार के लिए उसे नियुक्त किया। इस प्रकार अपने प्रथम प्रवर्तक त्र्यम्बक के नाम पर यह त्र्यम्बक शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में सोलहवां शिष्य संगमादित्य घूमते–घूमते काश्मीर गया और वहीं बस गया। उनकी शिष्य एवं सन्तान परम्परा के द्वारा इस दर्शन का विकास काश्मीर में हुआ। इसीलिए इसे 'काश्मीर शैवदर्शन' कहा जाता है। जिन शैवागमों पर शैवदर्शन आश्रित है उनमें दस आगम द्वैतप्रधान और अठारह द्वैताद्वैत प्रधान हैं। चौंसठ भरवागम अद्वैत प्रधान हैं।

19.2.1 अतिप्राचीन शैव धर्म

शैव, वैष्णव एवं शाक्त धर्म हिन्दू धर्म के ही परिवर्धित रूप हैं। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि शिव के उपासक ही शैव धर्मानुयायी हैं, विष्णु के उपासक वैष्णव और शक्ति के शाक्त कहलाते हैं। भारतीय परम्परा में शिव का स्वरूप समझने के लिए हमें पूर्व वैदिक युग के देवता पशुपति, वेदों के देवता रुद्र, उपनिषदों के देवता शिव एवं पुराणों के देवता शिवलिंग को एकाकार करना होगा एवं यह देखना होगा कि यह देवता शैवागमों में किस प्रकार परम शिव में अन्तभ्त होकर उसी के पर्याय हो गये।

19.2.2 वेदों में शैव धर्म

शिव तत्त्व का मूल स्रोत हमें किसी न किसी रूप में)ग्वेद से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में हमें विभिन्न देवी–देवताओं का उल्लेख मिलता है, जैसे– मित्र, वरूण, अग्नि, रुद्र, इन्द्र आदि जो अनन्य शक्तियों एवं गुण वैभव से युक्त हैं। इन देवों में रुद्र एक साधारण देव के रूप मे हमारे समक्ष आते हैं। वे प्रकृति की उग्र शक्तियों के प्रतीक हैं और उनसे निरन्तर यही प्रार्थना की गई है कि वह उनके पशु एवं सन्तानों की रक्षा करें! परन्तु ऋग्वेद के अन्य स्थलों में रुद्र शिव, मंगल और कल्याण प्रदान करने वाले देवता भो माने

गये! यजुर्वेद का 'शतरुद्रीय' अध्याय तो शिवाराधना के लिए प्रसिद्ध ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद में रुद्र और शिव एक देवता माने गये जो दो विभिन्न शक्तियों उग्रता और शान्ति के प्रतीक थे। उनसे प्रार्थना की गई है– ''पर्वतों पर वास करने वाले रुद्र, तुम अपने मंगलमय, शान्त एवं कल्याणकारी स्वरूप से हमारा मंगल करो''। जिससे स्पष्ट होता है कि इस काल तक आते–आते रुद्र का रूप शिव में परिणत हो गया जिसका ब्राह्मण एवं उपनिषद ग्रन्थों में और अधिक विकास हुआ। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में रुद्र और शिव को सृजन, संरक्षण और संहार करने वाले परम ब्रह्म मानकर स्तुति की गई है–

''वह निर्विकल्प होकर भो सविकल्प है। वह अणुओं में अणुतम एवं महानों में महानतम है, वह मन और वाणी की पहुंच से परे है। वह निर्गुण, निरुपाधि, निरंजन और अज्ञेय है। वह रक्त, पीत, नील, श्वेत वर्ण का नहीं है और वह ब्रह्म शिव के नाम से अभिहित है।''

19.2.3 पुराणों में शैवधर्म

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में शिव के अनेक रूप उपलब्ध हैं। महाभारत के भोष्म–पर्व में अर्जुन के द्वारा पाशुपतास्त्र मांगने और प्राप्त करने का वर्णन है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन मिलता है। शिव पुराण का तो प्रधान विषय ही शिव के स्वरूप के माहात्म्य एवं साधना का निरूपण है। वही समुद्र मंथन से उत्पन्न विष का पान कर वह देव सृष्टि की रक्षा करता हुआ नीलकंठ कहलाया और अपने माहात्म्य के कारण ही 'महादेव' की उपाधि से विभूषित हुआ।

पुराणों में शिव के जिस विशिष्ट रूप का वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वे श्मशानवासी हैं। व्याघ्रचर्म धारण करते हैं। गले में मुण्डमाला है और शरीर पर सर्प लिपटे हैं। मस्तक पर गंगा और चन्द्रमा है। हाथों में डमरू और त्रिशूल हैं। हिन्दू धर्म में प्रमुख अठारह पुराणों में से दस में शिव के स्वरूप एवं माहात्म्य का वर्णन करने वाली अनेक कथाएँ मिलती हैं। ये दस पुराण हैं शिव, स्कन्द, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह, मत्स्य, कूर्म, वामन, ब्रह्माण्ड।

19.2.4 वर्तमान युग में शिव

इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में जो रुद्र एवं शिव के अनेक रूपों से संबंधित वर्णन मिलते हैं, उनसे शैव धर्म एवं दर्शन के बीज तत्त्वों का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है। कालान्तर में वैदिक काल के भयानक रुद्र देवता में मानुषी प्रवृत्तियों, मंगलमयी एवं कल्याणमयी भावनाओं का मिश्रण होता गया, इसमें सिन्धु घाटी के धर्म का भो प्रभाव था। मोहनजोदड़ो एवं हडप्पा की खुदाई में जो योगस्थ शिव की मूर्तियाँ, शिवलिंग की मूर्तियाँ और पशुपतिनाथ की मूर्ति मिली है, उनसे यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि प्राग्वैदिक काल से ही यहाँ शिव की उपासना प्रचलित थी और यह मंगलमय देवता के रूप में पूजित थे।

यह भो स्पष्ट है कि शिव महापुराण के अनुसार तो शिव से ही समस्त देवताओं की उत्पत्ति हुई। उनके वाम अंग से ब्रह्मा और दक्षिण अंग से विष्णु की उत्पत्ति हुई। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि सभो कार्य शिव की शक्ति से ही संचालित होते हैं। पुराणों एवं महाभारत में शिव का अर्धनारीश्वर रूप मिलता है। जिसमें शिव और शक्ति दोनों समन्वित हैं। शिव सर्वोच्च चेतना है और शक्ति उस चेतना की अनुभ्ति है।

शिव इस सृष्टि का मूल स्रोत है। सृष्टि के प्रारम्भ और लय की दृष्टि से लिङ्गरूप में शिवपूजन किया जाता है। लिङ्ग के शाब्दिक अर्थ 'लीनमर्थं गमयति' सृष्टि को और 'लयम् गच्छति' संहार को स्चित करते हैं। शिवलिंग पर जल चढ़ा कर उसका पूजन करना हिन्दू जीवन पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंग है।

19.2.5 त्रिकदर्शन के शिव

पौराणिक शिव की भांति त्रिकदर्शन के शिव का कोई स्वरूप निश्चित नहीं है, क्योंकि उस अनादि, अनन्त, अव्यक्त, परम सत्ता को किसी आकार में सीमित नहीं किया जा सकता। जितना भो यह विश्व है या जितना भो हमारा ज्ञान है, वह उस परम शिव की इच्छा के विलास का लघुकण ही है, फिर उसे हम कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं। यहाँ यह विश्व शिव का ही रूप है। विश्व में जो भो कुछ जड़–चेतन है, उसमें शिव का ही प्रतिबिम्ब है। उसी से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है।

सभो छत्तीस तत्त्व शिवरूप ही हैं। शिव एक ही समय में विश्वमय व विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों में प्रकाशित होते हैं। शिव सदा चित्–आनन्द–इच्छा–ज्ञान–क्रिया– इन पांच शक्तियों से युक्त रहते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह उनके विशेष कृत्य हैं। वे स्वेच्छा से स्वयं को बन्धन में डालते हैं और फिर से स्वेच्छा से ही मुक्त हो जाते हैं। इसलिए इस दर्शन में शक्तिपात शिव का वैशिष्ट्य है, उसी से वे अनादि काल से बन्धन में पड़े जीव को मुक्त करते रहते हैं। शिव यहाँ पूर्णरूप से स्वतंत्र हैं, उसके लिए उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं। अपनी लीला के लिए ही वे सृष्टि करते हैं और स्वेच्छा से ही उसे अपने में समेट लेते हैं।

शिव के विविध नामों का निर्वचन–

शिव के नामों का पुण्य स्मरण भो मोक्ष पर्यन्त सिद्धि प्रदान करने वाला है। भवतस्त्वीश नामापि मोक्षपर्यन्तसिद्धिदम्।। (1–19 स्तवचिन्तामणि)। ये नाम उनके स्वरूप के अनुरूप ही हैं। तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में शिव के नामों की जो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, उनमें से कुछ को यहाँ दिया जा रहा है।

कुल–यह विस्मयरूप चित्रात्मक विश्व जहाँ से उदित होता है और जहाँ अस्त हो जाता है, वहीं शिव शक्ति रूप भद का असहिष्णु देव ही कुल कहलाता है। यह पूर्णसंविद् तत्त्वरूप है, यही अनुत्तर और अनाख्य तत्त्व है।

अकुल– इससे अन्य केवल प्रकाशरूप से अवभासित शिव स्वरूप अकुल तत्त्व है। यही शाश्वत द्योतमान शिव की पराशक्ति विश्व में व्याप्त है।

शिव– शिवत्व का साधक होने से वह शिव कहा जाता है। यहाँ 'अशिव' कुछ भो नहों है– ''श्रेयोमय एव शिवो नाशिव किमपि तव।।'' (तन्त्रालोक 1/104)। शिव का स्वभाव ही इस सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वत्र उल्लसित रहता है।

सदाशिव– वह अविहतगति है, इसलिए सदाशिव कहा जाता है–''अविहतगतिः स समादेवस्तस्मात्सदाशिवो गीतः।।'' (तन्त्रालोक 1–103 में उद्धृत)

प्रभ– वह स्वात्म में विश्व को विवश रखता है, कान्ति का प्रसार करता है और गतिशील रहता है, इसलिए ये प्रभ है– ''एवं वामो देवः स दीव्यति क्रीडति प्रभर्यस्मात्।।'' (1–103 तन्त्रालोक में उद्धृत)

पति– शासन, रोधन, पालन और पाचन योग से शिव सबको उपकृत करते हैं इसलिए वह पति कहलाता है। शासन का अर्थ यहाँ साधकों को शास्त्र का उपदेश करता है और उसका उद्बोधन करता है– ''शासनरोधनपालनपाचनयोगात्स सर्वमुपकुरुते। तेन पतिः...........।।'' (1/104 तन्त्रालोक)

भरव– पूरण और धारण योग से महाभरव विश्व का भरण–पोषण करता है, इसी विश्व के द्वारा वह स्वय भो धारित और पोषित होता है। विमर्श रूप और स्वरूप होने से वह संसार से भोत साधकों का सदाहितकारक है। (विश्वं बिभर्ति पूरणधारणयोगेन तेन च श्रियते। सविमर्शतया स्वरूपतश्च संसार भोरूहितकृच्च।।) 'भोरूणां हितकृत् इति भरवः' (तन्त्रालोक 1–95)

शंकर– पराद्वय प्रथारूप मे जो श्रेय करने वाला है, वही शंकर है। 'शं करोतीति शंकरः' यह शङ्कर शब्द की व्युत्पत्ति है।

'स्तवचिन्तामणि' में कहा है–

प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने।

नमोऽनन्तप्रकाशाय शंकरक्षीरसिन्धवे।। (स्तवचिन्तामणि–3)

शम्भ– 'शं भवति अस्मात् इति शम्भः तस्मैः' इस प्रकार शंकर और शम्भ की व्युत्पत्ति में विशेष भद नहीं है।

19.3 काश्मीर शैवदर्शन के आधारभूत ग्रन्थ

शैवागम एवं तन्त्र ग्रन्थों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन एवं विशाल है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने अपने 'तान्त्रिक साहित्य' नामक ग्रन्थ में सैकड़ो तान्त्रिक ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया है। भद, भदाभद और अभद की प्रधानता के आधार पर विभाजित इन आगमों को क्रमशः रौद्रागम, शैवागम और भरवागम भो कहा जाता है।

19.3.1 आगम

काश्मीर की दर्शन परम्परा का मूल स्रोत आगम है। आगम, तन्त्र, आदि पदों का प्रयोग प्रायः शास्त्र के अर्थ में किया जाता है। आगम की व्युत्पत्ति–

आगतं शिववक्त्रात् गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।

अभ्युदय और निःश्रेयस की एक साथ प्राप्ति करवाने वाले शास्त्र आगम है– आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदय निःश्रेयसोपायाः स आगमः। जिन शास्त्रों के माध्यम से लौकिक उन्नति (अभ्युदय) और पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस) के उपाय मनुष्य को ज्ञात होते हैं, उन्हें आगम कहते हैं।

19.3.2 तन्त्र

आगम के समानार्थक तन्त्र पद की व्युत्पत्ति विस्तारार्थक तन्त्रि धातु से मानी जाती है। ज्ञान का विस्तार करने वाले ग्रन्थ तन्त्र कहलाते हैं।

तनोति विपुलान्नर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
ज्ञानं च कुरूते यस्मात् तत् तन्त्रमभिधीयते।।

तन्त्र और मन्त्र ;मन्त्रो विमर्शनात्माद्ध से समन्वित अर्थों का विस्तार करते हैं और साथ ही परम ज्ञान की प्राप्ति करवाते हैं, इसलिए ये शास्त्र तन्त्र कहलाते हैं।

19.3.3 द्वैतपरक, द्वैताद्वैतपरक एवं अद्वैतपरक आगम

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छाशासनं विभोः

दस, अठारह और चौंसठ के भद से क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतपरक शैवागम माने गये हैं।

द्वैतपरक आगम हैं– कामज, योगज, चिन्त्य, मौकुट, अंशुमत, दीप्त, कारण, अजित, सूक्ष्म, सहस्र।

द्वैताद्वैतपरक आगम हैं– विजय, निश्वास, मद्गीत परमेश्वर, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंहक, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वयंभव, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित, सौरमेय।

अद्वैतपरक चौसठ आगम अथवा तन्त्र आठ भागों में विभाजित हैं और विशिष्ट नाम वाले प्रत्येक भाग में आठ तन्त्र हैं–

1. भरव तन्त्र– स्वच्छन्द, भरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त भरव, असितांग, महोच्छुष्म, कपालीश।
2. यामलतन्त्र– ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, स्वच्छन्दयामल, रूरूयामल, आथर्वण, रुद्र, वेताल।
3. मततन्त्र– रक्त, लम्पट, लक्ष्मीमत, मत, चालिका, पिंगला, उल्फुलक, विश्वाद्य।
4. मंगल तन्त्र– पिचु भरवी, तन्त्रभरवी, तत, ब्राह्मीकला, विजया, चन्द्रा, मंगला, सर्वमंगला।
5. चक्राष्टक तन्त्र– मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कालचक्र, बिन्दुचक्र, नादचक्र, गृह्यचक्र, खचक्र।
6. बहुरूप तन्त्र– अन्धक, रूरूभद, अज, मूल, वर्णभण्ठ, विडंग, मातृरोदन, ज्वालिन।
7. वागीश तन्त्र– भरवी, चित्रिका, हंसा, कादम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विघुल्लेखा, विद्युमत्।
8. शिखाष्टक तन्त्र– भरवी शिखा, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, अथर्वक, कबन्ध, शिरच्छेद।

काश्मीर शैव दर्शन के आधारभ्त आगमों में से आज अधिकांश ग्रन्थ अप्राप्त हैं, जैसे–ब्रह्मयामल, देवीयामल, दीक्षोत्तर, कुलगह्वर, गमशास्त्र, सिद्धयोगीश्वरी नामक, मालिनी, मातंग, रत्नमाला, सारशासन, सिद्धिशासन, त्रिकशासन, त्रिशिरस, योगसंचर आदि। वर्तमान में प्राप्त होने वाले उपलब्ध आगम निम्न है–

स्वच्छन्दतन्त्र, परात्रिंशिका, मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, नेत्रतन्त्र, मृगेन्द्र तन्त्र, विभानभरव। यद्यपि यह सत्य है आगमों के रूप में यह शास्त्र अनादि काल से लोक में प्रचलित है, लेकिन काश्मीर शैव दर्शन का क्रमबद्ध इतिहास वसुगुप्त से प्रारंभ होता है

19.4 काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

शैवधर्म और शैवागमों के आधार पर विकसित दर्शन की परम्परा काश्मीर में विशेष रूप से विकसित हुई है। इसी के आधार पर इस दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है। वसुगप्त से प्रारंभ करते हुए इस दर्शन की आचार्य परम्परा आधुनिक काल तक अविच्छिन्न हैं।

19.4.1 वसुगुप्त एवं शिवसूत्र

वसुगुप्त– काश्मीर शैव परम्परा में वसुगुप्त प्रथम आचार्य हैं। राजतंरगिणी में कल्हण ने भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मन का समकालीन बताया है। अवन्तिवर्मन का समय 855–883 ईसवी है। वसुगुप्त भट्टककल्लट के गुरु थे, अतः उनका समय 825 से 850 ई0 माना जाता है। वसुगुप्त का सर्वाधिक महत्त्व शिवसूत्रों के कारण है। प्रसिद्ध शैव परम्परा में जिसका उल्लेख क्षेमराज ने अपनी शिवसूत्रविमर्शिनी में किया है, जिसके अनुसार शिवसूत्र वसुगुप्त को स्वप्न में मिल थे अथवा स्वप्न में पर्वत की शिला से प्राप्त किया था। यही शिवसूत्र काश्मीर शैव दर्शन का प्रथम प्रामाणिक सूत्र ग्रन्थ है।

शिवसूत्र– 'शिवसूत्र' वसुगुप्त को स्वप्न में मिले थे अथवा महादेव पर्वत की शिला पर उत्कीर्ण मिले थे, इस मान्यता के आधार पर शिवसूत्रों को आगम के समान माना जा सकता है। यह शैव दर्शन का व्यवस्थित सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसके सतत्तर सूत्रों में क्रमशः शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय का विवेचन है।

शिवसूत्रों पर क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी नामक टीका लिखी है। भट्ट भास्कर ने शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा है। वसुगुप्त के ही शिष्य भट्टकल्लट ने शिवसूत्रों पर वृत्ति लिखी तथा क्षेमराज के शिष्य वरदराज ने अपने गुरु की विमर्शिनी के आधार पर वार्तिक की रचना की। क्षेमराज ने स्पन्दकारिका का रचयिता वसुगुप्त को ही कहा है। कल्लट की इसी उद्धृत कारिका से वसुगुप्त ही इसके रचयिता सिद्ध होते हैं या यह भो सम्भव है कि वसुगुप्त के स्पन्दतत्त्व सम्बन्धित विचारों को उनके शिष्य भट्टकल्लट ने लोक में प्रकाशित किया। उनके अन्य ग्रन्थ स्पन्दामृत, भगवद्गीता की वासवी टीका तथा सिद्धांत चन्द्रिका ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

19.4.2 भट्टकल्लट एवं स्पन्दकारिका

भट्टकल्लट (855 ई0)– भट्टकल्लट आचार्य वसुगुप्त के शिष्य थे। अवन्तिवर्मन के समकालीन होने से इनका काल लगभग नवम शताब्दी के मध्य में निश्चित सा है। विद्वानों की एक बड़ी परम्परा भट्टकल्लट को ही स्पन्दकारिका का रचयिता मानती है। उन्होंने वसुगुप्त के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए 52 कारिकाओं की रचना की।

स्पन्दकारिका– भट्टकल्लट ने अपनी स्पन्दकारिका में तीन निष्यन्दों में विभाजित बावन श्लोकों में स्पन्द तत्त्व का वर्णन किया है। शिवशक्ति सामरस्य में अहं विमर्शरूपा शक्ति स्पन्द है। शिव का यही स्पन्द जगत् के उन्मेष और निमेष का हेतु है। स्पन्द शक्ति में ज्ञातृत्व, कर्तृत्वरूप स्वातन्त्र्य निहित है।

19.4.3 सोमानन्द एवं शिवदृष्टि

सोमानन्द का काल नवम शती का उत्तरार्ध माना जाता है। सोमानन्द ने अपने ग्रन्थ में अपने पिता आनन्द को ही अपना गुरु कहा है। उनकी वंश परम्परा आचार्यों के अवतार की परम्परा है। त्रिक दर्शन के सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने व अन्य दर्शनों की आलोचना की दृष्टि से सोमानन्द के ग्रन्थ ''शिवदृष्टि'' का काश्मीर शैव दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शिवदृष्टि– 724 श्लोकों में निबद्ध यह ग्रन्थ सात आह्निकों में विभाजित है। प्रथम आह्निक में परमतत्त्व ;शिवद्ध के स्वरूप, उसके विश्वात्मक होने, शैव कारणवाद, सृष्टि प्रक्रिया आदि का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में व्याकरण दर्शन के आधारभ्त सिद्धांतों का आलोचनात्मक विवेचन है। तृतीय में शक्तिवाद के खण्डन के साथ ही शिवाद्वयवाद विरोधी 21 मतों का खण्डन भो किया गया है। चतुर्थ में शिवाद्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है; साथ ही शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का और शिवाद्वयवाद के वास्तविक एवं पूर्ण अद्वैतवाद होने का प्रतिपादन किया गया है। पंचम से सप्तम आह्निक तक उत्पलाचार्य की वृत्ति उपलब्ध नहीं

होती है। पंचम आह्निक में सर्वेश्वरवाद का, षष्ठ में दूसरे दर्शनों के परमतत्त्व का और सप्तम में मोक्ष साधक तान्त्रिक सिद्धांत एवं साधनाओं का वर्णन है।

19.4.4 उत्पलदेव एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका

उत्पलदेव– सोमानन्दके प्रमुख शिष्य उत्पलदेव का काल नवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। इन्हें उत्पलाचार्य भो कहते हैं। उत्पलाचार्य के प्रमुख तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं– ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी और शिवस्तोत्रावली। इन ग्रन्थों में भो ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका प्रमुख हैं, जिसके आधार पर 'काश्मीर शैव दर्शन' को 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' कहा जाता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका– उत्पलदेव की अक्षय कीर्ति का एकमात्र आधार उनका ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा काश्मीर शैव दर्शन का प्रतिपादक प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें दार्शनिक सिद्धांतों का गूढ़ विवेचन है। शिवदृष्टि और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की शैली में भद है, लेकिन प्रतिपाद्य एक ही है। इसीलिए अभिनवगुप्त इसे सोमानन्द की प्रज्ञा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। उत्पल स्वयं ही ग्रन्थ के अन्त में कह देते ह कि महागुरु सोमानन्द ने जो नवीन मार्ग बताया, उसी को उन्होंने प्रकट किया है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में चार अधिकार– ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार व तत्त्वसंग्रहाधिकार हैं। यह ग्रन्थ स्वयं में इतना परिपूर्ण है कि इसी के आधार पर इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन हुआ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को स्पष्ट करने के लिए स्वयं उत्पलदेव ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्ति नामक लघु टीका लिखी, जो दार्शनिक सिद्धांतों को समझने के लिए उपयोगी है। इसके अतिरिक्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति, ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी व भास्करी इस ग्रन्थ की प्रमुख टीकाए हैं। 1. अजड़प्रमातृसिद्धि, 2. ईश्वरसिद्धि, 3. सम्बन्धसिद्धि– ये तीनों ग्रन्थ समूह रूप में सिद्धित्रयी कहे जाते हैं। इन संक्षिप्त ग्रन्थों की रचना आचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सिद्धांतों को समझाने के लिए की है।

शिवदृष्टिवृत्ति– आचार्य उत्पलदेव ने शिवदृष्टि पर वृत्ति लिखी थी, जिसके कारण इस ग्रन्थ को समझना सुकर है। किन्तु दुर्भाग्य से यह वृत्ति 1–4 आह्निकों पर ही उपलब्ध है।

शिवस्तोत्रावली– इस ग्रन्थ में शिव की भक्तिपूर्ण स्तोत्र हैं। ये स्त्रोत भक्ति के साथ ही दार्शनिकता से परिपूर्ण हैं।

19.5 अभिनवगुप्त और उनके ग्रन्थ

अभिनवगुप्त (980–1020 ई)– आचार्य अभिनव गुप्त काश्मीर शैवदर्शन के कीर्तिस्तम्भ हैं। ये उत्पलाचार्य के शिष्य लक्ष्मण गुप्त के शिष्य हैं। शैव परम्परा के साथ ही काव्यशास्त्र के चालीस से अधिक ग्रन्थों की रचना आपने की है। जिनमें से कुछ उनके मौलिक ग्रन्थ हैं तो कुछ पाण्डित्यपूर्ण टीकायें हैं जो मूल ग्रन्थों के सौन्दर्य व स्वरूप को प्रकाशित करने में दीपस्वरूप ही हैं। आज उनके लगभग 25 ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है।

19.5.1 अभिनवगुप्त के मौलिक ग्रन्थ

तन्त्रालोक– तन्त्रालोक आचार्य अभिनवगुप्त की प्रतिभा का चमत्कार है। तत्कालीन तन्त्रों के सभो सिद्धांतों को समाविष्ट कर लेने वाला यह ग्रन्थ विश्वकोष स्वरूप ही है। इसमें 64 आगमों का वर्णन है। इसमें कुल 37 आह्निक हैं। इस ग्रन्थ पर जयरथ की विवेक नामक टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तन्त्रसार– जैसा नाम से ही ही स्पष्ट हैं, यह तन्त्रालोक को सार रूप में प्रस्तुत करता है।

तन्त्रवटधानिका–तन्त्रसार को भो संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ तन्त्रवटधानिका है।

इन विशाल ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य ने शैव दर्शन को समझाने के लिए छोटे लेकिन अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रतिपादन किया है।

बोधपंचदशिका– मात्र सोलह पदों में शैव दर्शन के सिद्धांतों को प्रकट करने वाला यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

परमार्थसार– विशिष्टाद्वैत वेदान्त के शेष मुनि प्रणीत ग्रन्थ को ही त्रिकदर्शन के सिद्धांतों एवं तत्त्वों के अनुरूप संशोधित एवं परिष्कृत कर आचार्य ने इस परम उपादेय ग्रन्थ की रचना

की है। इसमें कुल 105 श्लोक हैं। अत्यन्त सरल रूप में त्रिक दर्शन के सिद्धांतों की जानकारी देने के कारण यह ग्रन्थ पठनीय है।

परमार्थद्वादशिका– परमार्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ परमार्थद्वादशिका है।

परमार्थचर्चा– परमार्थ पर ही आधारित यह अत्यन्त संक्षिप्त ग्रंथ है। इसमें कुल 15 श्लोक हैं।

तन्त्रोच्चय– तन्त्रालोक की ही यह संक्षिप्त टीका है। तन्त्रसार से कुछ छोटी किन्तु तन्त्रवटधानिका से यह कुछ बड़ी है।

रहस्यपंचदशिका– काश्मीर शैवदर्शन के रहस्य को कुल पन्द्रह श्लोक में स्पष्ट करने वाला यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी वृत्ति– ऐसा माना जाता है कि यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की अत्यन्त लघु टीका है, लेकिन दुर्भाग्य से अभो तक अपूर्ण ही है।

पर्यन्तपंचाशिका– कुल 30 पृष्ठों में लिखा यह ग्रन्थ शैव आगमों की परम्परा का अनुसरण करता है। इसमें कुल–क्रम–प्रत्यभिज्ञा आगमों के सिद्धांतों का वर्णन है।

घटखर्परकुलकवृत्ति– घटखर्परकुलक कुल 20 श्लोकों की अत्यन्त सुन्दर पद्यात्मक रचना है, जिस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विवृति लिखी है, यह टीका संक्षिप्त होने पर भो अभिनवगुप्त को श्रेष्ठ काव्यमर्मज्ञ सिद्ध करती है।

स्तोत्रग्रन्थ– इन ग्रन्थों के साथ ही आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक भक्तिपूर्ण स्तोत्रों को रचना की है। इन स्तोत्रों में जहाँ शिव की हृदयस्पर्शी प्रेमपूर्ण स्तुति है, वही काश्मीरशैवदर्शन के दार्शनिक बीज भो यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं।

क्रमस्तोत्र, भरवस्तोत्र, अनुत्तराष्टिका, अनुभवनिवेदन स्तोत्र, देहस्थदेवता चक्रस्तोत्र, महोपदेशविंशतिकम् अभिनवगुप्त के प्रमुख स्तोत्र हैं।

19.5.2 अभिनवगुप्त के टीका ग्रन्थ

1. ध्वन्यालोकलोचन– अभिनवगुप्त आचार्य जैसे उच्चकोटि के दार्शनिक हैं, वैसे ही उच्चकोटि के वे साहित्यकार हैं। ध्वन्यालोक पर लिखी गई उनकी लोचन टीका, ध्वन्यालोक को समझने में लोचन स्वरूप है।
2. अभिनवभारती– भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर लिखा गया यह टीका ग्रन्थ एक प्रामणिक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने पूर्व के नाट्य–आचार्यों के मतों का यथेष्ट समावेश कर इसे अत्यन्त उपादेय बना दिया है। साहित्यशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ आचार्य की आरम्भिक रचनाएँ हैं, ऐसा माना जाता है।
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी– यह उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर लघ्वी टीका है।
4. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी– यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर लिखी गई वृहती टीका है, जो ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सिद्धांतों को अत्यन्त स्पष्ट कर देती है।
5. परात्रींशिकाविवरण– परात्रींशिका पर भरव एवं भरवी के संवाद के रूप में लिखी हुई यह टीका 30 कारिकाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।
6. भगवद्गीतार्थ संग्रह– भगवद्गीता पर संक्षिप्त रूप में लिखी यह टीका गीता को नयी दृष्टि में प्रस्तुत करती है।
7. मालिविजयवार्तिकम्– मालिनी विजय तन्त्र पर यह वार्तिक लिखा गया है। मालिनी तन्त्र के कठिन सिद्धांतों को आचार्य ने अत्यन्त सरलता व तार्किकता से समझाया है।

आचार्य अभिनवगुप्त विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। काव्यशास्त्र, दर्शन और तन्त्र साधना पर उनका अधिकार था। उनके मौलिक ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ एवं स्तोत्र ग्रन्थ उनके वैदुष्य के परिचायक हैं।

19.6 काश्मीर शैवदर्शन के अन्य आचार्य

अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों ने प्रायः टीका ग्रन्थों का ही प्रणयन किया है। ये टीकाएँ शैवागमों, तन्त्रों अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों के दार्शनिक ग्रन्थों पर लिखी गई हैं। दार्शनिक सिद्धांतों को समझने और बीच की लुप्त आगम परम्परा का ज्ञान कराने की दृष्टि से ये टीकाएँ अत्यधिक उपयोगी हैं।

क्षेमराज (ग्यारहवीं शती) – आचार्य अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमराज थे। उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित होता है। क्षेमराज ने भो अपने गुरु की भांति तन्त्र, काव्य और शैवदर्शन पर ग्रन्थ लिखे।

स्वच्छन्दोद्योत – यह क्षेमराज स्वच्छन्दतन्त्र पर टीका है।

नेत्रोद्योत– यह नेत्रतन्त्र पर टीका है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्– यह क्षेमराज का संक्षिप्त सूत्रात्मक ग्रन्थ है, जिसमें मात्र 20 सूत्रों में कश्मीर शैवदर्शन का सुन्दरता से वर्णन है। इस पर क्षेमराज ने वृत्ति भो लिखी थीं।

शिवसूत्रविमर्शिनी– शिवसूत्र पर यह क्षेमराज की प्रामाणिक टीका है।

स्तवचिन्तामणि विवृति– यह स्तवचिन्तामणि की विवृति है।

उत्पलस्तोत्रावली टीका– यह उत्पल की स्तोत्रावली की टीका है।

पराप्रवेशिका, बोधविलास– ये दोनों क्षेमराज के संक्षिप्त ग्रन्थ बालावबोधाय ही हैं।

स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय– स्पन्दकारिका के आधार पर लिखे गये क्षेमराज के ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

साम्बपंचाशिका टीका– यह उनकी साम्बपंचाशिका पर टीका है।

इसके अतिरिक्त क्रमसूत्र पर वृत्ति, एक शिवस्तोत्र, भरवानुकरण स्तोत्र, परमार्थसंग्रह विवृति, उत्पलपरमेशस्तोत्रावली पर लिखित उनकी टीका– ये ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं।

मधुराजयोगी (ग्यारहवीं शती)– केरल निवासी मधुराज योगी अभिनवगुप्त के ही शिष्यों में से एक थे, जिन्होंने शैव दर्शन पर अनेक सुन्दर पद्यों की रचना की। गुरुनाथ–परामर्श (स्वात्म परामर्श) इनका मुख्य ग्रन्थ है। हजारों स्वतंत्र पद्यों की रचना करने वाले मधुराज विद्वान व्यक्ति थे तथा उच्चकोटि के तांत्रिक व दार्शनिक थे।

योगराज (ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध)– क्षेमराज के बाद योगराज प्रधान वृत्तिकार हैं। ये क्षेमराज के शिष्य थे। इन्होंने अभिनवगुप्त के परमार्थसार पर गम्भोर और विद्वतापूर्ण विवृत्ति नामक टीका लिखी थी।

जयरथ (बारहवीं शती)– तन्त्रालोक की विवेक नामक टीका लिखने वाले आचार्य जयरथ अपने इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए लब्धप्रतिष्ठ है। तन्त्रालोक जैसे गूढ़ ग्रन्थ को जयरथ के विवेक के बिना समझ सकना असम्भव ही है। कश्मीर के राजा राजराज के समकालीन होने के कारण जयरथ का समय बारहवीं सदी में होना लगभग निश्चित ही है।

क्षितिकण्ठ (12वीं शती)– क्षितिकण्ठ द्वारा रचित महानयप्रकाश कुल सम्प्रदाय का अनुसरण करता है। यह शाक्त दर्शन पर आधारित है तथा अपभ्रंश में निबद्ध है।

साहबकौल (17 वीं शती)– औरंगजेब के समकालीन साहिबकौल ने देवी विलास नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें वेदान्त और शैव दर्शन का सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है। उनकी अन्य कृतियाँ कल्पवृक्षप्रबन्ध, सच्चिदानन्द वली तथा शिवजीव दशक हैं।

शिवोपाध्याय– आचार्य शिवोपाध्याय ने विज्ञानभरव नामक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ पर उद्योत नामक टीका लिखी। इसमें शैव व शांकर वेदान्त का समन्वय वर्णित है। श्रीविद्या उनका मौलिक ग्रन्थ है।

लल्लद या लल्लेश्वरी– आधुनिक समय में तन्त्रशास्त्र के विषय में सर्वाधिक प्रसिद्धि लल्लद या लल्लेश्वरी नामक विदुषी के विचारों को मिली। कश्मीरी भाषा में उनके वचन 'लल्लेश्वरी वाक्यानि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति मार्ग का अनुसरण करने वाली इन सिद्धयोगिनी के परमात्मविषयक विचार इस ग्रन्थ में सरल रूप में वर्णित है।

भास्करकण्ठ (सत्रहवीं शती)– भास्करकण्ठ को हम परवर्ती काल में पूर्ववर्ती रचना करने वाले आचार्य कह सकते हैं। अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पर लिखी गई उनकी वैदुष्यपूर्ण भास्करी टीका उन्हें चिरस्मृत बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

19.7 काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धांत

काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं– परम शिव अपनी अविच्छिन्न शक्ति के माध्यम से जगदाभासन करता है। परम पूर्ण महेश्वर क्रीडा के लिए सृष्टि करता है। सृष्टि, स्थिति और संहार के साथ ही यह निग्रह अथवा तिरोधान और अनुग्रह अथवा शक्तिपात भो करता है। स्वयं अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य को संकुचित करके स्वयं को ही पशु रूप में आभासित

करता है। यही जीव का बन्धन है और जब परम शिव शक्तिपात अथवा अनुग्रह के माध्यम से जीव को अपने पूर्ण स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करवा देता है तो यही मोक्ष है।

19.7.1 शुद्धाध्वा

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या– ये सृष्टि के प्रारंभिक तत्त्व हैं। इनमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं होने से इन्हें शुद्धाध्वा कहा गया है। (विस्तृत विवेचन इकाई 20.8.1 में किया जाएगा)

19.7.2 अशुद्धाध्वा

षट् कञ्चुक– माया, विद्या, कला, राग, काल व नियति एवं सांख्य सम्मत पच्चीस तत्त्व अशुद्ध होने के कारण अशुद्धाध्वा कहलाते हैं। प्रथम छः जीव के स्वरूप को संकुचित करने के कारण कञ्चुक कहलाते हैं। (विस्तृत विवरण इकाई 20.8.2 में किया जायेगा)

19.7.3 त्रिविध मल

आणव, मायीय और कार्ममल पूर्ण चैतन्य को संकुचित करके संसार के आवागमन चक्र में डाल देते हैं। स्वच्छ रूप को मलिन बनाने के कारण इन्हें मल कहा गया है। (विस्तृत विवरण इकाई 20.9.3 में किया जायेगा)

19.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. आगम– परमेश्वर के मुख से निःसृत शास्त्र जो अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति कराते हैं।
2. त्रिक दर्शन– सिद्धा, नामक व मालिनी शास्त्रों पर आश्रित शिव, शक्ति और जीव का ज्ञान करवाने वाला दर्शन।
3. कुल– पूर्ण चेतना रूप परम तत्त्व जिससे विश्व उदित होता है।
4. प्रत्यभिज्ञान– पूर्व में जाने हुए को पुनः पहचानना। प्रस्तुत दर्शन के संदर्भ में आत्मा के भूले हुए स्वरूप को पहचानना।
5. स्पन्द– शिवशक्ति सामरस्य में अहं विमर्श ;स्वयं के होने के चेतनाद्ध स्पन्द है।
6. शिव– सभी प्रमाताओं के अन्तर में विद्यमान 'अहम्' स्वरूप, सभी तत्त्वों से परे महाप्रकाशरूप जो चैतन्य है, वही शिवतत्त्व है।
7. शक्ति– मैं विश्व बनूं' यह परामर्श करने वाले चिद्रूप महेश्वर की आनन्दरूपिणी, सभी पदार्थों की जो बीजभूमि है वही (शिव की) शक्ति अवस्था है।

19.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. काश्मीर शैवदर्शन का प्रारंभिक ग्रन्थ और उसके कर्ता का नाम बताइये?
2. त्रिक शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
3. उत्पलदेव रचित ग्रन्थ के विषय में पांच पंक्तियों में बताइये?
4. अभिनवगुप्त द्वारा रचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ एवं प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ (किन्हीं तीन) का नामोल्लेख कीजिए?
5. पौराणिक और दार्शनिक शिव में कोई दो अन्तर बताइए?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 19.4.1 देखें
2. इकाई 19.1 देखें
3. इकाई 19.4.4 देखें
4. इकाई 19.5 देखें
5. इकाई 19.2.3 से 19.2.5 देखें।

19.10 सारांश

काश्मीर शैवशास्त्र का विभाग क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञा में किया जाता है, कुछ विद्वान् स्पन्द को भो एक भिन्न शाखा मानते हैं। वस्तुतः इन सभो को त्रिक दर्शन का ही भद मानना चाहिए। त्रिक का अर्थ है तीन का समूह; क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञा, मेरी दृष्टि में प्रथम त्रिक है। तान्त्रिक दर्शन में साधना और दर्शन का द्वैत नहीं है, अतः क्रम और कुल को साधना–प्रधान मानकर

प्रत्यभिज्ञा से उसका नितान्त भद करना अनुचित हैं। यह सही है कि प्रत्येक शाखा में साधना–भद, दृष्टि–भद, तथा ग्रन्थ–भद अवश्य होता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन की विकास यात्रा में तीनों मिलकर चले हैं और इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक। काश्मीर की भ्मि में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा वेदान्ती अद्वैत को ईश्वराद्वयवाद, परमाद्वैत अथवा महाद्वैत के रस में बदलने की शक्ति थी, जो सिद्धों व सूफियों की साधना एवं दर्शन में निरन्तर प्रकट होती रही है। लल्लद योगिनी भो थी और सूफी भो। लक्ष्मण जू ब्रह्मचारी आज भो काश्मीर की महान् विभ्ति हैं जो न केवल साधना अपितु शास्त्रज्ञान के लिए अत्यन्त विख्यात है। उनके गुरु योगी ईश्वरस्वरूप थे तथा उनके भो गुरु महात्मा श्रीरामजी और महात्मा श्री महताबकाक थे। राजानक महेश्वर ने शैवशास्त्र तथा योग की दीक्षा ईश्वरस्वरूप को दी थी। इस प्रकार साधना एवं दर्शन की परम्परा काश्मीर में आज तक जीवित है।

19.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी– डॉ.भवरलाल जोशी, चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968.
2. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्– अनु0 विशाल प्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, 1969.
3. भारतीय दर्शन– उमेशमिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 1970.
4. भारतीय दर्शन– बलदेव उपाध्याय (तृ0 सं0) शारदामन्दिर, बनारस 1948
5. सर्वदर्शन संग्रह' माधवाचार्य हिन्दी अनु0 व्याख्या– उमाशंकर शर्मा, प्रथम संस्करण चौखम्बा विद्याभवन, 1964.

इकाई - 20

अर्थसंग्रह
(धर्म, भावना, विधि, निषेध, अर्थवाद)

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 धर्म
20.3 भावना
    20.3.1 भावना की परिभाषा
    20.3.2 भावना के भेद
        20.3.2.1 शाब्दी भावना
        20.3.2.2 आर्थी भावना
20.4 विधि
    20.4.1 वेद
    20.4.2 विधि की परिभाषा
    20.4.3 विधि के मुख्य भेद
        20.4.3.1 प्रधान विधि
        20.4.3.2 गुण विधि
        20.4.3.3 गुणविशिष्ट विधि
    20.4..4 विधि के प्रकारान्तर से अन्य भेद
        20.4.4.1 उत्पत्ति विधि
        20.4.4.2 विनियोग विधि
        20.4.4.3 अधिकार विधि
        20.4.4.5 प्रयोग विधि
    20.4. 5 विधि का प्रकारान्तर पुनः विभाजन
        20.4. 5.1 अपूर्व विधि
        20.4. 5.2 नियम विधि
        20.4. 5.3 परिसंख्या विधि
20.5 अर्थवाद
    20.5.1 अर्थवाद की परिभाषा
    20.5.2 अर्थवाद के भेद
        20.5.2.1 विधिशेष
        20.5.2.2 निषेध शेष
    20.5.3 प्रकारान्तर से अर्थवाद के अन्यभेद
        20.5.3.1 गुणवाद

20.5.3.2अनुवाद
20.5.3.3 भूतार्थवाद
20.6 निषेध
20.7 पारिभाषिक शब्दावली
20.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.9 सारांश
20.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

20.0 उद्देश्य

हम एम० ए० पूर्वार्द्ध संस्कृत के प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन (MASA-03) के अन्तर्गत लौगाक्षीभास्कर कृत अर्थसंग्रह नामक प्रकरण ग्रन्थ का अध्ययन करने जा रहे है। हम यहाँ अर्थसंग्रह के कतिपय प्रतिपाद्य विषयों के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्यों का अवबोध कर सकेगें –

- वेद एवं उसके प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगें।
- धर्म के लक्षण एवं धर्म की उचित समीक्षा का अवबोध कर पायेंगे।
- वेदों में विद्यमान विधिवाक्यों के भेद एवं उनके भेद का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।
- वे वैदिक वाक्य जो प्रसंशापरक है, उन अर्थवाद वाक्यों की वेद में महत्ता का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।
- निषेध वाक्यों के प्रयोग की सार्थकता का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।

20.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन वैदिक काल से प्रारंभ होकर अद्यावधि निरन्तर प्रवाहमान है। भारतीय दर्शन में वेद की प्रमाणता को न मानने वाले दर्शनों को 'नास्तिक' कहा गया। इसके विपरीत वेद में आस्था रखने वाले दर्शन 'आस्तिक दर्शन' कहलाये, जिनकी संख्या ६ है। इन दर्शनों में 'मीमांसा दर्शन' का स्थान अन्यतम है। आज भी वेद, ब्राह्मणादि को समझने के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के ज्ञान हेतु 'मीमांसा' का आश्रय लिया जाता है।“अर्थसंग्रह” मीमांसा का एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें शाबरभाष्य में प्रतिपादित बहुत से विषयों का अतिसंक्षेप में निरूपण है। संक्षेप में अधिकतम विषयों को प्रस्तुत करने के कारण इस ग्रन्थ का प्रचार जिज्ञासु-सामान्य में अत्यधिक हुआ और उपयोगी होने पर भी अनेक प्रकरण ग्रन्थ इतने प्रचलितन हो सके। प्रकरण ग्रन्थ की परिभाषा इस प्रकार की गई है :-

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

(अर्थात् 'शास्त्र के एक भाग से सम्बद्ध तथा शास्त्र के (विशिष्ट) विषय के अन्दर स्थित (ग्रन्थ) को विद्वान् लोग प्रकरण नामक ग्रन्थ का भेद कहते हैं।')इस परिभाषा के अनुसार 'प्रकरण' सम्पूर्ण शास्त्र के विषय से सम्बद्ध न होकर उसके किसी विशिष्ट विषय से सम्बद्ध होना चाहिए। इसके रचनाकार लौगाक्षि भास्कर हैं। इस ग्रन्थ में धर्म,भावना,विधि आदि विषयों का मुख्यतः विवेचन हुआ है। यहाँ हम अर्थसंग्रह के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों का ज्ञान करेंगें।

20.3 भावना

20.3.1 भावना की परिभाषा

'स्वर्गकामो यजेत्' पद के 'यज्' धातु से सम्बद्ध प्रत्यय 'आख्यातत्व' और 'लिङ्गत्व' के द्वारा जिसे व्यक्त किया जाता है वह भावना ही है।

'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना।'

उत्पन्न होने वाले का भवनानुकूल, उत्पत्तिजनक जो प्रयोजक का व्यापार विशेष है वही भावना है।

भावना के उपर्युक्त लक्षण को इस लौकिक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा 'ओदनं पच'। अब देवदत्त यज्ञदत्त के उक्त वाक्य को सुनकर सोचता है कि यज्ञदत्त का अभिप्राय है—मुझ (देवदत्त) में ओदन पकाने के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न करना, ताकि मैं ओदन पकाऊँ। इस प्रकार यज्ञदत्त के उक्त वाक्य से देवदत्त में ओदन पकाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उसके अनुसार वह तण्डुलादि सामग्री लेकर ओदन पकाने की क्रिया सम्पन्न करता है। यहाँ यज्ञदत्त का उक्त 'अभिप्राय' ही 'भावना' है क्योंकि देवदत्त की 'प्रवृत्ति' के उत्पन्न होने में वही 'कारण' है । मीमांसा की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'शाब्दीभावना' कहते हैं। देवदत्त की इस प्रवृत्ति का विषय है—'ओदन-पाचन'। इस पाकात्मक क्रिया के अनुष्ठान में देवदत्त की उक्त प्रवृत्ति ही 'अनुकूल' अर्थात् कारण है। देवदत्त की इस 'प्रवृत्ति' को ही मीमांसक 'आर्थीभावना' कहते हैं।

'यजेत् स्वर्गकाम:' इस वैदिक विधिवाक्य में भावना को इस प्रकार समझा जा सकता है। 'यजेत्' पदस्थ 'त' प्रत्यय में विद्यमान 'लिङ्ग अंश' भावयिता (उत्पादयिता) है, क्योंकि प्रवर्तता 'लिङ्गत्व' में ही रहती है। 'त' प्रत्ययस्थ आख्यातत्वांश की क्रिया सामान्य का बोधक होने के कारण 'भावयिता' नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्रत्ययरहित यज् धातु से प्रेरणा का बोध न हो सकने के कारण उसे भी 'भावयिता' नहीं माना जा सकता। 'स्वर्गकाम:' पद अधिकारी पुरुष का विशेषणमात्र है, अत: वह भी 'भावयिता' नहीं हो सकता। उपर्युक्त वाक्य को सुनकर स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति में उत्पन्न 'यागानुष्ठानविषयक प्रवृत्ति' ही भविता (उत्पद्यमान) है। अत: यह प्रवृत्ति भावनाराध्य है।

20.3.2 भावना के भेद

भावना के दो भेद माने गए हैं

1. शाब्दी भावना 2. आर्थी भावना

सा च द्विधा शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

20.3.2.1 शाब्दी भावना

तत्र पुरुष प्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष शाब्दीभावना।

दोनों प्रकार की भावनाओ में भावयिता (प्रयोजक का प्रयोज्य में) का पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाला 'व्यापारविशेष' शाब्दी भावना है। वह (शाब्दी भावना) लिङ्ग अंश के द्वारा कही जाती है क्योंकि लिङ्ग अंश को सुनने पर ''यह प्रयोजक मुझे कर्मादि में प्रवृत्त करता है'' अत: यह प्रयोजक पुरुष मेरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में अनुकूल व्यापार वाला है' यह नियमत: प्रतीत होता है।

जो जिस शब्द से नियमत: प्रतीत होता है वह उस शब्द का वाच्य अर्थ होता है। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में गां शब्द का अर्थ 'गोत्व' है। वह व्यापार विशेष लौकिक वाक्य में पुरुष निष्ठ अभिप्राय विशेष है लेकिन वैदिक वाक्य पुरुष का अभाव होने के कारण लिङ्ग शब्द निष्ठ होती है इसलिये शाब्दी भावना नाम का व्यवहार किया जाता है।

शाब्दी भावना को तीन अंशों की अपेक्षा है—

1. साध्य 2. साधन 3. इतिकर्तव्यता

1. साध्य — क्या किया जाए?
2. साधन — किससे किया जाए?
3. इतिकर्तव्यता — किस प्रकार किया जाए?

20.3.2.2 आर्थी भावना

प्रयोजनेच्छाजनित क्रिया— विषय व्यापार आर्थी भावना। सा च आख्यातत्वांशेनोच्येत। आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

सरल शब्दों में 'स्वर्गादिप्रयोजनरूपफलविषयक इच्छा से उत्पन्न यागादिरूपक्रियाविषयक व्यापार 'आर्थीभावना' कहा जाता है। जैसे 'यजेत् स्वर्गकामः' वाक्य को सुनकर पुरुष में स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा होती है, परन्तु स्वर्गरूप प्रयोजन की प्राप्ति यागादिरूप क्रिया से ही सम्भव है। अतः श्रोता में स्वर्गरूपप्रयोजन को प्राप्त करने की इच्छा से यागादिरूपक्रिया के सम्पादन करने की प्रवृत्ति उत्पन्नहोती है। पुरुष की यह यागविषयकप्रवृत्ति ही उसका मानसिक व्यापार है और इसी को 'आर्थी भावना' कहते हैं।

आर्थी भावना भी साध्य, साधन और इतिकर्तव्यतारूप तीनों साधनों की अपेक्षा रखती है।

20.4 विधि

20.4.1 वेद

अपौरूषेयं वाक्यं वेदः। अर्थात् अपौरुषेय वाक्य वेद है। इन शब्दों से वेद का लक्षण बताकर विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पाँच भेदों को बताया गया है।

'स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद भेदात्पञ्चविधः।'

20.4.2 विधि की परिभाषा

'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।' अर्थात् अज्ञात अर्थ के बोधक वेदभाग को विधि कहा जाता है। विधि अन्य प्रमाणों से अप्राप्त जिस प्रकार के अर्थ का विधान करती है, उस प्रकार के सप्रयोजन अर्थ के विधान से ही वह सार्थक है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधि अन्य प्रमाण से अप्राप्त (अज्ञात) स्वर्ग प्रयोजन वाले होम का विधान करती है। 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना (प्राप्ति) करे।' यह (उपर्युक्त विधि) वाक्य का अर्थबोध है।

20.4.3 विधि के मुख्य भेद

लौगाक्षिभास्कर ने विधि के भेद-प्रभेदों और उनके विशिष्ट लक्षणों का तीन स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। उनमें से प्रथम वर्गीकरण इस प्रकार से है-

1. प्रधान विधि
2. गुण विधि
3. गुण विशिष्ट विधि

20.4.3.1 प्रधान विधि—

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। अज्ञात अर्थ की ज्ञापक विधि ही प्रधान विधि कहलाती है।

20.4.3.2 गुण विधि—

'यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विद्यते'। अर्थात् जहाँ पर (यागादि) कर्म दूसरे प्रमाण से प्राप्त हों, वहाँ पर उस कर्म को उद्दिष्ट करके गुणमात्र का विधान करती है। जैसे— 'दध्ना जुहोति'।

यहाँ पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इससे होम का विधान प्राप्त होने के कारण होम के उद्देश्य से दधिमात्र का विधान होता है। (इस प्रकार 'दध्ना जुहोति' वाक्य का 'दध्ना होमं भावयेत्' दधि के द्वारा होम का सम्पादन करे, यह अर्थबोध होता है।)

20.4.3.3 गुणविशिष्ट विधि—

यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विद्यते— यथा—सोमेन यजेतेत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्।

अर्थात् जहाँ पर प्रमाणान्तर से गुण और कर्म दोनों अप्राप्त हों, वहाँ पर विधि विशिष्ट का विधान करती है। जैसे—'सोमेन यजेत' यहाँ पर विशिष्ट याग का विधान करती है। 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा से सोमवान् याग से इष्ट(स्वर्ग) का सम्पादन करे। यह वाक्य का अर्थबोध होता है।

20.4..4 विधि के प्रकारान्तर से अन्य भेद

'विधिश्चतुर्विध:' कहकर लौगाक्षिभास्कर ने प्रकारान्तर से विधि के पुन: चार भेद बताए हैं।

उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधि: प्रयोगविधिश्चेति।

2.4.4.1 उत्पत्ति विधि

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि:। यथा अग्निहोत्रं जुहोति। कर्मस्वरूपबोधक विधि उत्पत्ति विधि कही जाती है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहोति। अर्थात् यागादि कर्मस्वरूपबोधक विधि को उत्पत्ति विधि कहते हैं। यथा अग्निहोत्रं जुहोति में द्वितीयान्त 'अग्निहोत्र' पद 'अग्निहोत्र' क्रियारूप प्रधान कर्म का बोधक है। उसी के अनुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति मानी जाती है। अत: स्पष्ट है कि अग्निहोत्र क्रिया इष्टफल की साधक है। साधन में हमेशा करणकारक अर्थात् तृतीया विभक्ति होती है। इसलिये प्रकृत विधिवाक्य में 'अग्निहोत्रं जुहोति' का भावार्थ होगा— 'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्।

20.4.4.2 विनियोग विधि

अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधि: यथा 'दध्ना जुहोतीति'

अङ्ग के प्रधान अङ्गी आदि के साथ सम्बन्ध का बोध कराने वाली विधि विनियोगविधि होती है। जैसे 'दध्ना जुहोति' यह विभक्ति द्वारा बोधित अङ्गभाव दधि का होम से सम्बन्ध निश्चित करती है। दधि से होम सम्पन्न करें।

अधिक स्पष्ट रूप से जानने के लिये ध्यान रहे कि उत्पत्तिविधि के द्वारा प्रधान क्रिया होमादि का ज्ञान पहले से ही प्राप्त रहता है, विनियोगविधि तो उस प्रधान क्रिया के साधनभूत द्रव्यादि का बोध कराती है। जैसे— 'दध्ना जुहोति'। यहाँ 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाच्य द्वारा पहले से ही अग्निहोत्रहोम मुख्य क्रिया के रूप में व्याप्त है। वही साध्य होने के कारण मुख्य(प्रधान) है अत: 'अङ्गी' है। इस अग्निहोत्रहोमरूप प्रधान के साधन अर्थात् अङ्ग के रूप में 'दध्ना जुहोति' वाक्य से 'दधि' का ज्ञान होता है। इस प्रकार 'दध्ना जुहोति' वाक्य से दधिरूप अङ्ग का अग्निहोत्रहोमरूप प्रधान (अङ्गी) के साथ अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध का बोध होता है। अत: इस सम्बन्ध के बोधक वाक्य 'दध्ना जुहोति' में विनियोगविधि हुई।

विनियोगविधि अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का बोध कराती है। इस कार्य में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये छ: प्रमाण सहायक होते हैं। ये छ: प्रमाण अङ्गत्व ज्ञापन में सहायक होते हैं।

20.4..4.3 अधिकार विधि

'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधि:' अर्थात् कर्मजन्य फल की स्वाम्यबोधक विधि 'अधिकारविधि' है। कर्मजन्यफलस्वाम्य का अर्थ है— 'कर्मजन्यफलभोक्तृता।' वह (अधिकारविधि) 'यजेत् स्वर्गकाम:' इत्यादि रूप वाली है। स्वर्ग को उद्देश्य करके याग का विधान करती हुई यह विधि स्वर्गकाम व्यक्ति की यागजन्यफलभोक्तृता का प्रतिपादन करती है। 'यस्याहिताग्ने' इत्यादि के द्वारा अग्निदाहादि निमित्त में कर्म का विधान करती हुई निमित्तवत्पुरुष को कर्मजन्यपापक्षयरूप फल का स्वामी प्रतिपादित करती है। इसी प्रकार 'अहरह: सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि के द्वारा शुचिविहित समय में जीने वाले व्यक्ति का सन्ध्योपासनजन्य पातकपरिहाररूपफल का स्वामित्व ज्ञात होता है।

कर्म के नित्यादि तीनों प्रकार के उदाहरण अधिकार विधि हेतु यहाँ दिए गए हैं। इन्हें हम एक सरल रेखाचित्र से आसानी से याद कर सकते हैं।

20.4.4.5 प्रयोग विधि

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधि: प्रयोग विधि:।

प्रयोगप्राशुभाव की बोधक विधि प्रयोग विधि कही जाती है। जैसे—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' यह विधि अङ्गों के क्रम का बोध कराती है।

20.4.5 विधि का प्रकारान्तर पुनः विभाजन

विधियों का एक अन्य विभाजन लौगाक्षिभास्कर ने मन्त्र प्रकरण में इस प्रकार दिया है—

1. अपूर्व विधि
2. नियम विधि
3. परिसंख्या विधि

20.4.5.1 अपूर्व विधि

''स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्''

प्रमाणान्तर से अप्राप्त का विधान करने वाली विधि 'अपूर्वविधि' है। उत्पत्ति विधि या प्रधान विधि भी इसी को कहते हैं। 'यजेत् स्वर्गकाम:' इसका उदाहरण है।

20.4.5.2 नियम विधि

''नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्यप्रापको विधिर्नियमविधि:''

अनेक साधनों द्वारा साध्य क्रिया के अनभिप्रेत साधन द्वारा सिद्ध होने की स्थिति आने पर अभिप्रेत साधन की प्राप्ति कराने वाली विधि नियमविधि कहलाती है, जैसे—''व्रीहीनवहन्ति''।

20.4.5.3 परिसंख्या विधि

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधि: परिसंख्या विधि:। यथा - पञ्च पञ्चनखा: भक्ष्या:।'' इति दो वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति होने पर एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि 'परिसंख्या विधि' कही जाती है। उदाहरणार्थ -''पञ्च पञ्चनखा: भक्ष्या:'' इस वाक्य में परिसंख्या विधि है। वस्तुत: परिसंख्या का अभिप्राय निषेधपरक होता है। परिसंख्या का अर्थ ही 'वर्जनबुद्धि' है।

20.5 अर्थवाद

20.5.1 अर्थवाद की परिभाषा

अर्थवाद की परिभाषा - 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवाद:।' प्रशंसा अथवा निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद विधेय पदार्थ की प्रशंसा और निषेध्य पदार्थ की निन्दा करता हुआ प्रवृत्ति और निवृत्ति में सहायक होता है अर्थात् अपने अर्थ को प्रकट करता हुआ अर्थवाद करने योग्य कार्य को करने की प्रेरणा देता है और निषेध्य कार्य को त्यागने की प्रेरणा देता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अर्थवाद उपदेशात्मक प्रवृत्ति वाला होता है किन्तु यह अपना अर्थ अभिधेयार्थ से व्यक्त न कर लक्षणार्थ से व्यक्त करता है।

यथा - 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस वाक्य का अर्थ है 'वायु सबसे अधिक तीव्रगामी देवता है' किन्तु इसका प्रयोजन वाच्यार्थ में नहीं है क्योंकि अर्थवाद वाक्य भी वेद का एक भाग है और वेदवाक्य यागादि क्रिया के प्रतिपादक होते हैं अत: यह अर्थवाद वाक्य भी परम्परया, विधेय और निषेध के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति का बोधक है।

20.5.2 अर्थवाद के भेद

'स: द्विविध: विधिशेषो निषेधशेषश्चेति'

अर्थवाद दो प्रकार का होता है— 1. विधिशेष 2. निषेधशेष। इससे पूर्व कि अर्थवाद के भेदों का कथन किया जाए प्रश्न उपस्थित होता है कि इनका नाम विधिशेष और निषेधशेष क्यों रखा गया?
इन्हें विधि और निषेध भी तो कहा जा सकता था। इसके उत्तर में महर्षि जैमिनी कहते हैं— विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्यु:। (जैमिनी सूत्र 1.27) अर्थात् विधि एवं अर्थवाद की एकवाक्यता मानी जाती है क्योंकि दोनों मिलकर एक समग्र वाक्य की रचना करते हैं। अत: 'अर्थवाद' को विधिशेष कहना उचित है और यही बात निषेधशेष पर भी लागू होती है।

20.5.2.1 विधिशेष —

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम:' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थकत्वम्।'
इन दो वाक्यों में 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम:' इत्यादि विधिविशेष के 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि(मन्त्र) की विधेयार्थ के प्रशंसाबोधक होने के कारण सार्थकता है।
'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वाक्य का अर्थ है— 'वायु सबसे अधिक तेज चलने वाला देवता है।' यह वाक्य अपने आप में अधूरा है और अपने वाच्यार्थ से इसका कोई प्रयोजन नहीं है। इस अर्थवाद वाक्य का विधिवाक्य है— 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम:।' यह विधि 'ऐश्वर्य चाहने वाले व्यक्ति को वायुदेवता को उद्देश्य करके श्वेत पशु के आलभन' करने का विधान करती है। यहाँ 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता यह अर्थवादवाक्य वायु देवता की प्रशंसा करके लक्षणा द्वारा यह बताता है कि वायु अन्य सभी देवताओं से शीघ्रगामी है, अत: वह अनुष्ठाता को ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करता है। इस प्रकार विधेय की प्रशंसा द्वारा उक्तवाक्य वायव्यपशु की आलभन क्रिया में मनुष्य को प्रवृत्त करता है। यही इसका प्रयोजन है।

20.5.2.2 निषेधशेष —

'बर्हिषि रजतं न देयं' इत्यादिनिषेधशेषस्य 'सोऽरोदीत्', यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादेर्निषेधस्य निन्दितत्वबोधकलयार्थवत्त्वम्। अर्थात्

निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाला अर्थवाद 'निषेधशेष' कहा जाता है। यह निषेधवाक्य का पूरक वाक्य ही होता है। उदाहरण के लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' एक निषेधवाक्य है। यह निषेधवाक्य यज्ञ में चाँदी की दक्षिणा का निषेध करता है। यहाँ 'रजतदान' निषेध्य है। इसकी निन्दा करने वाला 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' यह अर्थवाद वाक्य है। इस अर्थवाद वाक्य का अपने वाच्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु लक्षणा से यह बताता है कि रोने से जो आँसू गिरे वही रजत है, अतः यदि यज्ञ में उस रजत का दान किया जायेगा तो घर में रोने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा। इस प्रकार यह अर्थवाद वाक्य उक्त निषेधवाक्य का पूरक वाक्य बनता हुआ निषेध्य की निन्दा कर अनुष्ठाता को उससे विमुख करता है।

20.5.3 प्रकारान्तर से अर्थवाद के अन्यभेद

एक विभाजन में विधि एवं निषेध को आधार बनाकर अर्थवाद का विभाजन किया गया है। प्रकारान्तर से इसके तीन भेद किये गये हैं।

1. गुणवाद 2. अनुवाद 3. भूतार्थवाद

विरोध होने पर गुणवाद, ज्ञान होने पर अनुवाद और उन दोनों के अभाव होने पर भूतार्थवाद।

20.5.3.1 गुणवाद

प्रमाणान्तर विरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः। अर्थात् प्रमाणान्तर से विरोध होने पर, जो अर्थवाद होता है, उसे गुणवाद कहते हैं। जैसे—'आदित्यो यूपः' (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1.52) आदि। यूप और आदित्य के अभेद के प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा बाधित होने के कारण इस अर्थवाद के द्वारा लक्षणा से आदित्य के समान उज्ज्वलत्वरूप गुण का प्रतिपादन किया जाता है।

20.5.3.2अनुवाद

प्रत्यक्षादिनावगतार्थस्य यो बोधकस्सोऽर्थवादोऽनुवादः। अर्थात् अनुवाद में अन्य प्रमाण से अर्थवाद के अर्थ का बोध होता है।

इसका उदाहरण है—अग्निर्हिमस्य भैषजम् (तै. संहिता 7। 4। 18। 2)

यहाँ पहले से सही सिद्ध है कि अग्नि शैत्य की औषधि है। इसी पूर्णज्ञात विषय का (अग्नौ वर्तमानं हिमेन सह विरोधित्वम्) का प्रकाशन इस उदाहरण में किया गया है। अतः 'अनुवाद' कहा जाता है।

20.5.3.3 भूतार्थवाद

प्रमाणान्तरेण विरोधोऽपि नास्ति, ततः प्राप्तिरपि नास्ति ता²शार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः भूतं सिद्धयर्थः वदतीति भूतार्थवादः। तदुदाहरणम्—इन्द्र इति। अर्थात् जिसका दूसरे किसी प्रमाण से विरोध न रहा हो एवं जिसके द्वारा अवबोधित अर्थ प्रमाणान्तर से सम्भव नहीं हो उसे भूतार्थवाद कहा जाता है। यथा—

'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छद्' इन्द्र ने वृत्र का हनन करने के लिये वज्र उठा लिया।

इस प्रकार द्विधा एवं त्रिधा अर्थवाद के भेद किये गए हैं

20.6 निषेध

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।

अनुवाद— जो वाक्य पुरुष को किसी क्रिया को करने से निवृत्त कराता है उसे 'निषेध' कहते हैं। अनर्थ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से पुरुष का निवत्र्तन कराना ही निषेधवाक्यों का प्रयोजन है। जिस प्रकार विधि वाक्य प्रवर्तना को प्रतिपादित करता हुआ अपने प्रवर्तकत्व का निर्वाह करने के लिये विधीयमान यागादि में इष्ट साधनता का निश्चय कराता हुआ पुरुष को उसमें (यागादि में) प्रवृत्त

कराता है, उसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादि निषेधवाक्य भी निषेध का बोध कराता हुआ अपने निवर्तकत्व का निर्वाह करने के लिये निषेध्य कलञ्ज भक्षण में अनिष्ट का निश्चय करता हुआ पुरुष को उससे (कलञ्ज भक्षण से) निवृत्त कराता है।

नञ् का स्वभाव—

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ति' इति।

नञ् का यह स्वभाव है कि (वह) अपने साथ उच्चारित पदार्थ के विरोधी अर्थ का बोधक होता है। जैसे—'घटो नास्ति' इत्यादि में 'अस्ति' इस शब्द के साथ उच्चारित नञ् घट की सत्ता के विरोधी 'घटासत्त्व' का बोध करता है। यहाँ (न कलञ्जं भक्षयेत् आदि वाक्यों में भी) लिङ् के साथ उच्चारित वह नञ् लिङ् के अर्थ प्रवर्तना के विरोधी अर्थ निवर्तना का ही बोध करता है। क्योंकि विधि वाक्य के सुनने पर यह मुझे प्रवृत्त करता है, यह प्रतीति होती है, इसलिए निषेधवाक्य स्थल पर निवर्तना ही वाक्य का अर्थ होता है। लेकिन जब प्रत्ययार्थ का उसके (नञर्थ) साथ अन्वय में बाधक होता है तब धात्वर्थ का ही अन्वय होता है।

20.7 पारिभाषिक शब्दावली

वेद – अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते है।

गुण – वह द्रव्य जो यज्ञ में काम आता है उसे गुण कहते है। यथा दध्ना जुहोति यहाँ दधि गुण है।

कर्म – मीमांसा में याग ही कर्म है। यथा दध्ना जुहोति में यज्ञ कर्म है।

याग – देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः। देवता को उद्देश्य कर जिसमें द्रव्य का त्याग करते है उसे याद कहा जाता है।

धर्म – वेद द्वारा प्रतिपादित, प्रयोजनवान, तथा मांगलिक अर्थ को धर्म कहते है।

भावना- प्रयोजक के कार्य होने के अनुकूल व्यापार को भावना कहते है।

विधि –अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को विधि कहते है। -

अर्थवाद - प्रशंसा व निन्दापरक वेदवाक्य को अर्थवाद कहा जाता है।

निषेध- निवृत्ति कराने वाला वेदवाक्य निषेध कहलाता है।

20.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विधि का भेद है
   (अ) विनियोग (ब) निषेध
   (स) अर्थवाद (द) भावना
2. 'प्राशस्त्यनिन्दापरक वाक्यमार्थवादः' ये परिभाषा है—
   (अ) नामधेय (ब) निषेध
   (स) अर्थवाद (द) विधि

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. विधि की परिभाषा बताते हुए उसके प्रमुख भेदों का नामोल्लेख कीजिये।
2. अर्थवाद का अर्थ समझाइये।
3. आर्थी भावना को समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अर्थवाद को विस्तार से समझाइये।
2. विधि को विस्तारपूर्वक समझाइये।

अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. अ 2. स

लघूत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. देखें 7.2 पर 2. देखें 7.3 पर

3. देखें 7.5 पर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

विद्यार्थी स्वयं खोजें।

20.9 सारांश

इस इकाई में सर्वप्रथम हमने धर्म क्या है? धर्म की व्याख्या मीमांसा किस रूप में करता है यह जाना। इसके बाद भावना की परिभाषा तथा उसके भेदद्वय शाब्दी और आर्थी का अवबोध हुआ।विधि के प्रकारों - प्रधानविधि, गुणविधि व विशिष्टविधि, प्रकारान्तर से उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि व प्रयोगविधि, प्रकारान्तर से अपूर्वविधि, नियम विधि व परिसंख्या विधि को जाना। अर्थवाद की परिभाषा जानते हुए हमने उसके भेद विधिशेष एवं निषेधशेष को पढ़ा तथा प्रकारान्तर से गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद को भी जाना। फिर हमने निषेध क्या है एवं नञ् का स्वभाव क्या है इस पर चर्चा की। इस प्रकार अर्थसंग्रह प्रमुख प्रतिपाद्यों का ज्ञान हमने प्राप्त किया ।

20.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अर्थसंग्रह(मीमांसा संग्रह कौमुदी व्याख्या सहित) रामेश्वर शिवयोगी भिक्षु,चौखम्भा संस्कृत सीरीज,वाराणसी, 1982.
2. अर्थसंग्रह (अर्थालोक टीका सहित), लेखक पं० पट्टाभिराम शास्त्री, सम्पादक वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, दिल्ली, 1982.
3. अर्थसंग्रह, कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012.
4. A.B., Gajendragadkar, the Arthsamgrah, Motilal banarasidas, New Delhi, 2007.
5. Datta, Pramod Kumar, Artsangrah: A Critical Study With Special Refernce to its Techinical Terms, Sanskrit Pustak Bhandar, Kolkata, 2006.

इकाई - 21

भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 पंचख्याति
21.3 ख्यातिवाद के अन्य प्रमुख सिद्धान्त
21.4 आत्मख्याति
21.5 असत्ख्याति
21.6 अख्याति
21.7 अन्यथाख्याति
21.8 विपरीतख्याति
21.9 सदसत्ख्याति
21.10 सत्ख्याति
21.11 अनिर्वचनीय ख्याति
21.12 ख्यातिवाद की समीक्षा
21.13 पारिभाषिक शब्दावली
21.14 अभ्यासार्थ प्रश्न
21.15 सारांश
21.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

21.0 उद्देश्य

हम एम० ए० संस्कृत पूर्वार्द्ध के प्रश्नपत्र भारतीय दर्शन (MASA-03) के अन्तर्गत इकाई सं० 21 भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद का अध्ययन करने जा रहे है। उक्त इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान कर पायेंगें –

- भ्रम किसे कहते है ? भ्रम को ख्याति क्यों कहा जाता है ? इस तथ्य का ज्ञान।
- ख्याति या भ्रम के प्रमुख पाँच सिद्धान्त जिन्हे पंचख्याति कहते है, का ज्ञान।
- उक्त पंचख्याति के अतिरिक्त अन्यान्य ख्याति के सिद्धान्तों का ज्ञान।
- प्रत्येक ख्याति के सिद्धान्त की समीक्षा का ज्ञान।
- समस्त ख्याति के सिद्धान्तों श्रेष्ठ अनिर्वचनीयख्याति का ज्ञान।

21.1 प्रस्तावना

भारतीय मनीषियों ने ज्ञान एवं अज्ञान दोनों विषयों पर गहन चिन्तन किया है। इसी को क्रमशः प्रमा (यथार्थज्ञान) एवं अप्रमा (अथार्थज्ञान) कहते है । ख्याति शब्द से आशय है ज्ञान। ख्याति शब्द यद्यपि यथार्थज्ञान के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है परन्तु कालान्तर में यह शब्द भ्रम के रूप में प्रतिष्ठित हो

गया। अतः ख्यातिवाद से आशय भ्रम के सिद्धान्त से है। भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न ख्याति (भ्रम) के सिद्धान्त है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साथ साथ भ्रम का भी निरुपण किया है। किसी सम्प्रदाय के तात्विक स्वरूप का ज्ञान उसके ख्याति के सिद्धान्त के विवेचन से आसानी हो जाता है। यहाँ हम भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के ख्याति सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन करेगें।

21.2 पंचख्याति

भारतीय दर्शन में यद्यपि ख्याति(भ्रम) के अनेक सिद्धान्त है तथापि पाँच ख्याति के सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। अद्वैतवेदान्त के प्राचीन ग्रन्थों में अनिर्वचनीय ख्याति सहित पञ्चख्याति का उल्लेख है। ये पाँच ख्याति के सिद्धान्त निम्नलिखित है| यहाँ इन सिद्धान्तों का परिचय मात्र करवाता रहा है। इनका विस्तृत वर्णन अग्रिम इकाई में किया जाएगा। उन ख्यातियों के नाम हैं-

"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्ख्याति पञ्चकम्" ॥ [1]

1. **आत्मख्याति-** यह विज्ञानवादी बौद्धों का मत है। आत्मा शब्द का यहाँ पर विज्ञान अर्थ है। बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। हम जो कुछ भी देखते हैं वे चित्तमात्र है, बाह्यरूप में असत् है, विज्ञानवादी इसलिये आत्मख्यातिवादी है।
2. **असत्ख्याति-** यह शून्यवादी बौद्धों का मत है। असत् से आशय है सत्ता का अभाव। शून्यवादी के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[2]क्यो कि एकमात्र सत् तत्त्व शुन्य है वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है – १.न सत्, २.न असत्, ३.न उभयात्मक (सत् एवं असत् दोनों), ४.न अनुभयात्मक (न सत् एवं न असत् दोनों)[3]। अतः यहाँ जो भ्रम है वह असत् है इसलिए इस ख्याति को असत्ख्याति कहते है।
3. **अख्याति-** यह प्रभाकर मीमांसको का मत है ।यहाँ अख्याति को भ्रम कहा गया है। कथन का अभिप्राय यह है किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में भासित होने पर दोनों के मध्य जो भेद है , उसकी ख्याति ना हो पाना। इसलिए इस सिद्धान्त को अख्याति कहते है। जैसे शुक्ति जब रजत के रूप में भासित होती है तो दोनो के मध्य (प्रत्यक्ष – शुक्ति तथा स्मृति – रजत) भेद का ज्ञान न हो पाता तभी तो भ्रम होता है।
4. **अन्यथाख्याति-** यह न्याय का मत है नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है।शुक्ति का अन्यथा अर्थात् अन्य रूप में रजत में भासित होना। उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है।|
5. **अनिर्वचनीयख्याति-** यह अद्वैतवेदान्त का मत है । यह सिद्धान्त सभी ख्याति के सिद्धान्तों में सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित है। इस सिद्धान्त के अनुसार न तो भ्रम असत् है क्यो किं असत्

---

[1] ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (रत्नप्रभा टीका सहित),अनु० यतिवरभोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथमभाग, २००४, पृ० ३६.

[2] सर्वदर्शनसङ्ग्रहः (बौद्धदर्शन) ,व्या० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा प्रतिष्ठान नई दिल्ली, २००६, पृ. ६३.

[3] न सन्नासन् न सदसदन् न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिको विदुः ॥ माध्यमिककारिका १.७ ,सम्पा०,प्रो पी० एल० वैद्य, मिथिला संस्कृतविद्यापीठ, बोध्द संस्कृतग्रन्थावली सं १०, दरभंगा, १९६०.

वस्तु का वस्तु का कभी भ्रम नहीं होता जैसे आकाशपुष्प या वन्ध्या का पुत्र। ना ही भ्रम सत् है क्यों कि जब रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। उसके उपरान्त जब हम रस्सी का स्पर्श कर लेते है तो सर्प का भ्रम समाप्त हो जाता है। इस प्रकार भ्रम उत्तरज्ञान से बाधित होता है अतः सत् भी नहीं। भ्रम सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है। अतः इस सिद्धान्त को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते है।

21.3 ख्यातिवाद के अन्य प्रमुख सिद्धान्त

यद्यपि पंचख्याति में प्रमुख ख्याति के सिद्धान्त सम्मिल्लित हो जाते है तथापि अन्य कई विद्वानों ने पंचख्याति के साथ-साथ अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्ममुनि ने इष्टसिद्धि में संक्षेपतः ख्याति तीन ही प्रकार की बतलाई है –

1) सत्ख्याति
2) असत्ख्याति
3) सदसदनिर्वचनीय ख्याति

भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में अष्टख्यातियों का उल्लेख किया है-

1. अख्याति- निरालम्बन ख्याति ही अख्याति है (माध्यमिक)
2. असत्ख्याति- असदवलम्बन ख्याति असत्ख्याति है (माध्यमिक एकदेशी)।
3. प्रसिद्धार्थख्याति- (चार्वाक)
4. अलौकिकार्थख्याति- (भट्टोम्बेक प्रमुख)
5. स्मृतिविप्रमोषख्याति- (प्राभाकर)
6. आत्मख्याति- (सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार)
7. सदसत्वाद्यनिर्वचनीय ख्याति- (अद्वैतवेदान्ती)
8. विपरीतख्याति- (न्याय)।[4]

परवर्ती काल में रामानुज सम्प्रदाय का सत्ख्यातिवाद, माध्व का असत्ख्यातिवाद (इसे साधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद कहा गया है) प्रसिद्ध हुये हैं। साङ्ख्यदर्शन द्वारा सदसत्ख्याति स्वीकृत है।

भासर्वज्ञ ने निरालम्बन अख्याति की चर्चा की है जो कि अन्यत्र चर्चित नहीं है। भासर्वज्ञ ने उक्त मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहा है कि मरुस्थल में जल-ज्ञान में जल की सत्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जल का ग्रहण होना चाहिये। मरीचि भी जल का रूप धारण नहीं करती, क्योंकि वे उससे भिन्न है। अतः निरालम्बन ही मरुस्थल जल है। इसी प्रकार चार्वाक के प्रसिद्धार्थ ख्याति में भ्रम माना ही नहीं गया, क्योंकि उनके अनुसार भ्रमस्थल में भी तत्कालीन प्रमाणसिद्ध वस्तु की ही प्रतीति होती है। इन दोनों ख्यातिवादों के खण्डन में उन्होंने युक्तियां भी दी हैं।[5] इस प्रकार नव ख्यातिवादों की भ्रमस्थल में चर्चा मिलती है, परन्तु इनमें से अद्वैतग्रन्थों में पञ्चख्यातियों की ही अधिक चर्चा है परन्तु यहाँ पञ्चख्याति के अतिरिक्त अन्यथाख्याति – न्यायदर्शनाभिमत, विपरीतख्याति- कुमारिल भट्टाभिमत, सदसद्ख्याति – सांख्याभिमत तथा सत्ख्याति - रामानुजाभिमत की भी चर्चा आधारिक पृष्ठभूमि तथा उपादेयता को ध्यान में रखकर की जा रही है|

---

[4] न्यायभूषणम् (टिप्पणी सहित), षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, १९६८, पृ. २६,

[5] न्यायभूषण पृ. २६, २७

21.4 आत्मख्याति

यह विज्ञानादी बौद्धों का मत है। यद्यपि विज्ञानवादी आत्मतत्त्व को न मानकर विज्ञान नामक तत्त्व को मानते है अतः इस मत को विज्ञानख्याति भी कहते है। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यपदार्थ शशश्रृंग और खपुष्प के समान अत्यन्त असत् है। विज्ञान ही बाह्य पदार्थों का आकार लेकर बहिर्वत प्रतीत होते है। शुक्ति-रजत भ्रम में रजत नामक बाह्यपदार्थ नहीं है, अपितु रजताकार विज्ञान रजतपदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। रजताकारविज्ञान को रजत नामक बाह्य पदार्थ समझना भ्रम है तथा उसे रजताकार विज्ञान समझना सम्यक् ज्ञान है। लौकिक पदार्थ भी समष्टिगत भ्रम में ही आते है। रज्जु को रज्जु नामक पदार्थ के रूप में देखना भ्रम है अपितु उसे रज्जु का आकार लेने वाले विज्ञान के रूप में देखना सम्यक ज्ञान है। विज्ञानवाद के अनुसार अर्थाकार विज्ञानों पर पदार्थों का आरोप कर दिया जाता है तथा आरोपित पदार्थ नितान्त असत् है। विज्ञान ही सत् है। विज्ञानवादी के अतिरिक्त बौद्ध, सौत्रान्तिक और वैभाषिक भी आत्मख्यातिवादी हैं, किन्तु सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्यपदार्थास्तित्ववादी हैं, वैभाषिक मत में बाह्यपदार्थ प्रत्यक्ष हैं, सौत्रन्तिकमत में अनुमेय, इसलिये इन दोनों के मत में भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोप्य वस्तु ज्ञानाकार है।[6] न्यायमकरन्द ग्रन्थ के प्रणेता आनन्दबोध विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुये आनन्दबोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं।[7] विवरणप्रमेय नामक ग्रन्थ के प्रणेता विद्यारण्यमुनि ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी के दृष्टिकोण को कि 'शुक्तिरजत विज्ञान रूप है', अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान इस प्रकार है- विमतरजत बुद्धि का रूप है, क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है, जैसा कि बुद्धि'।[8] जिस प्रकार बुद्धि के प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पडती, क्योंकि बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शुक्तिरजत भी बुद्धिरूप होने के कारण इन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष होता है, अतः वह बुद्धि या विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वदर्शन नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रणेता माधवाचार्य शङ्का करते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय इन चार प्रकार के हेतुओं से ही चित्त-चैत्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें से सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते हैं। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन में हेतु है, न कि उत्पन्न करने में। इसी प्रकार समनन्तर प्रत्यय पूर्वज्ञान से भी रजत उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय घटादि के ज्ञान, उससे विजातीय रजतभ्रम उत्पद्ध करने में बाधक हो जायेंगे और आलम्बन प्रत्यय से भी शुक्तिरजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते,क्योंकि विज्ञानवादी बाह्यवस्तु मानते नहीं, फिर विज्ञान को रजत का आकार कहां से प्राप्त होगा?[9] इसका समाधान देते हुये विज्ञानवादी का कहना है कि अनादि संस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजताकार हो सकेगा।[10] रजत संस्कार एवं रजतभ्रम के बीच में घटादि के ज्ञान व्यवधान उत्पन्न करेंगे, इस प्रकार व्यवहित होने पर रजत संस्कार रजतभ्रम को उत्पन्न

---

6 वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल- ,सम्पा० कन्हैया लाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली,पृ, २६।

7 केचित्तु ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासो विभ्रम इत्याहुः। न्यायमकरन्द- पृ. ९९ .

8 विवरणप्रमेयसंग्रह (विद्यारण्यमुनि,), सम्पा० कृष्ण पन्त शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९९६, पृ. १२३.

9 पूर्ववत्- १२३, १२४ .

10 संस्कारसामर्थ्यादिति ब्रूमः, पूर्ववत्,पृ. १२४ .

नहीं कर सकेंगे? इसका समाधान है कि जिस प्रकार ब्रीहि का बीज अङ्कुरित होकर पुनः बीज को उत्पन्न करता है, बीज में अङ्कुर का व्यवधान उसमें बाधक नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहित होने पर भी सजातीय संस्कार सजातीय ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ है। इस अनादि वासना द्वारा उपस्थापित रजत ज्ञानरूप ही होता है, भ्रान्ति से बाहर का जैसा प्रतीत होता है।[11] इस प्रकार विज्ञानवादीयों ने अपने आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत किया है।

21.5 असत्ख्याति

शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का सिद्धान्त असत्ख्याति कहलाता है । असत् का असत् के रूप में भासित होने के कारण यह सिद्धान्त असत्ख्यातिवाद कहलाता है । जैसे रस्सी जब सर्प के रूप में भासित होती है तो असत् रस्सी ही असत् सर्प के रूप भासित होती है । यहाँ रस्सी इसलिए असत् है क्यों कि शून्यवादी माध्यमिक "दृश्य प्रपञ्च को एवं विज्ञान" को असत् कहते हैं। शून्यवादी के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[12]क्यो कि एकमात्र सत् तत्त्व शुन्य है वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है – १.न सत्, २.न असत्, ३.न उभयात्मक (सत् एवं असत् दोनों), ४.न अनुभयात्मक (न सत् एवं न असत् दोनों)[13] । भ्रमस्थल में भी भ्रमाधिष्ठान शुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत भी असत् है। शुक्ति रजत भ्रम होने से अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति होती है। न्यायमकरन्द द्वारा कहा गया है कि – शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असत् अर्थ की प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।[14] न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदान्त के दर्शनग्रन्थों में माध्यमिक को शून्य या असत्ख्यातिवादी के रूप में प्रस्तुत किया है। नागार्जुन ने शून्य को माध्यमिक कारिका में कहीं कहीं आलोकदृश्य के समान ही निःस्वभाव कहा है –

आकाशं शशश्रृंग च बन्ध्यायाः पुत्र एव च ।
असन्तश्चाभिव्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पनम्। ।[15]

आचार्य शङ्कर के 'अन्यत्र अन्य धर्माध्यास' का यहां पर अर्थ है- अन्यत्र=असत् शुक्तौ अन्यधर्मस्य=असत् रजतस्य धर्मस्य अध्यासः। आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनों को असत् मानने पर असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि माध्यमिकों ने शुक्तिरजत एवं शुक्ति दोनों को असत् कहा है। सबसे अधिक कठिनाई इस सिद्धान्त में भी विज्ञानवाद के समान ही भ्रम और व्यवहार में अन्तर का न होना है । घटज्ञान और शुक्तिरजतज्ञान में एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी नहीं रहेगी,इसलिये भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान कर नहीं दी जा सकती।[16] अतः यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता।

---

11 अनादिवासनाप्रापितं रजतं बुद्धिरूपमेव सद् भ्रान्त्या बहिर्वदवभासते। विवरणप्रमेय सङ्ग्रह पृ. १२४ .

12 सर्वदर्शनसङ्ग्रहः (बौद्धदर्शन) ,व्या० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा प्रतिष्ठान नई दिल्ली, २००६, पृ. ६३.

13 न सन्नासन् न सदसदन् न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिको विदुः ॥ माध्यमिककारिका १.७ ,सम्पा०,प्रो पी० एल० वैद्य, मिथिला संस्कृतविद्यापीठ, बोध्द संस्कृतग्रन्थावली सं १०, दरभंगा, १९६०.

14 **"अन्य तु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती सांवदेवविभ्रम इत्याचक्षते"**,न्यायमकरन्द, सम्पा० एन० एस० स्वामी, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, १९०७, पृ. १०२।

15 माध्यमिकशास्त्र, पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १६०७, पृ०१६६ .

16 इष्टसिद्धि भूमिका, पृ. २६।

21.6 अख्याति

मीमांसक प्रभाकर गुरु के मत में ख्यातिवाद को अख्याति के नाम से जाना जाता है। अख्याति मीमांसक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्जिका में प्रभाकर मत के ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि सभी ज्ञान यथार्थ है।[17] मीमांसक प्रभाकर गुरु कट्टर वस्तुवादी है । वे स्पष्ठ स्वीकार करते है अयथार्थ या मिथ्याज्ञान के रूप में भ्रम सम्भव ही नहीं है । जिसे हम भ्रम कहते है वह आशिंक या अपूर्ण ज्ञान है । सारा ज्ञान यथार्थ होता है किन्तु सारा ज्ञान पूर्ण नहीं होता । अतः प्रमा तथा भ्रम का भेद तात्विक नहीं अपितु मात्रा भेद है । प्रमा समग्र ज्ञान एवं भ्रम आंशिक ज्ञान है ।शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्जिका में प्रभाकर मत के ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि सभी ज्ञान यथार्थ है।[18] अतः इस सिद्धान्त के अनुसार "इदं रजतम्" इसके पश्चात् जो "नेदं रजतम्" ज्ञान होता है यहां पर भी न तो "इदम्" तत्त्व का निषेध होता , न ही रजतम् का निषेध होता है। अपितु रजत के साथ इदं के असम्बन्ध के ज्ञान न होने के कारण या दोनो मध्य भेद ज्ञान न हो पाने के कारण "यह रजत है", इस प्रकार शब्दादि प्रयोग रूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[19] भ्रम के प्राभाकरसंमत स्वरूप का विवेचन करते हुये आचार्य शङ्कर ने कहा है -"यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति"।[20] अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है,उन दोनों वस्तुओं में जो परस्पर भेद है, उसका अग्रहण ही भ्रम है। भेद-अग्रहण के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। दोनों वस्तुओं के भेद को भूलकर ही 'इदं रजतम्' दोनों को मिलाकर भाषा व्यवहार करते हैं, यही भ्रम है।[21] "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल पर पहले चक्षु से शुक्ति संयोग होता है परन्तु नेत्रगत दोष के कारण के कारण शुक्तिकात्व विशेष से रहित केवल शुक्ति रुप द्रव्य या सामान्य ज्ञान का ही ग्रहण होता है इसके बाद चाकचिक्य के सादृश्य के कारण रजत का स्मरण होता है यहाँ मनोदोष या स्मृति दोष के कारण केवल रजत के गुण(चाकचिक्य या चमकीलापन) का ग्रहण होता है फिर इनके मध्य भेद का ज्ञान न हो पाने के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होकर वह "इदं रजतम्" इस प्रकार का व्यव्हार होता है । इस प्रकार यहाँ दो प्रकार का ज्ञान है १.प्रत्यक्ष या अनुभव (इदं) तथा २. स्मृत ज्ञान (रजतम्) दोनो यथार्थ है[22] । भ्रम दोनो मध्य "भेदाग्रह" है ।भ्रमवादी जो शुक्ति में रजत का प्रयोग मानते हैं, वह समीचीन नहीं हैं क्योंकि उक्त शुक्ति - रजत भ्रमस्थल में रजत का आलम्बन शुक्ति का नहीं हो सकता। ऐसा होने पर स्वानुभवविरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं। उनसे प्राभाकरों का प्रश्न कि "आलम्बन से भ्रमवादियों का क्या अभिप्राय है"? क्या जिसकी सत्ता है वह वस्तु ज्ञान का

---

[17] यथार्थ सर्वमेवेहविज्ञानम्। - प्रकरण भूमिका पञ्जिका ४१, उद्धृत् – शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, ले० स्वामी अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३ पृ० ४४.

[18] यथार्थ सर्वमेवेहविज्ञानम्। - प्रकरण भूमिका पञ्जिका ४१, उद्धृत् – शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, ले० स्वामी अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३ पृ० ४४.

[19] "न चैष रजतस्य निषेधः नदान्तायाः किन्तु विवेकाग्रहप्रसंजितस्य रजतमिति रजतव्यवहारस्य"।– भामती पृ. २६ ।

[20] ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य- पृ. १८-२७ ।

[21] भामती – पृ.२७ ।

[22] "तथा च रजतमिति द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे" । भामती पृ० २७.

" रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते विज्ञाने" । प्रकरण पञ्चिका ५, पृ० ४३.

आलम्बन है। ऐसा कहने पर अतिप्रसङ्ग दोष होगा। संसार में जितनी सत् वस्तु जहां भी है वे समस्त वस्तुऐं किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी। जैसे शुक्ति रजत भ्रम स्थल में घट या पट आलम्बन हो जाएगा क्योंकि सत्ता तो उनकी भी है । यदि भ्रमवादी इदं (शुक्ति) को कारणत्वेन रजत ज्ञान का विषय मानते हैं तो भी समीचीन नहीं है। ज्ञान का कारण इन्द्रियां भी हो सकती हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रियां भी कारण है। अतः इद्रियां भी रजत ज्ञान का विषय क्यों न हो। यदि यह कहा जाय कि भासकत्व ही ज्ञान का आलम्बन का कारण है। तब भी शुक्ति रजत के ज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती। इदं रजतम् में शुक्ति की प्रतीति नहीं अपितु रजत भासित होता है । अर्थात् शुक्ति भासती नहीं हैं, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[23] उक्त भ्रमस्थल में "रजत" इस प्रकार का अनुभव होता है। शुक्ति ऐसा नहीं होता। अतः अनुभव का विरोध होगा। माधवाचार्य भी अख्यातिवाद के दो ज्ञान मानने खण्डन करते हैं । माधवाचार्य ने कहा है कि भ्रान्त व्यक्ति इदं के ज्ञान के बाद उसे रजत मानकर उठाने के लिए प्रवृत्त होता है यदि इदं के रूप में उसे रजत का ज्ञान न होकर केवल शुक्ति का ही ज्ञान होता तो वह कभी उसे उठाने के लिए प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि रजत ही उसका अभीष्ट है शुक्ति न साधन है न ही साध्य[24] ।

21.7 अन्यथाख्याति

भ्रम को न्यायदर्शन में विपर्यय कहा है, विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है- **"मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः"।**[25] अर्थात् विपरीतार्थ निश्चय या जो जहां पर नहीं वहां उसको समझना ही विपर्यय है। नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है।शुक्ति का अन्यथा अर्थात् अन्य रूप में रजत में भासित होना । उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है। आचार्य शङ्कर ने नैयायिकों के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुये अध्यासभाष्य में कहा है- "यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते"।[26] भामतीकार ने इसका अर्थ करते हुये कहा है "यत्र अर्थात् जहां पर शुक्ति आधार में, जिसका रजत का अध्यास होता है, उसी शुक्ति के विपरीत धर्मकल्पना करना ही अध्यास है।[27] न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजतज्ञान होता है, वहाँ न केवलशुक्तिज्ञान नहीं, और न केवल रजतज्ञान ही। यहां पर इन दोनों से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। "इदं रजतम्" में इस ज्ञान का

---

23 न हि निर्भासस्य शुक्तिकालन्बनं युक्तम् अनुभवविरोधात् न खलु सत्तामात्रेणावलम्बनम् अति प्रसंगात्........ इत्यादि।– भामती, पृ. २३ ।

24 सर्वदर्शनसंग्रह, व्या० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी,२००५, पृ० ८२४.

25 न्यायभूषण, पृ. २५, उद्धृत - शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, ले०स्वामी अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३ पृ० ४९.

26 वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम का यह लक्षण न्याय के अनुसार है। भाष्यरत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द एवं न्यायनिर्णयकार आनन्द गिरि के अनुसार उक्त भ्रम का लक्षण शून्यवादी बौद्धों के अनुसार है। गोविन्दानन्द एवं आनन्द गिरि ने विपरीत शब्द का अर्थ सत्विपरीत किया है। वाचस्पति ने 'विपरीत शब्द का अर्थ अन्यवस्तु का धर्म किया है। भाष्यरत्न प्रभा-भामती-न्याय निर्णय पृ.२२,२३ । सभी मतों में कुछ अंशों में समानता ही उक्त मतभेद का कारण है। 'विपरीत' शब्द का अर्थ विरुद्ध करने पर रत्नप्रभाकार का मत समीचीन लगने लगता है, किन्तु विपरीत शब्द का प्रयोग अन्यथाख्याति के लिये प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में विपरीतख्याति का प्रयोग किया है।– पृ. ५२, अतः आचार्य के उक्त लक्षण की व्याख्या में हमने वाचस्पति का ही अनुसरण किया है।

27 यत्रशुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पनां रजत्वधर्मकल्पनामितियोजना- भामती- ३० ।

विशेष्य है “इदमंश”, और विशेषण “रजतम्” है। इसी को न्यायमत में भ्रमज्ञान कहा जाता है। एवं प्रकारक भ्रमज्ञान में प्रथम चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है। दोनों के रहने के कारण उक्त चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का ग्रहण नहीं हो पाता। इसके बाद रजत और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्यज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न कर देता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक “तादात्म्यसम्बन्ध दोष” के कारण गृहीत होता है। न्याय के अनुसार यही भ्रम है। भ्रम के कारण शुक्ति में तदभिन्नरूप से गृहीत रजत है। उसमें सत्य रजत के समान इष्टसाधनता ज्ञान होने लगता है अर्थात् 'इस रजत के पाने पर मुझे लाभ होगा', ऐसा ज्ञान होता है। इसके पश्चात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति होती है।[28] इस ज्ञान में पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत दोनों ही सत्य वस्तुएं है। मात्र तादात्म्यसंसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर में आरोपित है।[29]

“इदं रजतम्” में रजत का प्रत्यक्ष चक्षु से तो नहीं होता फिर किससे होता है? इस सन्दर्भ में नैयायिकों ने “ज्ञानलक्षणा” नामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। भ्रमस्थल में प्रत्यक्ष उसी को होता है जिसने पहले उस पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी हुई वस्तु संस्कार के रूप में आत्मा में होती है। जब तत्सदृश कोई वस्तु दिखाई देती है तो उसका विशेष धर्म सहित उसका ज्ञान नहीं हो पाता किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है उस समय में आत्मा में स्थित संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति हो जाती है।वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्वदृष्ट वस्तु (रजत) की स्मृति में पहले उस वस्तु के साथ मन का संयोग होता है तत्पश्चात इस सम्बद्धयुक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ संयोग होता है। इस प्रकार स्मर्यमाणवस्तु का इन्द्रिय से संयोग परम्परया होता है इसको न्याय के अनुसार “स्वसंयुक्त मनोजन्यस्मृतिविषयत्वरूप” सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से इदं रजतम् स्थल पर सुरभिचन्दनम् के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन संयुक्त चक्षु इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है।[30] नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिये सन्निकर्ष आवश्यक है। विशिष्टज्ञान का विशेष्य 'इदम्' और विशेषण 'रजतम्' तथा दोनों के सम्बन्ध को वैशिष्ट्य एवं उक्त ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है, अर्थात् 'इदं रजतम्' में रजतप्रकारक इदं-विशेष्यक विशिष्ट ज्ञान है। यह विपर्यय इसलिये है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है 'तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान[31]', अर्थात् यथार्थ रजत में 'इदं रजतम्' का ज्ञान, क्योंकि इस में रजत विशेष्य में रजतत्ववाला रजत का ज्ञान होता है, किन्तु भ्रमस्थल में रजताभाववति शुक्ति में रजतत्ववाला ज्ञान होता है; इसलिये यह भ्रम है। 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान' को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है।[32]

21.8 विपरीतख्याति

यह आचार्य कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त है जो न्याय के अन्यथा ख्याति वाद से साम्य रखता है। विपरीतख्याति के अनुसार 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में इदं प्रत्यक्ष और रजत स्मृति ज्ञान हैं। स्मृतरजत को

---

28 न्यायमकरन्द- पृ. ८१, ८२।

29 न्यायमतानुसार किसी भी सविकल्पकज्ञान में ये तीन भाग होते हैं विशेष्य, विशेषण(प्रकार), संसर्ग(सम्बन्ध) जैसे 'घटवत्भूतलम्' इसमें भूतलविशेष्य, घट विशेषण या प्रकार और दोनों में जो संयोग सम्बन्ध है, वह संसर्ग है।

30 तर्कसंग्रह,व्या०दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसी दास, नईदिल्ली, २००६,पृ १५-१६.

31 तर्कसङ्ग्रह, व्या० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ० १५६ .

32 पूर्ववत् .

जो कि प्रत्यक्ष नहीं है 'इदं' में प्रत्यक्ष करने का भ्रम होता है। भ्रान्त व्यक्ति इस प्रकार स्मृति को प्रत्यक्ष के साथ अभिन्न मानकर इदं को रजत मान बैठता है, यही विपरीतज्ञान है, इसी को अन्यथाख्याति भी कहा है।[33] प्रभाकर के समान कुमारिल यह तो मानते है कि शुक्ति रजत के भ्रम शुक्ति के शुक्तित्वधर्मरहित इदमंशकी प्रत्यक्ष अनुभूति है और रजत के केवल गुणमात्र का स्मरण होता है किन्तु वे यह नहीं मानते कि भ्रम दृश्यमान तथा स्मर्यमाण वस्तु के भेद का अग्रहण मात्र है। कुमारिल के अनुसार ये दोनो आंशिक ज्ञान है और दोनो के विषय अलग अलग है। किन्तु भ्रम ये दोनो मिलकर एक हो जाते है न्यायभूषणकार ने कहा है – **यदि भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणं तदा विपरीतख्याति स्यात्**[34]। भ्रम एक विपरीत ज्ञान है जिसमें दृश्यमान वस्तु (शुक्ति) विपरीत (रजत) के रूप में प्रतीत होती है। अतः कुमारिल का मत विपरीत ख्याति कहलाता है[35]। न्याय तथा कुमारिल दोनो भ्रम को अन्यथाख्याति या विपरीत ख्याति मानते है दोनो में भ्रम की प्रक्रिया में भी साम्यता है परन्तु कुमारिल भ्रम में स्पष्ट रूप से पुरूषतन्त्रता को स्वीकार करते करते है यहाँ वे अपने वस्तुवाद को त्याग देते है परन्तु नैयायिक अपने वस्तुवाद की रक्षा के लिऐ भ्रम में रजत के वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक प्रत्यक्ष का आधार लेते है। यहाँ कुमारिल किसी प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष की कल्पना न कर रजत का स्मरण मात्र मानते है। नैयायिक यथार्थता को ज्ञान का स्वरूप तथा प्रवृत्तिसाफल्य (परतः प्रमाण) को यथार्थता के परीक्षण का साधन मानते है। कुमारिल भी यथार्थता को ज्ञान का स्वरूप मानते है किन्तु ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानकर कारणदोष रहित तथा बाधक ज्ञान रहित मानते है[36]।

21.9 सदसत्ख्याति-

सांख्यदर्शनाभिमत भ्रम का सिद्धान्त सदसत्ख्याति कहलाता है। सांख्य सूत्र है – सदसत्ख्यातिर्बाधात् ५/५/६ इस पर अनिरूद्ध-वृत्तिभाष्य के वृत्तिसार के रचयिता वेदान्तमहादेव के अनुसार अर्थ है – इदं रजतं सदासदात्मकम्, नेदं रजतमिति हि रजतस्य बाधो, न पुरोवर्तिता इति।[37] अर्थात् इदं रजतम् की प्रतीति सत् और असत् दोनो रूपों में होती है क्यों कि नेदं रजतम् से रजत का बाध होने से वह असत् है जबकि पुरोवर्तिता होने से या सामने उपस्थिति होने से सत् है अतः वह सदसत् दोनो हो गया। भामतीकार ने उक्त मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वस्तुओं का तत्त्व दो प्रकार होता है १. सत्व (स्वरूपतः) २.असत्व (पररूपतः)।[38] सांख्याचार्यो के अनुसार "इदं रजतम्"इस प्रकार के भ्रम

---

[33] विभ्रमविवेक , ४६ ,सम्पा० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९३२।

[34] न्यायभूषण, पृ० २९.

[35] भारतीयदर्शनः एक आलोचन एवं अनुशीलन, ले०चन्द्रधर शर्मा, मोती लाल बनारसीदास,नई दिल्ली, २००४,पृ० २०४

[36] भारतीयदर्शनः एक आलोचन एवं अनुशीलन, ले०चन्द्रधर शर्मा, मोती लाल बनारसीदास,नई दिल्ली, २००४,पृ० २०५.

[37] सांख्यदर्शनम् सारद्वयोपेतम्, वाराणसी, १९७३, पृ० १५३ उद्धृत- शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, ले० स्वामी अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३

[38] द्विविधं च वस्तुनां तत्त्वं सत्वमसत्वंच, तत्र पूर्वं स्वतः परं तु परतः । यथाहुः –

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ,वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद् रूपं कैश्चित्कदाचन्,॥ भामती, पृ० २३.

स्थलों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि चक्षुदोष से संयुक्त होने के कारण शुक्तित्वरूप जो विशेष धर्म की प्रतीति न हो पाने के कारण इदंरूप से शुक्ति का ज्ञान होता है अतः वह इदं में होने से सत् है और रजतम् में न होने से असत् है। इसी प्रकार रजत भी रजतम् में होने से सत् तथा इदं (शुक्ति) में न होने से असत् है। यदि कहा जाए कि कि सत्-असत् दोनो एकाधिकरण में कैसे रह सकते है तो इसके उत्तर में विज्ञानभिक्षु का कहना है जैसे स्फटिक लौहित्य में बिम्बात्मना सत् होता है और स्फटिक गत प्रतिबिम्बत्मना असत् होता है उसी प्रकार रजत् दुकान में स्थित सत् परन्तु शुक्त्यध्यस्तरूप से असत् है। उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च भी स्वरूपतः सत् और चैतन्याध्यस्तरूप से असत्[39]।

21.10 सत्ख्याति

आचार्य रामानुज का भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त सत्ख्यातिवाद कहलाता है। मीमांसकों के समान ही समस्तज्ञान को यथार्थ मानते है। रामानुज श्रीभाष्य में कहते है *यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्*[40]। "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रम स्थलों सत्ख्याति के समर्थन में रामानुज का कहना है कि पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध है कि सभी वस्तुएँ मिश्रित है जिसे हम पृथ्वी कहते है उसमें जल, वायु, अग्नि तथा आकाश के अंश भी विद्यमान है[41]। पृथ्वी अंश के आधिक्य के कारण वह पृथ्वी कहलाती है अतः पृथ्वी में अन्य भूतों का अभाव नहीं है। इसी प्रकार शुक्ति- रजत भ्रम में शुक्ति में भी रजत का अंश विद्यमान है तभी तो वह रजत्वेन भासित होती है अन्तर यह है कि शुक्ति में रजत के अवयवों की अपेक्षा शुक्ति के अवयव अधिक है अतः वह शुक्ति कही जाती है। शुक्ति में रजत सादृश्यता का कारण है उस में रजत के अंश का होना है। सादृश्य द्रव्य के अंश को ही कहते है – *तदेव सदृशं तस्य यत् तद्द्रव्यैकदेशभाक्*[42]। चक्षुदोषादिवश शुक्ति के अवयवों के आधिक्य होने पर भी उसकी प्रतीति न होकर रजत की ही प्रतीति होने लगती है और रजतार्थी रजत को पाने के लिये प्रवृत्त होने लगता है[43]। नेदं रजतम् इस प्रकार के बाध से केवल प्रवृत्ति का बाध होता है – *ज्ञानफलभूतप्रवृतेर्बाध्यत्वम्*[44]। रामानुज के अनुसार ज्ञान सत्य ही होता है (सत्ख्याति) और ज्ञान का विषय भी सत्य ही होता है परन्तु वह ज्ञान मित्था या भ्रम होता है जिसमें व्यव्हारानुपुण्य ना हो अर्थात् जो व्यव्हार में उपयोगी ना हो जैसे उक्त शुक्ति रजत स्थल पर भासमान रजत लाभ ना प्रदान करने के कारण तथा मृगमरीचिका से प्यास ना बुझ पाने के कारण दोनो ज्ञान भ्रम या मिथ्या है। अतः रामानुज के मत में यथार्थ ज्ञान सत्य तथा व्याव्हारिक है और भ्रम ज्ञान भी सत्य किन्तु अव्यावहारिक है। यथार्थ और भ्रम ज्ञान में केवल प्रवृत्तिसाफल्य या व्यव्हारोपयोगिता का ही अन्तर है।

---

[39] सदसत्ख्यातिर्बाधात् ५/५/५/, सांख्यप्रवचनभाष्य, सम्पा० जीवानन्द, भारतीयजीवनकाशी, १९४६ पृ० ५६.

[40] श्रीभाष्य (अविद्या भंग प्रकरण), गव० आफ इण्डिया, नईदिल्ली, १९६७, पृ० २९.

[41] पूर्ववत्.

[42] श्रीभाष्य (अविद्या भंग प्रकरण),पृ० ३१.

[43] कदाचित् चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते ॥ पूर्ववत्.

[44] श्रीभाष्य (अविद्या भंग प्रकरण), श्रुतप्रकाशिका, सुदर्शन सूरि, नई दिल्ली, १९६७,पृ० ३२.

21.11 अनिर्वचनीयख्याति

यह अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त है। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रम, मिथ्याज्ञान, अन्यथाज्ञान, अध्यारोप या अध्यास है। अविद्या के दो रूप है – १ आवरण २. विक्षेप। आवरण शक्ति से अविद्या शुक्ति पर आवरण डाल देती है आवरण रहने से शुक्ति का अज्ञान होता है। यद्यपि शुक्ति से इन्द्रिय का सम्पर्क हो रहा है तथापि आवृत्त रहने से उसका ज्ञान नहीं होता। विक्षेप शक्ति से अविद्या शुक्ति पर रजत का आरोप करके उसकी प्रतीति रजत के रूप में कराती है। यह शुक्ति का रजत के रूप में अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान है। इस विक्षेप को आरोप अध्यारोप या अध्यास कहते है। भ्रम या अध्यास के तीन घटक होते है –अधिष्ठान जो सत् होता है, अध्यस्त पदार्थ जो असत् होता है, अध्यस्त का अधिष्ठान पर आरोप जो अध्यास कहलाता है। यह सिद्धान्त सभी ख्याति के सिद्धान्तों में सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित है। इस सिद्धान्त के अनुसार न तो भ्रम असत् है क्यो किं असत् वस्तु का वस्तु का कभी भ्रम नहीं होता जैसे आकाशपुष्प या वन्ध्या का पुत्र। ना ही भ्रम सत् है क्यों कि जब रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। उसके उपरान्त जब हम रस्सी का स्पर्श कर लेते है तो सर्प का भ्रम समाप्त हो जाता है। इस प्रकार भ्रम उत्तरज्ञान से बाधित होता है अतः सत् भी नहीं। भ्रम सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है। अतः इस सिद्धान्त को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते है।

21.12 ख्यातिवाद की समीक्षा

उपर्युक्त दार्शनिक मत, जिनके ख्यातिवाद की हमने विवेचना की है, तीन प्रकार के हैं – १ वस्तुवाद २, विज्ञानवाद ३. अनिर्वचनीयवाद। वस्तुवाद का मूल सिद्धान्त है कि जगत् की सभी वस्तुऐं सत् है और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न करती है। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान सत् है, पदार्थ या वस्तुऐं असत् हैं और ज्ञान ही अर्थ का आकार लेकर बहिर्वत् प्रतीत होता है। अनिवर्चनीयवाद के अनुसार बुद्धिग्राह्य समस्त पदार्थ जीव और जगत्, सापेक्ष तथा सदसदर्चनीय हैं, व्यवहार में इनकी सत्ता है किन्तु परमार्थतः ये सब मिथ्या है। वस्तुवाद व्यवहार और परमार्थ का भेद नहीं मानता क्यों कि उनके लिए व्यवहार ही परमार्थ है। विज्ञानवाद परमार्थ और व्यवहार दोनों में विज्ञानवाद है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद परमार्थ में विज्ञानवाद और व्यवहार में वस्तुवाद है।

वस्तुवादियों के ख्यातिवाद को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो जो भ्रम को अज्ञान या अपूर्ण ज्ञान मानते हैं इसमें प्रभाकर की अख्याति तथा प्राचीन सांख्य एवं रामानुज की सत्ख्याति को सम्मिल्लित किया जाता है दूसरे में वे जो भ्रम को अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान मानते हैं। इनमें न्याय की अन्यथाख्याति, कुमारिल की विपरीतख्याति सम्मिल्लित है। बौद्ध विज्ञानवाद की विज्ञानख्याति है। अनिर्वचनीयवाद में शून्यवाद की शून्यताख्याति और अद्वैतवेदान्त की अनिर्वचनीयख्याति आती है।

भ्रम को अपूर्ण या अज्ञानमात्र नहीं माना जा सकता। भ्रम अध्यास है और अन्यथाज्ञान है। भ्रम में दो ज्ञान और उसके विषय अलग अलग नहीं रहते। भ्रम में दोनों ज्ञान मिलकर एक बन जाते है और एक ही ज्ञान रहता है। यदि भ्रम में दोनों ज्ञान अलग अलग और आंशिक रूप में रहते हैं तो ज्ञान होने के कारण इन दोनों के भेद का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि एक ज्ञान दृश्यमान (शुक्ति) वस्तु का और दूसरा ज्ञान स्मर्यमाण (रजत) वस्तु का है तो स्मर्यमाण वस्तु का ज्ञान स्मृति के रूप में रूप में होने चाहिए तथा स्मृति का प्रमोष या विस्मृति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तब ज्ञान इस प्रकार का होगा इस पदार्थ (शुक्ति) की सफेदी और चमक को देखकर पूर्वदृष्ट रजत की स्मृति हो रही है। किन्तु यह तो

भ्रम नहीं हुआ। भ्रम में ज्ञान इस प्रकार है –यह रजत है अर्थात् रजत की स्मृति नहीं प्रत्यक्ष है ।जो वस्तु भ्रम को मिथ्याज्ञान या अन्यथाज्ञान मानते हैं वे कम से कम भ्रम के विषय में अपने वस्तुवाद को तिलाञ्जली दे देते हैं । न्याय की ज्ञानलक्षण नामक प्रत्यक्ष की कल्पना अलौकिक प्रत्यक्ष की कल्पना मात्र है । भ्रम में इन्द्रिय सन्निकर्ष शुक्ति से हो रहा है और ज्ञान रजत का हो रहा है । इससे वस्तुवाद का मूल सिद्धान्त ही नष्ट हो जाता कि सब ज्ञान यथार्थ होता है एवं वस्तु द्वारा उत्पन्न होता है । वस्तुवाद का यह कथन कि दोनो वस्तुऐं अलग अलग सत्य हैं, केवल उनका सम्बन्ध मिथ्या है, सही नहीं है क्यों कि भ्रम में प्रश्न अन्यत्र स्थित पूर्वदृष्ट रजत का नहीं है अपितु प्रतीयमान रजत का है और यह रजत सम्बन्ध से ही नहीं अपितु स्वरूप से भी मिथ्या है क्यों कि इस रजत का बाध होता है ।
विज्ञानवाद की विज्ञानख्याति भी दोषपूर्ण है । व्यवहार में भी विज्ञानवाद को स्वीकार करना सारे व्यवहार का व्यर्थ में निषेध करना है । विज्ञानवाद ने अध्यस्त पदार्थ (रजत) के द्रव्य के आकार द्रव्य और आकार में भेद करके द्रव्य को अर्थात् रजत पदार्थ को नितान्त असत् तथा उसके आकार को अर्थात् अर्थाकार विज्ञान को सत् माना है । किन्तु किसी पदार्थ के द्रव्य और आकार अविभाज्य रूप से सयुँक्त रहते है जिनका विभाग असम्भव है ।भ्रम में पदार्थ की प्रतीती होती है, उसके आकार की नहीं । भ्रम में रजत पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है रजताकार विज्ञान का नहीं और जब रजत का बाध होता है तो उसके साथ ही रजताकार विज्ञान का भी बाध हो जाता है । विज्ञानख्याति नितान्त असंगत एवं निरर्थक कल्पना है । जो व्यर्थ में व्यवहार का निषेध करती है ।
ख्यातिवाद में अनिर्वचनीयख्यातिवाद ही भ्रम का सन्तोषजनक विश्लेषण करती है तथा व्यवहार एवं परमार्थ दोनों का निर्वाह करती है ।

21.13 पारिभाषिक शब्दावली

ख्याति - ख्याति शब्द से आशय है ज्ञान । ख्याति शब्द यद्यपि यथार्थज्ञान के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है परन्तु कालान्तर में यह शब्द भ्रम के रूप में प्रतिष्ठित हो गया ।

पंचख्याति - भारतीय दर्शन में यद्यपि ख्याति(भ्रम) के अनेक सिद्धान्त है तथापि पाँच ख्याति के सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है जिन्हे पंचख्याति कहा जाता है ।

आत्मख्यातिवाद- बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। हम जो कुछ भी देखते हैं वे चित्तमात्र है, बाह्यरूप में असत् है, विज्ञानवादी इसलिये आत्मख्यातिवादी है।

असत्ख्याति - यह शून्यवादी बौद्धों का मत है । असत् से आशय है सत्ता का अभाव ।जो भ्रम है वह असत् है इसलिए इस ख्याति को असत्ख्याति कहते है ।

अख्याति - किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में भासित होने पर दोनों के मध्य जो भेद है , उसकी ख्याति ना हो पाने को अख्याति कहते है । यह प्रभाकर मीमांसक का मत है ।

अन्यथाख्याति- यह न्याय का मत है नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है। शुक्ति का अन्यथा अर्थात् अन्य रूप में रजत में भासित होना । उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है ।

अनिर्वचनीयख्याति – यह अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है । भ्रम सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है । अतः इस सिद्धान्त को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते है ।

विपरीतख्याति - भ्रम एक विपरीत ज्ञान है जिसमें दृश्यमान वस्तु (शुक्ति) विपरीत (रजत) के रूप में प्रतीत होती है। अतः कुमारिल का मत विपरीतख्याति कहलाता है

सदसत्ख्याति - सांख्यदर्शनाभिमत भ्रम का सिद्धान्त सदसत्ख्याति कहलाता है।

सत्ख्यातिवाद - आचार्य रामानुज का भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त सत्ख्यातिवाद कहलाता है । मीमांसकों के समान ही समस्तज्ञान को यथार्थ मानते है ।रामानुज के मत में यथार्थ ज्ञान सत्य तथा व्याव्हारिक है और भ्रम ज्ञान भी सत्य किन्तु अव्यावहारिक है ।

21.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

अति –लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1)

i. ख्याति किसे कहते है ?
ii. पंचख्याति के सिद्धान्त कौन कौन से है ?
iii. किस मत में ख्याति को असत् बतलाया गया है ?
iv. किस मत में ख्याति का अभाव बतलाया गया है ?
v. ख्यातिवाद में सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त कौनसा है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

(2) भासर्वज्ञ द्वारा उल्लेखित सिद्धान्तों का उल्लेख किजिए ?
(3) क्या विज्ञानख्याति ख्याति का श्रेष्ठ सिद्धान्त हो सकती है ? सकारण स्पष्ट किजिए ?
(4) अख्याति एवं विपरीयख्याति में क्या अन्तर है ?
(5) अनिर्ववनीयख्याति वाद को स्पष्ट किजिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न

(6) पंचख्याति के पाँचों सिद्धान्तों का परिचय दिजिए ?
(7) ख्यातिवाद के विविध सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए स्पष्ट किजिए कि कौनसा सिद्धान्त सर्वथा निर्विवाद सिद्धान्त है तथा क्यों?

21.15 सारांश

उक्त इकाई के अध्ययन के अध्ययन के बाद हमने जाना कि ख्याति क्या है? पंचख्याति के सिद्धान्तों के अन्तर्गत आत्मख्याति,असत्ख्याति,अख्याति,अन्यथाख्याति एवं अनिर्वचनीयख्याति का अध्ययन किया । इसके पश्चात् विमुक्तात्म यति एवं भासर्वज्ञ ने ख्यातिवाद के जिन जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया उनका अध्ययन किया ।उक्त ख्यातिवाद के सिद्धान्तों के अतिरिक्त विपरीतख्यातिवाद, सत्ख्यातिवाद, सदसत्ख्यातिवाद इत्यादि सिद्धान्तों का अध्ययन किया । अन्त में ख्यातिवाद के सभी सिद्धान्तों की समीक्षा की गई जिसके ख्यातिवाद के समस्त सिद्धान्तों को वस्तुवाद, विज्ञानवाद तथा अनिर्वचनीयख्यातिवाद के रूप विभाजित किया गया तथा हमें इस बात का ज्ञान हुआ कि किस प्रकार अनिर्वचनीयख्यातिवाद समस्त ख्यातिवाद के सिद्धान्तों श्रेष्ठ सिद्धान्त है ।

21.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (रत्नप्रभा टीका सहित),अनु० यतिवरभोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथमभाग, 2004.
2. सर्वदर्शनसङ्ग्रहः (बौद्धदर्शन) ,व्या० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2006
3. माध्यमिककारिका १.७ ,सम्पा०,प्रो पी० एल० वैद्य, मिथिला संस्कृतविद्यापीठ, बोद्ध संस्कृतग्रन्थावली, दरभंगा, 1960.
4. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल- ,सम्पा० कन्हैया लाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली,2004.
5. विवरणप्रमेयसंग्रह (विद्यारण्यमुनि,), सम्पा० कृष्ण पन्त शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, 1996.
6. न्यायमकरन्द, सम्पा० एन० एस० स्वामी, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1907.
7. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, ले० स्वामी अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973.
8. तर्कसंग्रह,व्या०दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसी दास, नईदिल्ली,2006
9. भारतीयदर्शनः एक आलोचन एवं अनुशीलन, ले०चन्द्रधर शर्मा, मोती लाल बनारसीदास,नई दिल्ली, 2010
10. सांख्यप्रवचनभाष्य, सम्पा० जीवानन्द, भारतीयजीवनकाशी, 1946

इकाई 22

जीवन्मुक्त का स्वरूप एवं आचरण (परमार्थसार)

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 जीवन्मुक्त की पृष्ठभ्मि
22.3 जीवन्मुक्त का स्वरूप
22.4 जीवन्मुक्त का आचरण
22.5 जीवन्मुक्त की स्थिति
22.6 पारिभाषिक शब्दावली
22.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
22.8 सारांश
22.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

22.0 उद्देश्य

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा विरचित परमार्थसार नामक ग्रन्थ के आधार पर काश्मीर शैव दर्शन का आरम्भिक परिचय के रूप में जीव के बन्धन व मोक्ष की पृष्ठभ्मि, उसके कारण , स्थिति , एवं स्वरूप आदि विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा पूर्व इकाई में की है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप अब –

- जीवन्मुक्त की पृष्ठभ्मि
- जीवन्मुक्त का स्वरूप
- जीवन्मुक्त का आचरण
- जीवन्मुक्त की स्थिति इत्यादि बिन्दुओं का परिचय प्राप्त करेंगे ।

22.1 प्रस्तावना

एम.ए. संस्कृत पूर्वार्द्ध में भारतीय दर्शन नामक तृतीय प्रश्नपत्र के अन्तर्गत विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित पुस्तक परमार्थसार के जीवन्मुक्त की पृष्ठभ्मि, उसका स्वरूप एवं आचरण आदि बिन्दुओं पर चिन्तन प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रणीत परमार्थसार वस्तुतः काश्मीर शैवदर्शन का प्रवेशद्वार है। इसका अधिकांश भाग प्राचीन पुस्तक ''आधार कारिका'' से संग्रहीत है , हाँ कुछ अंशों में यहाँ ग्रन्थकार द्वारा परिवर्तन एवं परिवर्धन भो किया गया है। विचार या ज्ञान की धारा को निरन्तर प्रवाहित रखने के लिए अभिनवगुप्त सचेष्ट थे इसलिए अभिनवगुप्त जैसे महान् लेखक प्राचीन ग्रन्थ का परिष्कार कर उसे अपने दर्शन का प्रचार माध्यम बनाते हैं। काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि वेदान्त, सांख्य, न्याय आदि से भिन्न है तथापि इसकी संगति वैदिक दर्शन से है। उपनिषदों में वर्णित पूर्णता की अनुभ्ति परमार्थसार के दर्शन में होतो है।

काश्मीर शैव दर्शन में श्रुति मूलक एवं आगम मूलक दर्शन की इन दोनों धाराओं का समन्वय ईश्वराद्वय के सिद्धान्त पर आधारित है। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर या शिव ज्ञान एवं क्रिया का नित्य सामंजस्य है। वह ज्ञाता कर्ता है। ईश्वर की वास्तविक कर्तृता की व्याख्या के रूप में स्वातन्त्र्यवाद का प्रतिपादन हुआ है।

शिव का कतृभाव ही शक्ति तत्व है। इस प्रकार क्रिया विकार या विवर्त न होकर वह परमात्मा के स्वतन्त्र सामर्थ्य को अभिव्यक्त करती है।

ईश्वर जिस प्रकार ज्ञाता एवं कर्ता है और इस कारण निर्माणादि में स्वतन्त्र है उसी प्रकार शिव के स्वात्मभ्त हम सभो परिमित प्रमाता भो सत् ही नहीं स्वतन्त्र भो हैं। परमार्थ का यह बोध हमें जीवन और जगत् को पहचानने की नई दिशा दिखाता है। इस दृष्टि से परमार्थ

सार में निरूपित जीवन्मुक्त के रहस्य ;स्वरूप एवं आचरणद्ध का उद्घाटन इस इकाई में प्रस्तुत किया जा रहा है।

22.2 जीवन्मुक्त की पृष्ठभ्मि

चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभो भारतीय दर्शनों की मान्यता है कि इस संसार में प्रत्येक प्राणी को अपने किए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जो शुभ, अशुभ, अथवा शुभाशुभ किसी भो प्रकार का हो सकता है, किन्तु कोई भो साधक विवेकज्ञान द्वारा इस कमफल को भस्मसात् करने में समर्थ है। मुण्डकोपनिषद् का यह कथन भो इस कथ्य की पुष्टि करता है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। (2/2/8)

अर्थात् परब्रह्म के साक्षात्कार के बाद साधक की अज्ञान विषयक ग्रन्थि नष्ट हो जाती है तथा उसमें सभो प्रकार के कम क्षीण होकर सभो संशय दूर हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भो अग्नि द्वारा ईंधन को भस्मसात् करने का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ज्ञानरूपी अग्नि से सभो प्रकार के कर्मों को जला डालने की बात कही गयी है–

यथैधांसि समिद्धो–ग्निर्भस्मसात् कुरुते–र्जुनः ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। (4/37)

फल की दृष्टि से कर्मों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है –

1. संचित कम
2. क्रियमाण कम
3. प्रारब्ध कम

अनादिकाल से किए गये जिनका फल अभो तक प्राप्त नहीं हुआ है , संचित कम कहलाते हैं। मन ,वाणी, कम द्वारा वर्तमान जन्म में किए जा रहे कम क्रियमाण कम की कोटि में आते हैं। क्रिया पूर्ण होने पर ये ही संचित कर्मों की श्रेणी में आ जाते हैं। चिरकाल के संचित कम जब फलोन्मुख होकर शुभाशुभ फल प्रदान करने मे तत्पर हो जाते हैं, उन्हें 'प्रारब्ध कम' कहा जाता है।

संचित, क्रियमाण और प्रारब्धकर्मों का चक्र व्यक्ति के जीवन में निरन्तर चलता रहता है, किन्तु इस कमबन्धन से छुटकारा ज्ञान के उदय या फल भोग से ही प्राप्त किया जा सकता है। अधिकांश भारतीय दर्शन ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य का तो इस विषय में मत है कि –' जिसप्रकार अग्नि के अभाव में भोजन नहीं पकाया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष–प्राप्ति असंभव है।' अज्ञान के नष्ट होने पर प्रमाता को आत्म–बोध ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे – बादलों के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश होता है। इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि ज्ञान का प्रकाश होने पर भो साधक को संसार से मुक्ति नहीं मिलती है क्योंकि उसे पूर्व जन्म के संचितकर्मों के फल को भोगने तक इस संसार में रहना होता है।

शंकराचार्य की मान्यता के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर भो साधक को प्रारब्ध कम का भोग भोगने के लिए इस संसार मे रहना पड़ता है। उनके अनुसार –

'जिसप्रकार कुम्हार बर्तन बनाने वाले चक्र मे दण्ड द्वारा गति उत्पन्न करता है ; बाद में दण्ड हटने पर भो वह स्वतः वेगपूर्वक चलता रहता है। यह वेग की समाप्ति पर ही रुकता है। ठीक उसी प्रकार विपाक की ओर उन्मुख प्रारब्ध कर्मों के क्षय के अभाव में प्रमाता को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है।'

22.3 जीवन्मुक्त का स्वरूप

सद्गुरु के मार्गदर्शन से जब प्रमाता की सभो भ्रान्तियों का निवारण हो जाता है तथा वह आत्मा को तत्त्वरूप से जान लेता है तो शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर भो शरीर के प्रति अभिमान न होने के कारण उसके द्वारा किए गये कार्यों का पाप अथवा पुण्य उससे नहीं जुड़ता है ,क्योंकि जीवित रहते हुए भो वह जो कम करता है , उनके साथ उसका लगाव

नहीं होता है,उन सभो को वह पूर्णतया निरपेक्षभाव से करता है । इसलिए उनसे होने वाले फलों पाप –पुण्य से वह सम्पृक्त नहीं होता। पुनरपि अपने प्रारब्ध कर्मों के भोग तक उसका शरीर विद्यमान रहता है। प्रायः सभो दर्शनों में प्रमाता की इस स्थिति को 'जीवन्मुक्त' कहा गया है।

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने यहाँ इसप्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की है –

भिन्नाज्ञानग्रन्थिर्गतसंदेहः पराकृतभ्रान्तिः ।
प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगे–प्यसौ मुक्तः ।।61।।

अर्थात् जिस प्रमाता ने अपने अज्ञानरूपी ग्रन्थि का विच्छेद कर दिया है , अर्थात् अपूर्णता की ख्याति से उठने वाले देहादि में अभिमानरूप बन्धन को तोड़ दिया है ,दूसरे शब्दों में जिसके सभो प्रकार के संदेहों का विनाश हो गया है । जिसने परम अद्वय की प्राप्ति के कारण द्वयरूप भम का हमेशा के लिए निरास कर दिया है तथा निरन्तर परमात्म चिन्तन के द्वारा उसके परिशीलन द्वारा जिसने अपने पाप और पुण्य दोनों को ही देह में आत्माभिमान न रहने के कारण पूरी तरह विनष्ट कर दिया है। जिसके विगलित संस्कार वाले धर्म और अधर्म दोनों पूर्णरूप से समाप्त हो गये हैं। ऐसा प्रमाता ही जीवन्मुक्त कहलाता है ।

तदनुसार वस्ततः अज्ञान ही बन्धन का कारण है, शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर भो जिसका अज्ञान नष्ट हो जाता है , ऐसा प्रमाता जीवित रहते हुए भो मुक्त होता है। इस दृष्टि से शरीर की स्थिति अथवा उसका विनाश प्रमाता का बन्धन अथवा मुक्ति नहीं है , अपितु जीवन्मुक्त की स्थिति उसके जीवित रहते हुए भो विद्यमान हो सकती है। देहपात के अनन्तर ही उसका मोक्ष पूर्ण होता है । जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं।

जीवन्मुक्त का शरीर के साथ सम्बन्ध तो अवश्य होता है, किन्तु उसका उसके प्रति अभिमान सर्वथा समाप्त हो जाता है और वह विकसित शक्ति सम्पन्न जीवित व्यक्ति होता है। इस प्रसंग में यह बात विशेषरूप से प्रष्टव्य है कि जीवन्मुक्त का शरीर के साथ सम्बन्ध ही उसका बन्धन है, फिर इसे 'जीवन्मुक्त' कैसे कहा जा सकता है ?

ऐसी शंका करने पर यही कहा जा सकता है कि –'इसने अपनी अज्ञानरूपी ग्रन्थि अर्थात् अपूर्णता की ख्याति से उठने वाले शरीर मे अभिमानरूपी बन्धन को तोड़ दिया है । इसके सभोप्रकार के संदेह नष्ट हो गये हैं । इसने परम अद्वय की प्राप्ति से द्वयरूप भम को पूर्णरूप से तिरस्कृत कर दिया है । इसका प्रतिपादन ग्रन्थकार ने श्लोक संख्या 61 में किया है ।

जीवन्मुक्त के व्यवहार के विषय में शंकराचार्य का मत उल्लेखनीय है कि द्वैत के विद्यमान रहने पर भो जो अद्वैतमय हो जाने से जाग्रत अवस्था में भो सुषुप्त के समान देखता नहीं है (इन्द्रियों के व्यापार में अनासक्त है); जो क्रिया करते हुए भो निष्क्रिय है वही आत्मवेत्ता है, अन्य नहीं –

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।। (उपदेश साहस्री –5)

अत :जिसप्रकार अग्नि में भना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता है ,ठीक उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हुआ जीवन्मुक्त का कम उसे जन्म देने में सहायक नहीं होता है –

अग्न्यभिदग्धं बीजं यथा प्ररोहासमर्थतामेति।
ज्ञानाग्निदग्धमेवं कम न जन्मप्रदं भवति ।। 62।।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त का कम पूर्णतया अद्वैत के ज्ञान की प्रभा द्वारा भन जाता है और इस अवस्था में उसकी अनुभ्ति कुछ इस प्रकार की हो जाती है कि 'वह विश्वरूप में प्रकाशमान है ' ऐसा होने से उसका देहादि के प्रति अभिमान पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है तथा इसके कारण त्याज्य और ग्राह्य की बुद्धि का भो विनाश हो जाता है। इस स्थिति में जो कुछ भो शुभ अथवा अशुभ कम उसके द्वारा किया जाता है ,उसकी शक्ति

अर्थात् उसका प्रभाव विनष्ट हो जाता है। अतः वह ज्ञानी के लिए देहपात के अनन्तर जन्मरूपी फल को उत्पन्न नहीं कर पाता है।

क्योंकि जब देह को उत्पन्न करने का हेतु ही विद्यमान नहीं रहता है तो देह का पुनर्निर्माण फिर भला कैसे सम्भव है? इस स्थिति को ग्रन्थकार ने भने हुए बीज के सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाने का सुन्दर प्रयास किया है। जिसका निष्कष यही कहा जा सकता है कि फल की इच्छा न करते हुए किया हुआ कम पुनः जन्म दिलाने में असमर्थ रहता है। इसी कारण जीवन्मुक्त शरीर धारण करने की स्थिति में जो भो कम करता है वे उसके लिए पुनर्जन्म के कारण नहीं बनते हैं।

यद्यपि जीवन्मुक्त यम–नियमों के अनुष्ठान द्वारा अशुभकर्मों का पूर्णतया परित्याग कर शुभकर्मों में ही प्रवृत्त रहता है क्योंकि शुभकर्मों के प्रति प्रवृत्ति ही उसके ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करती है। पुनरपि इस अवस्था में यदि उससे कोई अशुभ कम हो भो जाता है तो भो उसका फल उसे प्राप्त नही होता है, क्योंकि जिस शरीर के द्वारा वह अशुभ कम हुआ है, उसके प्रति उसका अभिमान बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है।

इसलिए जीवन्मुक्त का शरीर वस्तुतः प्रारब्ध कर्मों के फलभोग पर्यन्त ही विद्यमान रहता है। इन कर्मों के पूर्णक्षय के साथ ही उसका शरीरपात हो जाता है तथा वह पूर्णकाम, आप्तकाम और निष्काम बन जाता है। अन्ततः सभो प्रकार की इच्छाओं से मुक्त होने पर वह ब्रह्म ही बन जाता है।

22.4 जीवन्मुक्त का आचरण

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि अहंभाव से पूर्णतया मुक्त जीवन्मुक्त का आचरण वस्तुतः सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न एवं विचित्र हो जाता है ,क्योंकि चिति परिमित ज्ञान द्वारा होने वाली क्रियाओं में जीवन्मुक्त का अपनत्व सर्वथा समाप्त हो जाता है। इससे वे कम उसके द्वारा किये जाने पर भो उसके लिए फलदायी नहीं होते हैं। वस्तुतः इससे भिन्न अवस्था में अभिमान संस्कार से जो इच्छा का कालुष्य होता है वह बुद्धि से किया जाता है , जैसे –

'मैं अश्वमेध करूँगा तो इससे मुझे लोक परलोक में सुखों की प्राप्ति होगी तथा इस कम से मुझे इन्द्र पद की भो प्राप्ति होगी।'

इस प्रकार के संस्कारों से युक्त कम करने वाला कर्ता उस कम को साक्षात् न करने पर भो उससे प्राप्त होने वाले फल को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि जीवन्मक्त अपने शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा पूर्व वासनाओं के प्रभाव से कम करता है तथा प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है। साथ ही यह इस अवस्था में ज्ञान की दृष्टि से ही समस्त कमफलों का उपभोग करता है ,क्योंकि इस स्थिति में वह सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार को मिथ्या प्रपंच के रूप में ही देखता है, वास्तविक रूप में नहीं । इसे जादूगर के उदाहरण द्वारा ठीक प्रकार से समझा जा सकता है।

जादूगर मंच के ऊपर जो भो प्रपंच प्रदर्शित करता है वह वस्तुतः असत्य ही होता है ,किन्तु उसके मिथ्यात्व की प्रतीति केवल जादूगर को ही होती है, अन्यों को नहीं। वहाँ उपस्थित सभो दर्शक उसक द्वारा प्रदर्शित समस्त प्रपंच में परमार्थ अर्थात् सत्य की सत्ता का ही दर्शन करते हैं। ठीक ऐसा ही जीवन्मुक्त के संसार के प्रति व्यवहार एवं दृष्टिकोण में होता है, क्योंकि संसार के पदार्थों के प्रति मिथ्यात्व को जानने के कारण वह उनमें लेशमात्र भो लिप्त नहीं होता है।

इस कारण वह आँखों वाला होते हुए भो आँखों वाला नहीं होता है। कानों वाला होते हुए भो कानों वाला नहीं होता है। उसकी स्थिति वस्तुतः कमल के पत्ते पर स्थित जल की बूँद के समान होती है, जो संसार में रहते हुए भो उसमें लिप्त नहीं होता है तथा स्वयं को पृथक् बनाए रखता है। जैसा कि हम पूर्व में भो उल्लेख कर चुके हैं। जीवन्मुक्त की अवस्था में साधक यद्यपि अपने शरीर को धारण किए रहता है, किन्तु वास्तव में वह देह के प्रति वह पूर्णतया अभिमान रहित होता है। अतः इस स्थिति में वह सभो प्रकार के विरोधों एवं द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

उसको शत्रु–मित्र, मान–अपमान, लाभ–हानि, सुख–दुःख आदि सभो भावनाएँ पूर्णतया समाप्त हो जाती हैं। इसलिए उसका व्यवहार सामान्य लोगों के व्यवहार की अपेक्षा विलक्षण होता है। उसके सामने तो जो कुछ भो खाने लायक सामने पड़ जाता है ,उससे प्रेम या विरक्ति के अभाव में शरीर की भ्ख को शान्त करने के लिए ,उसे धारण करने मात्र को वह ग्रहण कर लेता है। खाया जाता हुआ अन्न खराब है अथवा स्वादिष्ट है , पवित्र है अथवा अपवित्र, उसे चमड़े से ढ़का गया था अथवा रेशमी वस्त्र से, ऐसी भावना उसके मन में नहीं आती है।

वह तो किसी से न द्वेष करता है आर स्तुति । वह तो चाहे जहाँ ठहर जाता है , चाहे वह भयकर जीवों से भरा जंगल ही क्यों न हो अथवा फिर सभो सुख सुविधाओं से युक्त राजाओं का महल । इसके उसमें प्रति लेशमात्र भो राग–विराग की भावना उत्पन्न नहीं होती है। उसके लिए श्मशान अथवा चांडाल का घर और राजा का महल समान हैं। इसलिए वह इनमें भद भावना नहीं रखता है। अतः बिना किसी यत्न किए जो भो स्थान सामने आ जाता है, वहीं ठहर जाता है। जो सहज ही उपलब्ध होता है उसी को खा लेता है।

इस प्रकार व्यवहार करता हुआ जीवन्मुक्त सदैव दूसरों के लिए कल्याणकारी रहता हुआ समय व्यतीत करता है और अन्त में परमशिव बन जाता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है

अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः ।
यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्वभूतात्मा।। 69 ।।

जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों ने भो कुछ इसप्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की ह–

''जिसप्रकार वायु पुष्प के मध्य की गन्ध को लेकर बहता है। उसीप्रकार सामान्य रूप से लिंगशरीर, मनसहित इन्द्रियों को ग्रहण करके एक शरीर का परित्यागकर जीवन्मुक्त दूसरे शरीर में प्रवेश करता है,क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के विनष्ट होने तक उसे इस संसार में रहना पड़ता है। अन्त में जोवन्मुक्त के न केवल प्रारब्धकर्मों के उपभोग से स्थूल–शरीर, अपितु अज्ञान के हेतु रूप में अविद्यमान होने के कारण सूक्ष्म–शरीर ,यहाँ तक कि ज्ञान के उदय से कारण–शरीर भो विनष्ट हो जाता है।''

इसप्रकार तीनों शरीरों के समाप्त होने से साधक देहमुक्त होकर परमब्रह्म , जिसे यहाँ परमशिव की संज्ञा प्रदान की गयी है, में विलीन हो जाता है। इसे अन्य आचार्यों ने तप्त तवे पर गिरी जल की बूँद के उदाहरण द्वारा एवं समुद्र में उठने वाली लहरों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिसप्रकार तवे पर गिरी जल की बूँद उसी में समा जाती है अपना अस्तित्व पूरी तरह समाप्त कर देती है तथा लहरों के समुद्र में समा जाने पर समुद्र और लहरों में किसी प्रकार का कोई भद नहीं रह जाता है, ठीक उसीप्रकार जीवन्मुक्त एवं परम शिव में कोई भद नहीं रहता है।

यदि जीवन्मुक्त की पूजा आदि के विषय में हम विचार करे तो इसके आचरण के समान ही इसका पूजा कार्य भो विलक्षण होता है,क्योंकि सम्पूर्ण विश्व ही इसका भावशरीर है और उसे यह अपने शरीर से अभिन्न मानकर अपने शरीर के समान ही उसे अपने देवता का घर स्वीकार करता है, क्योंकि यही उसके लिए स्वतन्त्र स्वात्म महेश्वर का घर अर्थात् भोग्य का अधिष्ठान होता है। जिसे ग्रन्थकार ने छत्तीस तत्त्वों से भरा हुआ बताया है –

षट्विंशत्तत्त्वभृतं विग्रहरचनागवाक्षपरिपूर्णम्।
निजमन्यदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम्।। 74 ।।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार देवमन्दिर में अन्धकार दूर करने के लिए वातायन एवं गवाक्षादि होते हैं । ठीक उसी प्रकार शरीररूपी देवमन्दिर में इन्द्रियाँ गवाक्ष का कार्य करती हैं। इन्हीं के माध्यम से साधक अपने अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने में समर्थ होता है।

सामान्य व्यक्ति देवमन्दिर में पुष्पादि द्वारा पूजन संपादित करता है किन्तु यह साधक तो अपने शरीररूपी देव मन्दिर में हेय उपादेय के भद का परित्याग करके श्रोत्रादि इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवियों द्वारा बिना किसी प्रयास के सहज ही लाए हुए शब्दादि पाँच विषयों का बाहर से हटकर , अन्तःकरण में चमत्कार का अनुभव करते हुए अपनी आत्मा के साथ भद स्थापित कर लेता है।इसप्रकार प्रत्येक विषय को ग्रहण करते समय इसका अन्तःकरण अभद की अनुभ्ति से हमेशा चमत्कार की अनुभ्ति करता रहता है और इसके अन्तःकरण में प्रतिक्षण पूर्ण अहन्ता का स्फुरण होता रहता है, जो इसके अपने आत्मदेवता का पूजन कहलाता है–

तत्र च परमात्ममहाभैरवशिवदेवतां स्वशक्तियुताम्।
आत्मामर्शनविमलद्रव्यैः परिपूजयन्नास्त ।। 75 ।।

इसी बात को साधक अपनी स्तुति में इसप्रकार निबद्ध करते है – '' नित्य बन्धन हीन प्रयत्नों से लाए गये जगत् के पदार्थों के उपहार को अर्पण करने में व्यग्र तैजसी अर्थात् चक्षु संबन्धिनी इन्द्रिय शक्ति आदि द्वारा आपका तर्पण किया जाता है । अतः मांस, रुधिर, चर्बी और अस्थियों के उभार से भरे श्मशानगृह रूपी शरीर में संसार निशा में घूमने में वीर आप मुझे अपना भरव रूप प्रदर्शित कीजिए ।''

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे हाथ में रखे हुए कपाल द्वारा पान किया जाता है। ठीक उसीप्रकार साधक द्वारा वेद्यखण्ड रूपी कपाल से विश्व का रसासव चक्षु आदि की चेतना की किरणों से खींचकर पिया जाता है,क्योंकि योगी सदैव पाँच विषयों को इन्द्रिय रूपी देवताओं के माध्यम से खींचकर ही युक्ति द्वारा अपने चैतन्य भरव में अनवच्छिन्न विश्रान्ति का सेवन करता हुआ अन्तिम क्षण तक उपदेश के अनुसार अद्वय की दृष्टि का निर्वाह करता है।

22.5 जीवन्मुक्त की स्थिति

जैसा कि हम पूर्व में भो उल्लेख कर चुके हैं कि जीवन्मुक्त का शरीर उसके प्रारब्धकर्मों के भोग तक ही स्थित रहता है, क्योंकि प्रारब्धकम के उपभोक्ता शरीर के नष्ट हो जाने पर ही जीवन्मुक्त को 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। इस जीवन्मुक्त का हृदय अपनी शरीर धारण अवस्था में शिव के पूर्ण शक्तिपात से अनुगृहीत हो जाता है,देहादि में प्रमातृ भाव के अभिमान को हटाकर यह अपने को शिवमय चिदानन्दैकघन मान लेता है।

अतः आत्म–महेश्वरभाव से ओतप्रोत यह प्रमाता शिव के समान ही सभो में व्याप्त हो जाता है। उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु इस संसार में विद्यमान नहीं रहती है ,क्योंकि इसका तो द्वैतभाव ही पूर्णतया समाप्त हो जाता है। यह निर्मल चैतन्य सभो से परे ज्ञातृत्व और कतृत्व स्वरूप विस्तृत उदय और प्रलय से रहित प्रकाशमय हो जाता है। जिसे ग्रन्थकार ने सत्संकल्प की संज्ञा प्रदान की है–

यदि पुनरमलं बोधं सर्वसमुत्तीर्णबोद्धृकर्तृमयम् ।
विततमलस्तमितोदितभारूपं सत्यसंकल्पम् ।। 64 ।।

यह जीवन्मुक्त काल, दिशा की पकड़ से रहित , ध्रुव, अविनाशी ,ईश्वर, सुपरिपूर्ण आदि अनेक शक्तिसमूहों की उत्पत्ति और लय करने वाले सृष्टि आदि के विधान के निपुण विधाता आत्मा को शिवमय जान लेता है –

दिक्कालकलनविकलं ध्रुवमव्ययमीश्वरं सुपरिपूर्णम् ।
बहुतरशक्तिव्रातप्रलयोदयविरचनैककर्तारम् ।। 65 ।।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में एक बात और विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जीवन्मुक्त का चिन्तन कुछ इसप्रकार का हो जाता है कि–

'' मैं ही चिन्मय स्वरूप,सभो प्रमाताओं में अन्तरतम होने से सभो कर्मों का करने वाला अर्थात् कर्ता नहीं हूँ। परमेश्वर की स्वातन्ष्य शक्ति ही यह सब करने वाली है ।''

इस दृष्टि से ज्ञानी का अभिमान सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस बात को यज्ञ करने और कराने वाले के उदाहरण द्वारा सहज ही समझाया जा सकता है ,क्योंकि त्विक् जब यजमान

के लिए यज्ञ करता है तो वह यह जानता है कि यह कम मेरा नहीं है,अपितु यजमान का है। ऐसा विचारकर यज्ञादि कम के प्रति उसकी किसी प्रकार के भो फल की भावना उस यज्ञ के प्रति नहीं रहती है। अतः यह कम पारलौकिक फल नहीं देता है । हाँ इस यज्ञ–कम से प्राप्त होने वाली दक्षिणा मात्र उसे प्राप्त होती है, अन्य कुछ भो नहीं । इस यज्ञ कम से स्वर्गादि फल का भागी केवल यजमान ही होता है–

इति युक्तिभिरपि सिद्धं यत्कम ज्ञानिनो न सकलं तत्।
न ममेदमपि तु तस्येति दार्ढ्यतो न हि फलं लोके ।। 67।।

इसप्रकार भावना की वायु से प्रतिबुद्ध हुआ ज्ञानी अपने सम्पूर्ण विकल्पों को प्रदीप्त हुई आत्मज्योति में आहुत करते हुए स्वयं ज्योतिर्मय हो जाता है–

इत्थं सकलविकल्पान् प्रतिबुद्धो भावनासमीरणतः।
आत्मज्योतिषि दीप्ते जुह्वज्ज्योतिर्मयो भवति।। 68।।

ऐसा यह जीवन्मुक्त चाहे जो कुछ भो खाने को मिल जाए उसे निरपेक्ष भाव से खा लेता है , चाहे वह पवित्र, अपवित्र, खराब, सड़ा,गला अथवा स्वादिष्ट अन्न ही क्यों न हो । उसमें उसकी रति –विरति कुछ भो प्रदर्शित नही होती है। इसीप्रकार चाहे उस अन्न को कथरी ,चमड़े, वल्कल, कपास अथवा फिर चमचमाते हुए रेशमी वस्त्र द्वारा ही क्यों न ढ़का गया हो। इन दोनों ही स्थितियों में उसकी कोई तृष्णा अथवा वितृष्णा नहीं रहती है। वह तो न किसी से द्वेष करता है और न की किसी की स्तुति ही करता है। वह तो सुख, दुःखादि विकल्पों से सर्वथा परे हो जाता है।

उसके लिए श्मशान, आश्रम ,तीर्थ आदि सभो समान हो जाते हैं। अतः यह बिना यतन किये जो कुछ भो प्राप्त कर लेता है, उसे निरपेक्ष भाव से ग्रहण कर लेता है । पवित्र अपवित्र की कल्पना उसे छू नहीं पाती है। इसप्रकार अपने व्यवहार से दूसरों के कल्याण में प्रवृत्त हुआ वह ज्ञानी अपना समय व्यतीत करता हुआ 'सर्वथा मुक्त हो जाता है' , इसी को यहाँ ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त की संज्ञा प्रदान की है। (द्रष्टव्य–श्लोक संख्या 69)

जीवन्मुक्त की स्थिति के सम्बन्ध में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यह भले ही सैकड़ों ,हजारों अश्वमेध यज्ञ क्यों न कर ले अथवा फिर लाखों ब्रह्म हत्याएँ ही क्यों न कर दे, परमार्थ को जानने वाले इस मलरहित अर्थात् ज्ञानी को मल अर्थात् पाप छू भो नहीं पाता है। जिसे ग्रन्थकार कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं–

हयमेधशतसहस्राण्यपि कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ।। 70 ।।

इसका महत्त्वपूर्ण कारण यही है कि इसके आणव , मायीय और कार्मकम रूप त्रिविध मल ,जिन्हें संसरण का कारण माना गया है, पूर्णतः विनष्ट हो गये हैं ।इसलिए जो मलिन प्रमाता है , उसका तो विनाशी देहादि में प्रमातृभाव होने के कारण स्वकीय भाव विद्यमान रहता है । इसीकारण वह ये मेरे हैं , यह शुभ है इत्यादि अभिमान की स्थिति के कारण उस कम के पाप पुण्यादि से सम्बद्ध होता है ,किन्तु जिसके कमफलों का संचय ममत्व का हेतु मलराशि ही पूर्णतया विनष्ट हो गया है । उसे उसमें कम का अभिमान न होने से उसके पाप अथवा पुण्य की प्राप्ति नहीं होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भो भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि –

''जिसका मैं कर्ता हूँ , ऐसा भाव नहीं है , जिसकी बुद्धि कर्मों में लिप्त नहीं होती है,वह इन लोकों को मारकर भो नहीं मारता है और न ही पाप से बँधता है।''

जीवन्मुक्त की स्थिति उसकी दैनिक चर्या के विषय में विचार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि – '' जीवन्मुक्त मद, हर्ष, कोप, कामदेव, विषाद, भय, लोभ, मोह आदि को पूर्णतया छोड़ देता है । उसे स्तोत्र और वषट्कार में भो कोई अभिरूचि नहीं होती है । वह तो जड़ के समान विभिन्न प्रकार के वादों से अपनी बुद्धि न लगाता हुआ इस संसार में विचरण करता है–

मदहर्षकोपमन्मथविषादभयलोभमोहपरिवर्जी ।
निःस्तोत्रवषट्कारो जड इव विचरेदवादमतिः ।। 71।।

जीवन्मुक्त का आचरण तो सामान्य व्यक्ति को पागल की भाँति प्रतीत होता है ,क्योंकि जड के समान आचरण करता हुआ वह संसार में प्रचलित वादों में स्वयं को नहीं लगाता है । इसीप्रकार यह उचित है अथवा अनुचित ऐसी भावना से भो स्वयं को सर्वथा अलग कर लेता है। वह न तो स्वयं के लिए उपदेश चाहता है और न ही स्वयं को किसी को उपदेश देने के लिए प्रस्तुत करता है। इसप्रकार पूर्ण वशी बनकर सबको ब्रह्म रूप में ही देखता हुआ खेल रूप में विचरण करता है।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि जीवन्मुक्त को अपने ब्रह्म विषयक ज्ञान का लेशमात्र भो अहंकार नहीं होता है और न ही उसे किंचिद् भो इस सम्बन्ध में हर्ष की अनुभति होती है,क्योंकि मदादि वर्ग इसे छू भो नहीं पाते हैं, जिसे ग्रन्थकार ने कारिका के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की है –

मदहर्षप्रभृतिरयं वर्गः प्रभवति विभेदसंमोहात् ।
अद्वैतात्मविबोधस्तेन कथं स्पृश्यतां नाम ।। 72 ।।

इसके अतिरिक्त अद्वयज्ञान स्वरूप ज्ञानी, जिसे यहाँ जीवन्मुक्त की संज्ञा प्रदान की गयी है , के लिए कोई भो देवता न स्तुत्य होता है और न ही होतव्य होता है ,अपितु उस स्वयं से भिन्न ही वस्तुतः कुछ नहीं होता है । इसलिए कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति उसपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है –

स्तुत्यं वा होतव्यं नास्ति व्यतिरिक्तमस्य किंचन च ।
स्तोत्रादिना स तुष्येन मुक्तस्तन्निर्नमस्कृतिवषट्कः ।। 73 ।।

जीवन्मुक्त अपने अथवा दूसरे के शरीर या फिर सामान्य घट आदि को वह अपने देवता का घर मानता है। इसलिए वह किसी देवमन्दिर में नहीं जाता है और न ही किसी प्रकार की पूजा पाठादि करता है।

22.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. भिन्नाज्ञानग्रन्थिः – जिसकी अज्ञान की गांठ खुल चुकी है अर्थात् जिसका अज्ञान समाप्त हो गया हो।
2. गतसन्देहः – जो सन्देह रहित हो।
3. पराकृतभ्रान्तिः – जिसका भ्रम दूर हो गया हो।
4. प्रक्षीणपुण्यपापो – जिसके पुण्य और पाप क्षीण हो चुके हैं।
5. विग्रहयोगेऽपि – शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर भी।
6. सर्वभूतात्मा – सभी जीवों की आत्मा स्वरूप वह जीवन्मुक्त है/परमशिव।
7. परमार्थविद् – परमार्थ को जानने वाला।

22.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए और अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से मिलाइये ।

1. फल की दृष्टि से कर्मों को कितनी श्रेणियों में बाँटा गया है ?
2. संचित कर्मों की परिभाषा दीजिए ?
3. क्रियमाण कम कौन से है ?
4. प्रारब्ध कर्मों को परिभाषित कीजिए ?
5. प्रमाता कमबन्धन से छुटकारा कैसे प्राप्त कर सकता है ?
6. ब्रह्मज्ञान होने पर भी साधक को संसार में क्यों रहना पड़ता है ?
7. जीवन्मुक्त के द्वारा किए गए पाप–पुण्यों का फल उससे क्यों नहीं जुड़ता है?
8. जीवन्मुक्त किसे कहते हैं ?
9. जीवन्मुक्त के बन्धन का कारण ....है और मोक्ष का कारण.............है।
10. ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त के कर्मों के दग्ध होने की उपमा किससे दी है ?

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1. फल की दृष्टि से कर्मों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है । संचित कम, क्रियमाण कम, प्रारब्ध कम । देखिए इकाई 22.2
2. अनादिकाल से किए गये, जिनका फल अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है , 'संचित कम' कहलाते हैं। देखिए इकाई 22.2
3. मन ,वाणी, कम द्वारा वर्तमान जन्म में किए जा रहे कम 'क्रियमाण कम' की कोटि में आते हैं। क्रिया पूर्ण होने पर ये ही संचित कर्मों की श्रेणी में आ जाते हैं। देखिए इकाई 22.2
4. चिरकाल के संचित कम जब फलोन्मुख होकर शुभाशुभ फल प्रदान करने मे तत्पर हो जाते हैं, उन्हें 'प्रारब्ध कम' कहा जाता है। देखिए इकाई 22.2
5. कमबन्धन से छुटकारा ज्ञान के उदय द्वारा किया जा सकता है। देखिए इकाई 22.3
6. ब्रह्मज्ञान होने पर प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के लिए साधक को संसार में रहना पड़ता है।
7. जीवन्मुक्त के द्वारा किये गये पाप–पुण्यों का फल शरीर के प्रति अभिमान न होने के कारण नहीं जुड़ता है।
8. देखिये इकाई 22.3।
9. जीवन्मुक्त के बन्धन का कारण अज्ञान है और मोक्ष का कारण ज्ञान है।
10. ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त के कर्मों के दग्ध होने की उपमा अग्नि में भुने हुए बीज से दी है ?

22.8 सारांश

शरीरधारी जिस जीव का अज्ञान, संदेह, भान्ति समाप्त हो गई हो, पुण्य–पाप नष्ट हो गये हों, प्रारब्ध को छोड़कर शेष संचित और क्रियमाण कम फलदायी नहीं हो ऐसा शिव भावना की वायु से प्रतिबुद्ध आत्मज्ञानी ज्योतिर्मय हो जीवन्मुक्त कहलाता है।

वह मुक्त होकर खाने–पीने, पहनने–ओढ़ने, रहने–सोने के बन्धनों से निवृत्ति पा लेता है, सहज हो जाता है, उसके मनोविकार मद, हर्ष, क्रोध, विषाद, भय, लोभ और मोह सभो छूट जाते हैं, उसे स्तोत्र या वषट्कार की अपेक्षा भो नहीं रहती और वह स्तुति और निन्दा से परे हो जाता है मानो जड़, अचेतन हो।

जीते हुए भो, शरीर रहते हुए भो आत्मज्ञ होने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

22.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. परमार्थसार ,सम्पादक डॉ.कमला द्विवेदी मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली 1994.
2. परमार्थसार ,सम्पादक राघवानन्द अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि,त्रिवेन्द्रम्, 1974.
3. परमार्थसार, योगराजकृत विवृत्त सहित काश्मीर ग्रन्थावलि,7 श्रीनगर, 1985.
4. परमार्थसार, सम्पादक सूर्यनारायण शुक्ल अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस 1976.
5. भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र हिन्दी समिति,सूचना विभाग ,उ.प्र.लखनऊ 1989.
6. भारतीय दर्शन, बलदव उपाध्याय,शारदा मन्दिर , बनारस, 1942

इकाई 23

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

23.3 सांख्य दर्शन में प्रामाण्यवाद

23.4 न्याय दर्शन में प्रामाण्यवाद

23.5 बौद्ध दर्शन में प्रामाण्यवाद

23.6 मीमांसा दर्शन में प्रामाण्यवाद

23.7 पारिभाषिक शब्दावली

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.9 सारांश

23.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

23.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद की अवधारणा से परिचित होंगे।
- ज्ञान के अर्थतथात्व का परिचय प्राप्त करेंगे। (अयथार्थत्व) व अर्थातथात्व (यथार्थत्व)
- विभिन्न दर्शनों में प्रामाण्य के स्वतस्त्व व परतस्त्व का विश्लेषण करेंगे।

23.1 प्रस्तावना

दार्शनिक अध्ययन-क्षेत्र में ज्ञानमीमांसा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भारतीय चिन्तन-परम्परा में ज्ञान को केन्द्रस्थानीय महत्ता प्राप्त है। भारतीय मानस में ज्ञान की महत्ता का निदर्शन शास्त्रादिकों में पदे-पदे होता है। ज्ञान को सभी व्यवहारों का हेतुरूप कहा गया है – "सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम्" (अन्नंभट्टकृत तर्कसङ्ग्रह)। समस्त मानवीय व्यवहार ज्ञानपूर्वक ही होते हैं, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हम उसी वस्तु का व्यवहार कर सकते हैं जिसका हमें ज्ञान हो।

बाह्यवस्तुजगद्विषयक विभिन्न प्रश्नों व जिज्ञासाओं का समाधान तो ज्ञान के द्वारा होता है परन्तु जब स्वयं ज्ञान ही जिज्ञासा का विषयवस्तु बनता है तो यह जिज्ञासा एक जटिल व गूढ़ तार्किक समस्या में

रूपान्तरित हो जाती है। ज्ञान के स्वरूप निर्धारण की समस्या दर्शन की दुरूहतम व गम्भीरतम समस्याओं में से एक है।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की ग्रहण-प्रक्रिया व विपर्ययादि भ्रम ज्ञान के विश्लेषण के पश्चात् यह विचार करना भी अपेक्षित प्रतीत होता है कि किसी ज्ञान की सत्यता का परीक्षण कैसे किया जाये ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रमा अर्थात् सत्यज्ञान के प्रमात्व अर्थात् सत्यत्व व अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान के अप्रमात्व अर्थात् मिथ्यात्व का निश्चय कैसे किया जाये ? ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा यथार्थता का विवेक कैसे हो ? ज्ञान को प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक मानने का आधार या कसौटी क्या हो ?

भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत इसी प्रश्न का विचार किया गया है। ज्ञान के प्रामाण्य अर्थात् यथार्थता के कारण के विषय में जो वाद अर्थात् सिद्धान्त प्रचलित हुआ वह प्रामाण्यवाद के नाम से अभिहित है। 'प्रामाण्य' शब्द 'प्रमाण' शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है [45], इसकी व्युत्पत्ति होती है – "*प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यम्*" अर्थात् प्रमाण के भाव को प्रामाण्य कहा जाता है। 'प्रमाण' शब्द करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर[46] प्रमा के असाधारण कारण का बोधक होता है और भाव अर्थ में 'ल्युट्' करने पर[47] प्रमिति का बोधक होता है। इस स्थल पर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य में प्रमाण व अप्रमाण की प्रकृति क्रमशः प्रमा तथा अप्रमा शब्द से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होती है। इस प्रकार प्रामाण्य शब्द से प्रमा में रहने वाला प्रमात्व या अर्थतथात्व और अप्रामाण्य शब्द से अप्रमा में रहने वाला अप्रमात्व अथवा अर्थाऽतथात्वरूप धर्म अभिहित होता है।

इस प्रकार यथार्थत्व को प्रामाण्य तथा अयथार्थत्व को अप्रामाण्य कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जो वस्तु जिस धर्म से युक्त है उस वस्तु में उसी धर्म का विशेषण रूप से अवगमन होना प्रमात्व या अर्थतथात्व है और उस ज्ञान को यथार्थज्ञान या प्रमा कहा जाता है। उदाहरणार्थ – रजतरूप पदार्थ रजतत्व धर्म से युक्त है अतः रजत में रजतत्व का विशेषणरूप से ज्ञान होना प्रमात्व या अर्थतथात्व है। अतः रजत में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रमा अर्थात् सत्यज्ञान कहलाता है। इसके विपरीत जो वस्तु जिस धर्म से युक्त नहीं है उसमें उस धर्म का विशेषणरूप से ज्ञात होना अप्रमात्व या अर्थाऽतथात्व है और ऐसा ज्ञान अप्रमा कहलाता है। उदाहरणस्वरूप- शुक्तिका में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अतथाभूत है, अतः अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में मूल रूप से दो मत प्राप्त होते हैं – स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद। इसी प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्यविषयक मतों को भी मूलतः द्विधा विभाजित किया जाता है – स्वतः अप्रामाण्य तथा परतः अप्रामाण्य। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने

---

[45] "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥"
-पाणिनि अष्टाध्यायी, ५/१/१२४.

[46] "करणाधिकरणयोश्च ॥"
- पाणिनि अष्टाध्यायी, ३/३/११७.

[47] "कृत्यल्युटो बहुलम् ॥"
- पाणिनि अष्टाध्यायी, ३/३/११३.

अपनी-अपनी स्थापनाओं के अनुसार प्रामाण्यविषयक अवधारणा का विश्लेषण किया है। जिस दार्शनिक सम्प्रदाय की यह स्थापना है कि ज्ञान में उसका उसका प्रामाण्य भी रहता है, उसे स्वतः प्रामाण्यवादी कहा गया है तथा जिस दार्शनिक सम्प्रदाय की यह स्थापना है कि ज्ञान की यथार्थता के लिये किसी अन्य बाह्य तत्त्व की अपेक्षा होती है, उसे परतः प्रामाण्यवादी कहा गया है। इसी प्रकार का विभाजन ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में भी किया गया है।

पुनः ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य में स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार उत्पत्ति व ज्ञप्ति के आधार पर किया जाता है। प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत ज्ञान के प्रामाण्य के निर्धारण का प्रश्न दो प्रकार से उत्पन्न होता है – ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है ? तथा ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति (ज्ञान/बोध) कैसे होती है ? इसी प्रकार अप्रामाण्य के विषय में भी दो प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं – ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है ? तथा ज्ञान के अप्रामाण्य की ज्ञप्ति कैसे होती है ?

ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्यविषयक इन द्विविध प्रश्नों का उत्तर भी द्विविध है – ज्ञान के प्रामाण्य का उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व निर्धारित किया जाता है तथा ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व निर्धारित किया जाता है।

ज्ञान के उत्पत्तिगत अर्थात् उत्पत्ति के आधार पर स्वतः प्रामाण्य व स्वतः अप्रामाण्य का तात्पर्य है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी कारण-सामग्री से उसके प्रामाण्य व अप्रामाण्य का भी निर्धारण होता है, अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान के ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य व स्वतः अप्रामाण्य का तात्पर्य है कि जिस साधन-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी साधन-सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। अर्थात् इस दृष्टि से ज्ञान के अन्दर ही उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अवस्थित रहता है, प्रामाण्यके निर्धारण के लिये किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होती।

ज्ञान के उत्पत्तिगत परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य का आशय है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न कारण-सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ज्ञप्ति (बोध) के आधार पर परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य का अर्थ है कि जिस साधन-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे भिन्न सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का ग्रहण होता है। अर्थात् प्रामाण्य या अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु अन्य बाह्य साधन की आवश्यकता स्वीकार करनी पडती है।

प्रामाण्यवाद की विवेचना में उपर्युक्त दो प्रविधियों के माध्यम से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में विचार किया जाता है। इस आधार पर प्रामाण्यविषयक विवेचन को हम ज्ञान की यथार्थता की कसौटी भी कह सकते हैं।

23.2 भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद की अवधारणा मूलतः वेदों के प्रामाण्य के प्रश्न पर आधारित होकर ही विकसित हुई है। भारतीय दर्शन परम्परा में आस्तिक व नास्तिक दर्शन के विभेद से दो चिन्तन-धारायें समृद्ध हुयी हैं। नास्तिक दर्शनों ने वेद का सर्वतः प्रामाण्य नहीं माना है, जबकि आस्तिक दर्शन वेद को ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार मानते हुये इसकी परम-प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। इस

प्रकार भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के प्रामाण्य से सम्बन्धित मूल प्रश्न यही उपस्थित हुआ कि "वेद-विहित ज्ञान को सत्य किस आधार पर स्वीकार किया जाये ?" अथवा "वेद-वाक्य यथार्थज्ञान प्रमा की उपलब्धि कराते हैं – इस विषय के निर्धारण में प्रमाण क्या है ?" इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का विचार ज्ञान की यथार्थता का विचार कहा जा सकता है।

प्रामाण्य व अप्रामाण्य के स्वतस्त्व व परतस्त्व के निर्धारण में विभिन्न दर्शनों में मतवैषम्य दृष्टिगोचर होता है। इनमें से चार दर्शनों के प्रामाण्य-विचार को विश्लेषकों ने प्रमुखतया आलोचित किया है। ये विचार निम्नलिखित हैं :-

१. स्वतः प्रामाण्य व स्वतः अप्रामाण्य -	सांख्य दर्शन।
२. परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य -	न्याय दर्शन।
३. स्वतः अप्रामाण्य व परतः प्रामाण्य -	बौद्ध दर्शन।
४. स्वतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य -	मीमांसा दर्शन।

सर्वदर्शनसङ्ग्रहकार माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में प्रामाण्यविषक इन मतों को निम्नलिखित कारिका में सङ्कलित किया है –

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिता

नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः

प्रथमं परतः प्राहुः, प्रामाण्यं वेदवादिनः

प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।

अर्थात् सांख्य दर्शन के आचार्यों ने ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः माना है, नैयायिकों ने प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को परतः माना है। सौगतों ने अर्थात् बौद्धों ने दूसरे को अर्थात् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रथम को अर्थात् प्रामाण्य को परतः माना है। वेदवादियों ने अर्थात् मीमांसकों ने प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः माना है।

इन चार वर्गीकरणों में प्रामाण्यवादविषयक भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के मत अनर्भूत हो जाते हैं। यद्यपि जैन आदि दार्शनिक-सम्प्रदायों ने भी प्रामाण्यवाद के विषय में अपने सिद्धान्त उपस्थापित किये हैं, तथापि अधययन-अनुशीलन की दृष्टि से उपर्युक्त मतचतुष्टय ही सर्वाधिक प्रचलित रहा है।

23.3 सांख्य दर्शन में प्रामाण्यवाद

सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी दर्शन है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनो स्वतः उत्पन्न तथा स्वतः गृहीत होते हैं। सांख्यों के अनुसार जिस कारण-सामग्री से कोई ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी कारण-सामग्री में उस ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य भी अन्तर्भूत होता है।

अर्थात् किसी ज्ञान का सत्य अथवा मिथ्या होना उस ज्ञान के कारण-सामग्री के ऊपर ही निर्भर होता है, उस ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु किसी अन्य बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं होती।

ध्यातव्य है कि सांख्य सत्कार्यवादी हैं। सांख्यों का स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त भी सत्कार्यवादी कारण-कार्य सिद्धान्त पर ही आधारित है। कहा भी जाता है कि सांख्याभिमत स्वतः प्रामाण्यवाद एवं स्वतः अप्रामाण्यवाद सांख्यों के कारणतासिद्धान्त सत्कार्यवाद की अनिवार्य परिणति है। सांख्यों का मानना है कि कार्य अपने कारण में सत् होता है, इसी आधार पर वे कहते हैं कि प्रामाण्य भी ज्ञान में ही निहित होता है। सांख्यसूत्र में भी कहा गया है कि निज शक्ति से ही अभिव्यक्त होने से ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य निश्चित होता है – निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।[48] यद्यपि यह सूत्र वेद के विषय में स्वतःप्रामाण्य का प्रतिपादन करता है तथापि इसे उपलक्षण मानकर अन्य ज्ञानों के भी स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि की गयी है। सांख्यमत में कार्य अनभिव्यक्त कारण की ही अभिव्यक्तावस्था है। कार्य अपने कारण में ही अनभिव्यक्त रूप से निहित रहता है। कार्य-कारण में कोई शक्तिभेद नहीं होता, केवल अवस्थाभेद होता है। प्रामाण्य-अप्रामाण्यरूप कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारणरूप तत्तद् ज्ञानों में विद्यमान (सत्) रहते हैं। अतः सत्कार्यवाद के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की उत्पत्ति व ज्ञप्ति स्वतः ही माननी पड़ेगी। यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्यमत में उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्तिमात्र है।

सांख्यों का सिद्धान्त है कि जो अविद्यमान है, उसकी किसी भी प्रकार से अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, यथा शशश्रृङ्ग(खरगोश के सींग जो अत्यन्त अविद्यमान हैं) ; अतः जो भी कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है उसे अपने कारण में पहले से ही सत् मानना चाहिये। इस प्रकार प्रामाण्य व अप्रामाण्य भी अपने कारणभूत ज्ञान में स्वतः विद्यमान होते हैं, वे उसी कारणसामग्री से उद्भूत होते हैं जिससे वह ज्ञान उद्भूत होता है और इनकी अभिव्यक्ति भी स्वतः ही होती है, कारणान्तर की अपेक्षा से नहीं। यदि किसी ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वयं ही उस ज्ञान में अनभिव्यक्त दशा में स्थित नहीं होंगे तो इनकी उत्पत्ति भी कालान्तर में कभी सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण का प्रकाशनमात्र होता है।

सांख्य तत्त्वमीमांसा के अनुसार प्रकृति से सर्वप्रथम विकाररूप में महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्थारूपी प्रकृति का विकार होने से यह बुद्धितत्त्व भी त्रिगुणात्मक होता है। ज्ञान पुनः इस त्रिगुणात्मिका बुद्धि की वृत्ति है अर्थात् बुद्धि ही ज्ञान का निशचयात्मक रूप धारण करती है, अतः ज्ञान में भी ये तीनों गुण होते हैं। जब ज्ञान में सत्त्व की प्रधानता होती है तो वह ज्ञान यथार्थ अथवा प्रामाणिक हो जाता है तथा जब उसमें तमस् की प्रधानता होती है तो वह अयथार्थ अथवा अप्रामाणिक हो जाता है। पुनः जिस ज्ञान में रजस् की प्रधानता हो वह ज्ञान सन्दिग्ध हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि में ये तीन गुण सदैव विद्यमान रहते हैं, अतः ज्ञान में भी प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों ही सदैव विद्यमान रहते हैं। सांख्यों के इस मत की व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका में उल्लेख करते हैं कि (सांख्यमतानुसार) जिस प्रकार माष (एक प्रकार की दाल) का सेवन परस्पर विरुद्ध - पित्त व कफ दोनों को उद्भूत करता है उसी प्रकार प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों, ज्ञानरूप कारण के कार्य होने से, स्वतः ही अभिव्यक्त होते हैं। कारणमात्र में अपने

[48] "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥"
-सांख्यसूत्र, ५/१.

कार्य को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य स्वभावतः विद्यमान होता है, अतः उससे भिन्न किसी दूसरे कारण का अन्वेषण करना अनपेक्षित है।[49]

अपने स्वतः प्रामाण्यवाद व स्वतः अप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त के समर्थन में तर्क देते हुये सांख्य-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं माना जाये तो परतः प्रामाण्यवादियों के मत में प्रामाण्य व अप्रामाण्य का निर्धारण करने के लिये जो अतिरिक्त कारणों की कल्पना करनी पड़ेगी, उससे प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त में अनावश्यक कल्पनागौरव दोष उपस्थित होगा। अतः ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य को स्वतः उत्पन्न व स्वतः गृहीत मानना ही निरापद व अभीष्ट है।

23.4 न्याय दर्शन में प्रामाण्यवाद

यद्यपि सांख्य दर्शन के समान ही न्याय दर्शन भी आस्तिक दर्शन है तथा वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करता है तथापि प्रामाण्यवाद के सन्दर्भ में सांख्यों से बिल्कुल विपरीत नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों परतः उत्पन्न व गृहीत होते हैं। नैयायिकों के मत में उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों की दृष्टि से ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु अन्य बाह्य कारण-सामग्री की अपेक्षा होती है।

प्रमाणशास्त्रीय नैयायिक मानते हैं कि किसी ज्ञान की कारण-सामग्री में गुण के अवगमन तथा प्रवृत्ति-साफल्य से उसके प्रामाण्य की परतः स्थापना होती है तथा किसी ज्ञान की कारण-सामग्री में दोष के अवगमन तथा प्रवृत्ति-वैफल्य से उसके अप्रामाण्य की परतः सिद्धि होती है। इस प्रकार न्यायमत में ज्ञानों के प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों ही ज्ञान के कारणों से पृथक कारणों की अपेक्षा रखते हैं।[50]

नैयायिकों के मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को ज्ञान के कारणों के गुण व दोष के आधार पर निर्धारित किया जाता है। किसी ज्ञान के प्रामाण्य उत्पत्ति में कुछ विशिष्ट गुणों के अवगमन की अपेक्षा होती है – उदाहरणार्थ पदार्थ के रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ के साथ चक्षुरीन्द्रिय का सन्निकर्ष सामान्य करण है तथा इसी रूप के ज्ञान के प्रामाण्य के निर्धारण में प्रकाश की यथेष्टता, चक्षुरिन्द्रिय की निरोगता और पदार्थ से चक्षुरीन्द्रिय की निकटता आदि विशिष्ट करणों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। इन विशिष्ट करणों को ही नैयायिकों ने गुणवान कारण कहा है तथा ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु यही विशिष्ट कारण अनुबन्धरूप होते हैं। कारण के गुण को जानकर जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द ज्ञानों का प्रामाण्य निर्धारित होता है, वहीं कारण के दोष के ज्ञान से इन चतुर्विध ज्ञानों का अप्रामाण्य निर्धारित होता है।

प्रामाण्य की परतः सिद्धि हेतु कारण के गुणों का व्याख्यान करते हुए नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप गुण के ज्ञान से सिद्ध होता है। यथा- रजतत्वरूप विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का ज्ञान होने पर 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रामाणिक होता है।

---

[49] "तत्र सर्वकारणानां स्वकार्यशक्तेः स्वाभाविकत्वादुभयमपि ज्ञानस्य स्वरसादेवावगम्यत इति केचित्"।
-शास्त्रदीपिका, पृ० ३२.

[50] "अतो द्वयमपि स्वस्वभावेनानिरूपितं कारणगुणदोषज्ञानाभ्यामवगम्यत इत्यपरे"।
- शास्त्रदीपिका, पृ० ३२-३३.

अनुमिति ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये साध्य से युक्त पक्ष में हेतु का परामर्श होना गुण है। उदाहरणार्थ – अग्निरूप साध्य से युक्त पक्षभूत पर्वत में हेतु का परामर्श होना 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के प्रामाण्य का कारण है।

अयं गवयपदस्य वाच्यः' इस उपमिति के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये 'गो सदृशो गवयः' वाक्य द्वारा गवय पद की शक्ति से प्रतिपादित अर्थ में सादृश्यज्ञान होना गुण है। शाब्दबोधरूप ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये योग्यता व तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान तथा वक्ता के आप्तत्व का निश्चय गुणरूप होता है। इस प्रकार चतुर्विध ज्ञानों के प्रामाण्य की सिद्धि परतः होती है।

ज्ञानों का अप्रामाण्य भी परतः ही माना गया है, जिस प्रकार कारण के गुणों के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है उसी प्रकार कारण के दोषों के आधार पर ज्ञान के अप्रामाण्य का निर्धारण होता है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान में अप्रामाण्य विभिन्न दोषों के कारण सिद्ध होता है। जैसे पित्तरोगादि इन्द्रियदोषों के कारण व्यक्ति को 'पीतः शङ्खः' की प्रतीति होती है। विषय में दूरादिदोष होने के कारण भी ज्ञान का अप्रामाण्य होता है, जैसे- "चन्द्रमा बहुत छोटा है" आदि स्थलों पर। इसी प्रकार अनुमिति में हेत्वाभास के ज्ञान के कारण अप्रामाण्य का निश्चय होता है। उपमिति ज्ञान में अतिदेश वाक्य की असत्यत्यता का बोध होने से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है तथा शाब्द ज्ञान में वक्ता के अनाप्तत्व का बोध होने से उसके अप्रामाण्य का निर्धारण हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान का अप्रामाण्य कारण में दोष के अभिज्ञान से परतः उत्पन्न होता है।

ज्ञान के ग्रहण के आधार पर अर्थात् ज्ञप्तिगत आधार पर भी नैयायिकों ने ज्ञान का परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य ही माना है। ज्ञप्ति के आधार पर ज्ञान के प्रमाण्य के निर्धारण हेतु नैयायिकों ने तीन प्रकार के हेतु माने हैं –

1. **प्रवृत्ति साफल्य –** नैयायिकों के अनुसार किसी विषय के ज्ञान के साथ ही ज्ञाता में उस ज्ञान से सम्बद्ध एक विशिष्ट प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। यदि कोई ज्ञान इस प्रवृत्ति के पोषण में समर्थ है तथा ज्ञाता की तद्विषयिनी प्रवृत्ति सफल हो जाती है तो उस ज्ञान को प्रवृत्ति साफल्य से युक्त प्रामाणिक ज्ञान माना जायेगा। जिस ज्ञान में प्रवृत्ति साफल्य न हो उसे अप्रामाणिक ज्ञान माना जायेगा। उदाहरणार्थ – रजत के ज्ञान से ज्ञाता में आभूषण निर्माण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि ज्ञाता वस्तुतः उससे आभूषण का निर्माण कर पाये तो उस रजतज्ञान को प्रवृत्ति साफल्य से युक्त यथार्थ ज्ञान माना जायेगा। जहाँ शुक्तिका का रजत के समान मिथ्या ज्ञान होता है वहाँ उस मिथ्याभूत रजतवत शुक्तिका से आभूषण निर्माण की प्रवृत्ति में सफलता नहीं प्राप्त होती अतः वह ज्ञान अयथार्थ सिद्ध हो जाता है।
2. **ज्ञानान्तर से संवाद का ज्ञान –** यदि किसी वस्तु के विषय में गृहीत कोई ज्ञान उसी वस्तु के विषय में गृहीत किसी अन्य ज्ञान से संवाद अर्थात् संगति रखता है तो इसे ही ज्ञानान्तर संवाद कहा जाता है। किसी ज्ञान के ज्ञानान्तर-संवाद ज्ञान को भी नैयायिक उस ज्ञान के प्रामाण्य के ग्रहण में हेतु मानते हैं। उदाहरणार्थ – "देवदत्त इस समय विद्यालय गया है" इस ज्ञान की संगति यदि "देवदत्त इस समय घर में नहीं है " इस ज्ञानान्तर से हो जाती है तो इन दोनों ज्ञानों में संवाद के कारण देवदत्त के विद्यालय जाने का ज्ञान प्रामाणिक होता है। परन्तु यदि "देवदत्त इस समय विद्यालय गया है" इस ज्ञान का "देवदत्त इस समय घर में है " इस ज्ञानान्तर से विसम्वाद हो जाये तो यह ज्ञान अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा।

3. **कारण के गुणयुक्त होने का ज्ञान–** किसी ज्ञान के कारण में गुण का ज्ञान ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण कराता है तथा कारण में दोष के ज्ञान से उस ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ – यदि शंख के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणरूप चक्षुरीन्द्रिय की निर्दुष्टता का ज्ञान हो तो शंख के श्वेतरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रामाणिक होता है तथा पीतशंख के ज्ञान में चक्षुरीन्द्रिय के पाण्डुरोग (पीलिया) से ग्रसित होने के कारण उस ज्ञान के अप्रामाण्य का ग्रहण होता है।

इस प्रकार न्यायमत में जिन कारणों से किसी वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति होती है, उन्हीं कारणों से तद्वस्तुविषयक उस ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति व ज्ञप्ति नहीं होती। ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य चूँकि अन्य बाह्य कारणों पर निर्भर माना गया है, अतः नैयायिकों को परतः प्रामाण्यवाद तथा परतः अप्रामाण्यवाद का सिद्धान्त अभीष्ट है।

23.5 बौद्ध दर्शन में प्रामाण्यवाद

बौद्धों का मानना है कि ज्ञान के अप्रामाण्य की स्वतःसिद्धि होती है तथा प्रामाण्य की परतः। यद्यपि बौद्धचार्य शान्तरक्षित अपने ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में प्रामाण्य की उतप्ति को अहैतुक मानते हैं, अर्थात् उत्पत्ति में किसी स्वतस्त्व, परतस्त्व या उभयतस्त्व के नियम को ही स्वीकार नहीं करते तथापि ज्ञप्ति के विषय में प्रामाण्य का परतस्त्व सभी आचार्यो को अभिमत है।

बौद्ध मानते हैं कि प्रामाण्य का अभाव ही अप्रामाण्य है और अभाव का कोई कारण नहीं होता क्योंकि वह अवस्तु है। जैसे शशश्रृंग का, अवस्तु होने के कारण, अत्यन्ताभाव होता है और उसका कोई कारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार अप्रामाण्य के भी अवस्तु होने के कारण उसका कोई कारण नहीं होता। अतः कारण की अपेक्षा से विरहित होने से ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वभावतः प्राप्त या स्वतःसिद्ध होता है। परन्तु प्रामाण्य चूँकि अवस्तु नहीं है, अतः इसकी उत्पत्ति के लिये कारणों की अपेक्षा होती है। ज्ञान का प्रामाण्य कारण-गुणों के ज्ञान से, संवादज्ञान से तथा अर्थक्रियाज्ञान से उत्पन्न होता है। अतः प्रामाण्य परतःसिद्ध होता है और अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध होता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी ज्ञान का अप्रामाण्य तो उस ज्ञान के साथ अनादिकाल से स्थित रहता है और जब अप्रामाण्य का निरोध हो जाता है तो प्रामाण्य उत्पन्न होता है – ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव अनादिकाल से रहता है और उस अत्यन्ताभाव के निषेध होने से उस वस्तु की उत्पत्ति हो जाती है। अतः अप्रामाण्य का कोई कारण नहीं होने के कारण यह स्वतः उत्पन्न व गृहीत होता है तथा अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनपूर्वक किसी क्रिया को सम्पादित करने की क्षमता) के ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने के कारण इसका परतस्त्व अभिप्रेत है।

आचार्य पार्थसारथि मिश्र बौद्धमत का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि (बौद्धों के अनुसार) अप्रामाण्य स्वतः होता है व प्रामाण्य संवादज्ञान आदि से होता है। ऐसा कहना ही युक्त है। ज्ञान के उत्पत्तिमात्र से अर्थतथात्व का निश्चय नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञान में व्यभिचार भी देखा जाता है। जैसे- 'इदं रजतम्' यह ज्ञान हुआ, किन्तु रजत की उपलब्धि न हो पाने से व्यभिचार स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पुरोवर्ती पदार्थ में दो धर्मियों में रहने वाले साधारण धर्म लम्बाई आदि को देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषोवेति' ऐसा संशय भी देखा जाता है। यदि ज्ञान का उत्पत्ति के साथ ही प्रामाण्य मान लिया जाये तो यह व्यभिचार व संशय नहीं होना चाहिये था। अतः ज्ञान को स्वतः अप्रामाण्य ही मानना चाहिये

। ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात कारणगुणज्ञान अथवा संवादज्ञान अथवा अर्थक्रियाज्ञान से प्रथमतः प्राप्त अप्रामाण्य के बाध के फलस्वरूप प्रामाण्य का ग्रहण परतः माना जाना चाहिये ।[51]

इस प्रकार बौद्ध मत में अवस्तु के रूप में अप्रामाण्य को कारणविहीन मानते हुए इसका स्वतस्त्व स्वीकार किया गया है तथा अन्य कारणों से उत्पन्न व गृहीत होने के कारण ज्ञान के प्रामाण्य का परतस्त्व माना गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्धों के उपर्युक्त स्वतः अप्रामाण्य व परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त से बौद्धाचार्य शान्तरक्षित का मतवैषम्य परिलक्षित होता है। आचार्य शान्तरक्षित व उनके अनुयायी बौद्धाचार्य प्रामाण्यवाद के विषय में अनियम के पक्ष की स्थापना करते हैं। अनियम को व्याख्यायित करते हुये आचार्य शान्तरक्षित स्पष्ट करते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि ऐकान्तिक व आत्यन्तिक रूप से ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य ही हो अथवा ऐकान्तिक व आत्यन्तिक रूप से ज्ञान का परतः प्रामाण्य ही हो। इनके मत में कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य तो स्वतः ही होता है – यथा – स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमिति ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान आदि का स्वतः प्रामाण्य होता है तथा कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य परतः होता है – यथा – वैदिक वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान, अर्थक्रियाकारित्व से युक्त ज्ञान आदि का परतः प्रामाण्य निर्धारित होता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य भी कहीं स्वतः निर्धारित होता है तो कहीं परतः। इस प्रकार बौद्धों का एक सम्प्रदाय प्रामाण्यवाद के विषय में अनियमवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है, परन्तु सामान्येन बौद्धों के स्वतः अप्रामाण्यवाद व परतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त को ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

23.6 मीमांसा दर्शन में प्रामाण्यवाद

मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः सिद्ध होता है। इस मत के विश्लेषण से पूर्व मीमांसा के प्राभाकर व भाट्ट सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत प्रमाण के लक्षण का विवेचन करना प्रासङ्गिक होगा क्योंकि मीमांसा में यथार्थज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि मिश्र ने स्पष्ट किया है कि अर्थतथात्व अर्थात् ज्ञापित अर्थ का तथाभूतत्व उस अर्थ के ज्ञान का प्रामाण्य होता है व अर्थान्यथात्व अर्थात् ज्ञापित अर्थ का अतथात्व ही अप्रामाण्य होता है ।[52]

प्राभाकर मीमांसक चूँकि ज्ञान का स्वयंप्रकाशन मानते हैं और यह कहते हैं कि सभी ज्ञान अनिवार्यतया ज्ञायमान ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वे अख्यातिवाद के निरूपण में यह भी स्पष्ट करते हैं कि उनके मत में स्मृतिभिन्न सभी ज्ञान यथार्थज्ञान ही होते हैं, अतः उनके मत में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य सहजतया सिद्ध हो जाता है। यथार्थ ज्ञान के अप्रामाण्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु स्मृति चूँकि प्रमाणरूपा नहीं होती है अतः उसके अप्रामाण्य की सिद्धि व्यवहार-विसम्वाद के द्वारा होती है। इस प्रकार प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः व अप्रामाण्य की सिद्धि परतः होती है।

---

[51] "तथा हि- न ज्ञानमुत्पन्नमित्येतावताऽर्थतथात्वावधारणं युक्तम्, व्यभिचारादनिश्चयाच्च, अप्रामाण्यमेव तस्यां वेलायां प्राप्तम्। पश्चात् कारणगुणज्ञानात्संवादज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाद्वा प्रामाण्यमवगमादपोद्यते"।
- शास्त्रदीपिका, पृ० ३४.

[52] देखें –

क) बिजल्वान, चक्रधर : *भारतीय न्यायशास्त्र*, पृ० ७९-८६. एवं

ख) Bhatta, G. P.: *The basic ways of knowing,* pp. 109-125.

भाट्ट मत में यद्यपि ज्ञान का ग्रहण परतः माना गया है, परन्तु प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः ही मानी गयी है। भाट्टमीमांसकों का मत है कि प्रमाण अर्थात् यथार्थज्ञान अगृहीतग्राही होता है अर्थात् एक नवीन अन्वेषण होता है, फिर उसकी प्रामाणिकता का परीक्षण किसी ज्ञानान्तर से कैसे किया जा सकता है ? एक बार ज्ञात के पुनरन्वेषण का औचित्य ही नहीं है। अतः ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न व गृहीत होना युक्त है।

वस्तुतः मीमांसकों के ज्ञान के प्रामाण्य के स्वतःसाधन का मुख्य प्रयोजन वेद के प्रामाण्य की रक्षा करना है। हमने पूर्व में चर्चा की है कि मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी वृत्तिकार का मत रखते हुए उद्धृत करते हैं कि प्रमाणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिये, उनमें व्यभिचार नहीं होता। भाष्यकार शबरस्वामी "*चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥*"[53] की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वैदिक वचन कभी अतथाभूत नहीं हो सकते, इनका कभी विपर्यय नहीं होता है।[54]

शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि मीमांसासूत्रकार ने औत्पत्तिकसूत्र[55] में लक्षित किया है कि प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः होता है और कारणदोष या बाधकज्ञान के अवगमन से उसका अप्रामाण्य सिद्ध होता है। इसआधार पर 'अग्निहोत्रं जुह्यात्स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्यों से असन्दिग्ध ज्ञान उत्पन्न होने के कारण इनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है।[56]

मीमांसक मानते हैं कि प्रमाण चूँकि यथार्थ ज्ञान होता है अतः स्वाभाविक रूप से यह अर्थतथात्व से युक्त होता है, इसका अप्रामाण्य तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कि उसका बाधक ज्ञान न उत्पन्न हो जाये या फिर उसके कारण सामग्री में किसी दोष का ज्ञान न हो जाये। अग्निहोत्रादि चोदना का कोई साक्षात् बाधक अर्थात् अर्थान्यथात्वज्ञापक ज्ञान नहीं मिलता है और अपौरुषेय होने के कारण इसमें पुरुषोचित कारण दोष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है।

मीमांसक सांख्यसम्मत प्रामाण्यवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों का स्वतस्त्व मानना असङ्गत है क्योंकि ज्ञान अपने विषय के तथात्व व अतथात्व दोनों का एक साथ बोध नहीं करा सकता, भाव व अभाव होने से दोनों का अत्यन्त विरोध प्रसक्त होता है।[57] नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि जब ज्ञान होता है तो उस समय न गुण का ज्ञान होता है और न ही दोष का। इसके निश्चय के पूर्व तो नैयायिक ज्ञान को प्रमाण नहीं कह सकते और न ही अप्रमाण ही कह सकते हैं, इस प्रकार ज्ञान निःस्वभाव हो जायेगा। अतः नैयायिकों

---

[53] मीमांसासूत्र, १/१/२.

[54] "न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्य्येति, तस्मादवितथः"।
- मीमांसासूत्र शाबर भाष्य, १/१/२, पृ० १२.

[55] मीमांसासूत्र, १/१/५.

[56] "औतपत्तिकसूत्रे तु स्वतःप्रामाण्यम्, अर्थान्यथात्व-कारणदोषज्ञानाभ्यामप्रामाण्यमित्याश्रित्याग्निहोत्रादिचोदनाभ्योऽसंदिग्धज्ञानोत्पत्तेः स्वतः प्रामाण्यं प्राप्तम्। न चापवादकमर्थान्यथात्वज्ञानं साक्षादस्ति। नापि कारणदोषज्ञानम्, पुरुषाश्रयत्वाच्छब्ददोषाणाम्"।
-शास्त्रदीपिका, पृ० २८.

[57] "न हि ज्ञानं स्वविषयस्य तथात्वमतथात्वं च युगपच्छक्नोति वेदयितुम्, विरोधात्"।
- शास्त्रदीपिका, पृ० ३२.

का यह मत, कि ज्ञान के कारण के गुण व दोष के अभिज्ञान से प्रामाण्य व अप्रामाण्य की सिद्धि परतः होती है, स्वीकार्य नहीं है ।[58] पुनः बौद्धों के इस मत का, कि ज्ञान स्वभावतः अप्रमाण होता है तथा उसमें अर्थक्रिया के ज्ञान से अथवा संवादज्ञान से या कारणगुण के ज्ञान से उसके प्रामाण्य की परतः सिद्धि होती है, खण्डन करते हुए शास्त्रदीपिकाकार कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही गृहीत होता है यदि ज्ञान के प्रामाण्य हेतु ज्ञानान्तर की अपेक्षा स्वीकार की जाये तो प्रामाण्य किसी भी ज्ञान में अपनी सत्ता नहीं प्राप्त कर पायेगा क्योंकि वह ज्ञानान्तर भी किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा करेगा। इस प्रकार मूलक्षयकारिणी अनवस्था प्रसक्त होगी और किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा ।[59]

इस प्रकार परमतखण्डनपूर्वक प्रामाण्यविषयक मीमांसासिद्धान्त का उपस्थापन करते हुए मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न व गृहीत होता है और उसका अप्रामाण्य बाधक ज्ञान के उपस्थित होने से अथवा कारणदोष के ज्ञात होने से सिद्ध होता है । स्वभावतः ज्ञान यथार्थरूप ही होता है, उसका प्रामाण्य भाट्टसम्मत प्रमाणलक्षण के बल से स्वतः सिद्ध है परन्तु अपवादस्वरूप कदाचित् ज्ञान के अर्थान्यथात्व का भी बोध होता है । कारण-दोष ज्ञान के प्रामाण्य के उत्पत्ति-स्वतस्त्व का प्रतिबन्धक होता है तथा बाधक ज्ञान प्रामाण्य के ज्ञप्ति-स्वतस्त्व का प्रतिबन्धक होता है । इन दोनों प्रतिबन्धकों के अभाव में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न भी होता है और स्वतः ही गृहीत भी होता है।

23.7 पारिभाषिक शब्दावली

ज्ञान - ज्ञान को सभी व्यवहारों का हेतुरूप कहा गया है – "सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम्" (अन्नंभट्टकृत तर्कसङ्ग्रह) । समस्त मानवीय व्यवहार ज्ञानपूर्वक ही होते हैं, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हम उसी वस्तु का व्यवहार कर सकते हैं जिसका हमें ज्ञान हो।

स्वयंप्रकाशन -प्राभाकर मीमांसक चूँकि ज्ञान का स्वयंप्रकाशन मानते हैं और यह कहते हैं कि सभी ज्ञान अनिवार्यतया ज्ञायमान ही उत्पन्न होते हैं।

प्रवृत्ति साफल्य – नैयायिकों के अनुसार किसी विषय के ज्ञान के साथ ही ज्ञाता में उस ज्ञान से सम्बद्ध एक विशिष्ट प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। यदि कोई ज्ञान इस प्रवृत्ति के पोषण में समर्थ है तथा ज्ञाता की तद्विषयिनी प्रवृत्ति सफल हो जाती है तो उस ज्ञान को प्रवृत्ति साफल्य से युक्त प्रामाणिक ज्ञान माना जा सकता है।

स्वतः प्रामाण्य -ज्ञान के उत्पत्तिगत अर्थात् उत्पत्ति के आधार पर स्वतः प्रामाण्य व स्वतः अप्रामाण्य का तात्पर्य है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी कारण-सामग्री से उसके प्रामाण्य व अप्रामाण्य का भी निर्धारण होता है, अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती।

परतःप्रामाण्य - ज्ञान के उत्पत्तिगत परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य का आशय है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न कारण-सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ज्ञप्ति (बोध) के आधार पर परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य का अर्थ है

---

[58] " एवं हि गुणदोषावधारणात् प्रागन्यतरेणाप्याकारेणार्थमनवगमयद्विज्ञानं निस्स्वभावं स्यात्" ।
- शास्त्रदीपिका, पृ० ३३-३४.

[59] "पराक्षेपं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् ।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ॥
- शास्त्रदीपिका, पृ० ३४-३५.

कि जिस साधन-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे भिन्न सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का ग्रहण होता है।

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य से क्या तात्पर्य है?
2. विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद विषयक अवधारणा को सूचीबद्ध करें।
3. सत्कार्यवाद के सिद्धान्त ने सांख्य-प्रामाण्यवाद को किस प्रकार प्रभावित किया है?
4. न्याय दर्शन में परतः प्रामाण्य की अवधारणा क्यों मानी गयी है?
5. न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है ?
6. बौद्ध दर्शन में अप्रामाण्य का स्वतस्त्व क्यों माना गया है?
7. बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्यवादविषयक अनियमपक्ष को स्पष्ट करें।
8. मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य की समीक्षा कीजिये।

23.9 सारांश

इस प्रकार भारतीय दर्शन में उपर्युक्त चार वर्गीकरणों में प्रामाण्यवाद विषयक मतों का विशद व सम्यक् विवेचन किया गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रत्येक दर्शन व दार्शनिक सम्प्रदाय अपने परिवेश के सापेक्ष ही अपने सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण व पल्लवन करता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा इतनी समृद्ध है, यहाँ चिन्तन का इतना वैविध्य रहा है कि इसमें पूर्वोत्तर पक्षों की एक लम्बी तार्किक श्रृङ्खला का सहजतया निदर्शन होता है। इन दार्शनिक वाद-प्रतिवाद और विवादों से जहाँ एक ओर कतिपय छद्म दार्शनिक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि इन वाद-विवादों से दर्शन का परिष्कार होता है और दार्शनिक सिद्धान्तों की यथारूपता सुनिश्चित होती है। इस प्रकार ये दार्शनिक समस्याएँ भी दार्शनिक प्रविधि को परिपक्व करने में सहायक सिद्ध होती हैं, भरतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद विषयक दार्शनिक समस्या से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचनों को भी इसी सन्दर्भ में समझना चाहिये। इन चतुर्विध सिद्धान्तों के परस्पर पूर्वोत्तर पक्ष में वाद-संवाद से प्रामाण्यवाद विषयक दार्शनिक विवेचना को प्रौढ़ता प्राप्त हुई है।

23.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दार्शनिक विवेचनाएँ - हरिमोहन झा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1975.
2. भारतीय ज्ञानमीमांसा – नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2004.
3. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएण्टेलिया, वाराणसी,1979.
4. भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद - शारदा गांधी, साहित्य भंडार, मेरठ,1988.
5. भारतीय न्यायशास्त्र – चक्रधर बिजल्वान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,. 1998
6. ज्ञानमीमांसा का समीक्षात्मक विवेचन (प्राच्य और पाश्चात्य) - सोहन सिंह तातेड़ एवं विद्यासागर सिंह, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर. ,1988
7. The basic ways of knowing – Govardhan P. Bhatt, Motilal Banarasidas, Delhi, 1989.